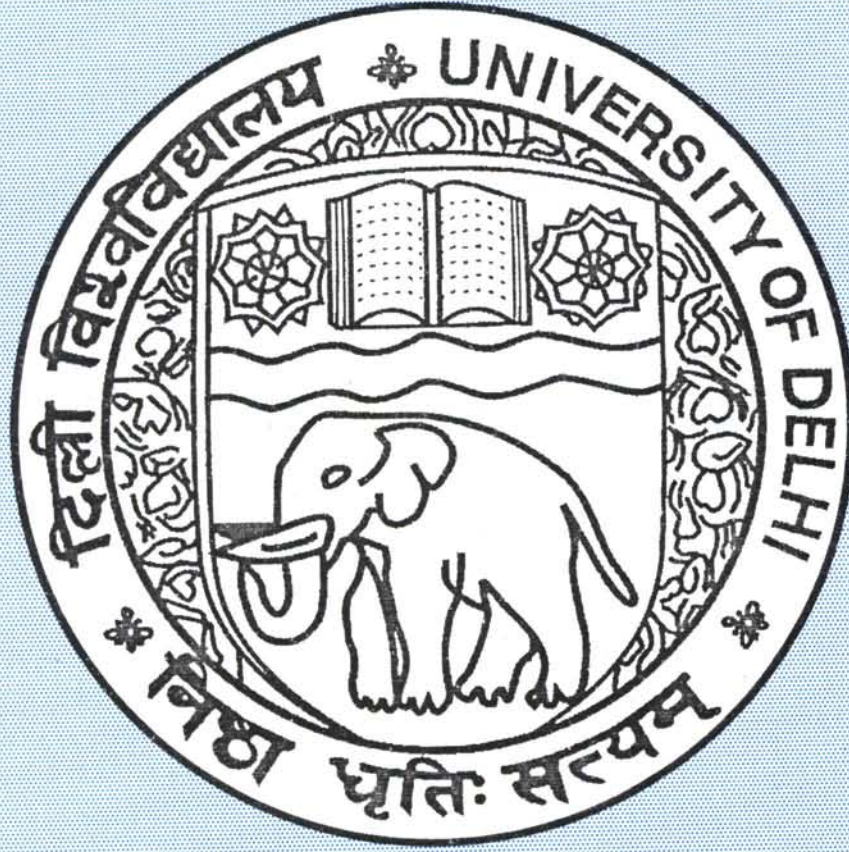


बी.ए. (प्रोग्राम)

द्वितीय वर्ष

फाउंडेशन कोर्स (आधार-पाठ्यक्रम)
भाषा साहित्य तथा संस्कृति
अध्ययन सामग्री : 2(खण्ड1-2)
(साहित्य)



मुक्त शिक्षा विद्यालय

(मुक्त शिक्षा परिसर)

दिल्ली विश्वविद्यालय

विभाग - हिन्दी

सम्पादक : डॉ. दिनेश कुमार गुप्ता

स्नातक पाठ्यक्रम
भाषा साहित्य तथा संस्कृति
अनुक्रम

खण्ड : एक

भारतीय साहित्य पृष्ठ भूमि

1. भाषा और साहित्य का अंत सम्बन्ध
2. वाचक और लिखित साहित्य
3. उर्दू और खड़ी बोली का उद्भव और विकास
4. साहित्य में स्त्री-विमर्श और दलित विमर्श: अभिप्राय और विशेषता

लेखक

- डॉ. अर्चना वर्मा
डॉ. अर्चना वर्मा
डॉ. राजेन्द्र प्रसाद गौतम
डॉ. हर्षबाला शर्मा

खण्ड : दो

भारतीय साहित्य

1. वाल्मीकि रामायण : बालिवध प्रसंग
2. महाभारत : एकलव्य प्रसंग
3. मृच्छकटिक (शूद्रक) (संधिच्छेद नामक तीसरा अंक)
4. वियोग (अमीर खुसरो)
5. (i) स्वतंत्रता का पल्लू (कविता) (ii) पत्र: परलि सु. नैल्लैयप्प
पिल्लै को ((पत्र) सुब्रह्मण्य भारती)
6. स्त्री-पुरुष तुलना : नारी मुक्ति विमर्श (ताराबाई शिंदे)
7. (i) काबुलीवाला (कहानी) (ii) शाहजहाँ (कविता) (रवीन्द्रनाथ टैगोर)
8. शतरंज के खिलाड़ी (प्रेमचंद)
9. राग दरबारी (श्रीलाल शुक्ल)
10. छुईमुई (इस्मत चुगताई)
11. अच्छे की धन्यता (तकषी शिवशंकर पिल्लै)
12. वारिस शाह से! (अमृता प्रीतम)
13. विधवा (गुडिपाटी वेंकट चलम)
14. एक अविस्मरणीय यात्रा (इंदिरा गोस्वामी)
15. जूठन (ओम प्रकाश वाल्मीकि)
16. लोकगीत (सीताकांत महापात्र)

- डॉ. विजया सती
डॉ. विजया सती
डॉ. विजया सती
डॉ. राजेन्द्र प्रसाद गौतम

- डॉ. हर्षबाला शर्मा
डॉ. हर्षबाला शर्मा
डॉ. रेणु अरोड़ा
डॉ. मनोजकुमार सिंह
डॉ. मनोजकुमार सिंह
डॉ. बलवन्त कौर
डॉ. बलवन्त कौर
डॉ. सरला चौधरी
डॉ. हर्षबाला शर्मा
डॉ. रेणु अरोड़ा
डॉ. हर्षबाला शर्मा
डॉ. सरला चौधरी

सम्पादक :

डॉ. दिनेश कुमार गुप्ता



मुक्त शिक्षा विद्यालय

दिल्ली विश्वविद्यालय

5, कैवेलरी लेन, दिल्ली - 110 007

खण्ड : एक
भारतीय साहित्य : पृष्ठभूमि

1. भाषा और साहित्य का अंतःसम्बन्ध

डॉ. अर्चना वर्मा
रीडर, हिंदी-विभाग
मिराण्डा हाउस
दिल्ली विश्वविद्यालय

इस शीर्षक से ऐसा आभास होता है कि भाषा और साहित्य दो अलग-अलग चीजें हैं क्योंकि सम्बन्ध दो अलग-अलग चीजों के बीच में ही खोजा जाता है। लेकिन भाषा और साहित्य के बीच वास्तव में ऐसा है नहीं।

साहित्य भाषा के द्वारा, भाषा में रचा जाता है और भाषा में ही वर्तमान रहता है। ऐसी भाषा तो हो सकती है जो साहित्य न हो लेकिन ऐसा साहित्य नहीं हो सकता जो भाषा न हो। इस विचार-विमर्श से सम्बद्ध जो साहित्य पाठ्यक्रम में संलग्न है वह समस्त भारतीय भाषाओं का है किन्तु इस आलेख में सभी उदाहरण हिन्दी भाषा के ही हैं। इसका कारण यह है कि ये प्रत्यय साहित्य और भाषा के अंतःसम्बन्ध के विषय में हैं और उन गुणों की चर्चा करते हैं जो सभी भाषाओं को साहित्यिक बनाते हैं, इसके अलावा अध्येता सामान्यतः हिन्दीभाषी हैं और अन्य सभी भारतीय भाषाओं को हिन्दी अनुवाद के माध्यम से ही पढ़ रहे हैं। अवधारणाओं और प्रत्ययों को उदाहरण के द्वारा ही समझाया जा सकता है। इसके लिए अनूदित साहित्य की अपेक्षा मौलिक साहित्य की भाषा ही अधिक उपयुक्त है क्योंकि उसमें कवि प्रतिभा के सृजनकौशल को अनुवादक के हस्तक्षेप के बिना, मौलिक रूप में पाया जा सकता है।

भाषा के प्रयोग की एक विशेष विधि को साहित्य कहते हैं। इससे स्पष्ट है कि भाषा के प्रयोग की कोई दूसरी विधि भी है जो विशिष्ट नहीं है। अध्ययन की सुविधा के लिए हम इसे सामान्य भाषा कहेंगे।

(1) निश्चित रूढ़ अर्थों की भाषा

सामान्य भाषा निश्चित स्थिर और रूढ़ अर्थों से बनती है। जीवन के व्यावहारिक प्रयोजन के लिए भाषा का रूढ़ अर्थ ही अनिवार्य है। इस संदर्भ में भाषा को विभिन्न वर्गों में रखकर समझा जा सकता है। इस प्रकार के वर्ग की प्रथम कोटि शास्त्र और विज्ञान की भाषा है। शास्त्रीय तथा वैज्ञानिक विषयों के साथ जुड़े प्रयोगों में जरूरी है कि अर्थ पूरी तरह से रूढ़ अर्थात् निश्चित और निर्धारित हो। इस वर्ग की भाषा में प्रायः पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग होता है। प्रयोगशाला में किसी प्रयोग के दौरान काल की अवधि, चिकित्सा में दवाई की डोज आदि, ऐसे अन्य अनेक संभावित प्रसंगों में वस्तुओं की 'मात्रा' और 'भार' इत्यादि ऐसे अर्थ होते हैं जो जैसे हैं, बस वैसे ही हो सकते हैं। उनमें कहने-समझने के बीच तनिक भी अस्पष्टता और फेर-बदल की गुंजाइश नहीं। जरा-सी भी गलतफहमी गलत निष्कर्षों का या दुर्घटना का कारण बन सकती है। आप समझ गए होंगे कि समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीति, भूगोल, खगोल, जीवशास्त्र, रसायनशास्त्र, भौतिक विज्ञान प्रौद्योगिकी, विधि (कानून का क्षेत्र) आदि सभी शास्त्रों के पास अपनी-अपनी पारिभाषिक शब्दावलियाँ होती हैं। ऐसी निश्चित शब्दावली के बिना उनका काम चलना असंभव है।

सामान्य जीवन में रोजमर्रा का काम-काज भी हम इसी प्रकार की भाषा के सहारे चलाते हैं। सामान्य भाषा का अधिकांश कलेवर निश्चित, स्थिर और रूढ़ अर्थों से ही बना है। यद्यपि ये अर्थ पारिभाषिक शब्दावली की तरह के अतिशय रूढ़ तो नहीं हैं, फिर भी, हाट-बाजार के सिलसिले में किलो, मीटर और लिटर के निश्चित अर्थ किसी के साथ मुलाकात के लिए निश्चित समय कहीं तक पहुंचने के लिए रास्ते का निर्देश, पाकविधि में सामग्री की मात्रा और भार, उठाने-रखने, ले आने-ले जाने के निर्देश इत्यादि की भाषा रूढ़ अर्थों से ही बनती है।

व्यावहारिक प्रयोजन के लिए भाषा का सबसे पहला काम सूचना और संकेत है। इस बात को समझने के लिए कुछ उदाहरणों की सहायता ले सकते हैं—चौराहे पर ‘लाल बत्ती हो गई’ कहने का अर्थ रुक जाने की सूचना है। ‘आसमान बुरी तरह से घिर गया है’ कहने का अर्थ बरसात होगी या तूफान आएगा। इन अर्थों को हम रूढ़ या निश्चित निर्धारित अर्थ मान सकते हैं। इसके पीछे निश्चित ज्ञान और सूचना का निश्चित संप्रेषण है कि लाल बत्ती यातायात का नियंत्रण करती है या जब आसमान बुरी तरह से घिरता है तब बारिश या आँधी आती है। कारण और परिणाम के इस सम्बन्ध से परिचित हर व्यक्ति को इन शब्दों से यही अर्थ मिलेगा।

यह व्यापक और यथातथ्य संप्रेषण के लिए स्पष्ट कथन और निश्चित अर्थ की भाषा है। इसे सामान्य सामुदायिक भाषा भी कहा जा सकता है क्योंकि उस भाषा को बोलने वाले समाज का पूरा जन-समुदाय उसे जानता समझता है।

(2) व्यंजना की भाषा

आप समझ गए हैं कि जीवन का बहुत बड़ा हिस्सा निश्चित और निर्धारित भाषा के द्वारा चलाया जाता है। लेकिन उतना ही बड़ा हिस्सा इसकी हदों के बाहर भी रह जाता है। दूध, तेल, पानी की मात्रा की नाप के लिए ‘लीटर’ या आलू, प्याज के भार के तौल के लिए ‘किलो’ का इस्तेमाल किया जा सकता है। प्रेम, हँसी, उत्साह, विस्मय की मात्रा या क्रोध, भय, घृणा, आँसू के भार और विस्तार को लिटर, मीटर या किलो में नहीं नापा-तौला जा सकता। उसकी अभिव्यक्ति में भाषा के प्रयोग की व्यक्तिगत विशेषताएँ काम करती हैं। जिसने जैसा महसूस किया उसे ठीक वैसा ही बयान करने की कोशिश में वह अपनी भाषा में तरह-तरह की युक्तियों का इस्तेमाल करता है। शेक्सपीयर के नाटक ‘हैमलेट’ में जब ओफीलिया की मृत्यु पर ‘हैमलेट’ कहता है, ‘दुनिया भर के समुद्रों का पानी मिलकर उन आँसुओं के बराबर नहीं होगा जो मेरे हृदय में जमा हैं’ या ‘चालीस हजार भाइयों का प्यार मिलकर उस प्यार के बराबर नहीं होगा जो मैंने ओफिलिया से किया’ तो उसका मतलब यह नहीं है कि उसने दुनियाभर के समुद्रों का पानी नाप लिया है और न यही कि ओफिलिया के सचमुच चालीस हजार भाई थे। इसके द्वारा वह अपने दुख की निरूपमता और अतिशयता को अभिव्यक्त करने की कोशिश कर रहा है।

ऐसी व्यक्तिगत अभिव्यक्ति कभी-कभी सामुदायिक स्वीकृति से रूढ़ि में भी बदल जाती है। एक व्यक्ति द्वारा कही गई बात को पूरा समाज अपना लेता है। वह व्यक्ति प्रायः कवि होता है और उसकी उक्तियों पर पूरा समाज अपने मन की बात को प्रतिच्छवित पाता है। हिन्दीभाषी समाज में तुलसी ऐसे ही कवि हैं। उनके द्वारा रचित ‘समरथ को नहिं दोस गुसाई’ या फिर ‘पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं’ जैसे अन्य अनगिनत दोहे और चौपाइयों के अंश पूरे समाज में कहावतों और मुहावरों की तरह प्रचलित हो गए हैं।

बच्चों को प्यार करते हुए जब माँ उसे मेरा चाँद, मेरा छौना, मेरा बछरू, मेरी जान जैसे शब्द कहती है तो प्रत्यक्ष है कि उसका मतलब अपने बच्चे को धरती का उपग्रह चाँद या हिरन/बकरी/गाय का बच्चा इत्यादि कहना नहीं है। ‘कुत्ते! मैं तेरा खून पी जाऊँगा’ जिससे कहा जा रहा है वह सचमुच का कुत्ता नहीं है। सचमुच के कुत्ते से कोई यह बात नहीं कहेगा और न कुत्ता ही इस बात को समझेगा।

इस तरह की अभिव्यक्तियों का आरम्भ निश्चित और निर्धारित अर्थ के रूप में नहीं हुआ करता लेकिन वे हमारी समझ में उतनी ही आसानी से आ जाती हैं, जैसे कोई निश्चित निर्धारित अर्थ वाली अभिव्यक्ति आती है। हर भाषा में ऐसे मुहावरों का पूरा कोश हुआ करता है जिनके मंतव्य उनके शब्दों से अलग हुआ करते हैं। ‘दिल बल्लियों उछलने लगा’ या ‘दिल बाग़ बाग़ हो गया’ का मतलब यह नहीं है कि दिल को ‘हाई जम्प’ (ऊँची कूद) प्रतियोगिता में शामिल किया जा सकता है और न यही कि वह शाम की सैर के लिए पब्लिक पार्क की जगह पा सकता है। हम जानते हैं कि इन मुहावरों का अर्थ—बहुत खुश हो उठना कहावतें भी इसी कोटि की अभिव्यक्तियाँ हैं। ‘थोथा चना बाजे घना’ का कोई सम्बन्ध चने के लिए कीटाणुनाशक की जरूरत से या ‘अधजल गगरी छलकत जात’ का पनघट से नहीं है। इन कहावतों में खोखले अहंकार पर व्यंग्य है।

(3) रूढ़ अर्थ की भाषा और व्यंजना की भाषा का सम्बन्ध

कहने-सोचने के ये तरीके जब पहली बार इस्तेमाल किए गए होंगे तब इनका अर्थ निश्चित और निर्धारित नहीं रहा होगा। मन को जैसा महसूस हुआ उसे वैसा ही जता पाने की इच्छा से कहने का यह चक्करदार तरीका खोजा गया होगा। भाषाएँ अपने समाजों में अनुभूति और अभिव्यक्ति के बीच अनुकूलता पाकर बार-बार ऐसे प्रयोगों को दोहराकर अपने भीतर इस तरह से पचा लेती हैं कि इनका अर्थ भी स्थिर/निश्चित/रूढ़-सा प्रतीत होने लगता है। जिनके पास अपनी अभिव्यक्ति की निजी भाषा नहीं होती, ये उनके भी मन की बात कहने के काम आती हैं।

रूढ़ होने के पहले इन कथनों में एक ताज़गी और नयापन रहा होगा। अपनी बात को इस तरह कहने के पीछे एक उद्देश्य रहा होगा। वही ताज़गी और वही उद्देश्य साहित्यिक भाषा की रचना सामग्री है। कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास आदि काव्यरूप इसी भाषा में ढलते हैं। इस भाषा को भावात्मक व्यंजना की भाषा कहा जा सकता है।

साहित्य की भाषा तरल, अनिश्चित और अनेकमुखी अर्थों वाली होती है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि उसके अर्थ की कोई दिशा नहीं होती या उसका मनचाहा अर्थ लगाते हुए अनर्थ किया जा सकता है। रचनाकार अपनी भाषा में अर्थ की दिशा का संकेत करता है। वास्तव में सामान्य भाषा और साहित्यिक भाषा के बीच गहरा सम्बन्ध है। दोनों प्रकारों की भाषा का एक ही शब्दकोश और एक ही व्याकरण-व्यवस्था होती है, दोनों एक ही सामग्री के दो प्रकार के संयोजन हैं। संयोजन करने वाली मानसिक शक्ति का नाम कल्पना है। सामान्य भाषा ही विशेष रूप से प्रयोग में आकर साहित्यिक भाषा बन जाती है। इसे रचनात्मक भाषा और काव्यभाषा भी कहते हैं।

साहित्यिक भाषा

सामान्य भाषा के विशेष प्रयोग में 'विशेष' का क्या अर्थ है? यह विशेषता क्या है? कहाँ से आई और इसकी क्या जरूरत है? इन प्रश्नों का सम्बन्ध भाषा के आविष्कार और मनुष्य की बुनियादी मानसिक बनावट तक जाता है।

कहा गया है कि मनुष्य एक सामाजिक जन्तु है। फिर इसमें जोड़ा गया कि मनुष्य एक सोचने वाला जन्तु है। फिलहाल नवीनतम परिभाषा यह है कि मनुष्य एक भाषिक जन्तु है।

तीनों बातें एक दूसरे से जुड़ी हैं। मनुष्य एक भाषिक (बोलने वाला) जन्तु है। इसलिए वह एक सोचने वाला जन्तु है। इसलिए वह एक सामाजिक जन्तु है।

भाषा के द्वारा मनुष्य सिर्फ सोचता ही नहीं, महसूस भी करता है। जो कुछ वह महसूस करता है, उसे वह कहता भी है और ठीक वैसा ही कहना चाहता है, जैसा कि वह महसूस करता है। भाव और अनुभव ऐसी निश्चित और निर्धारित वस्तु नहीं हैं जिसे निश्चित और निर्धारित भाषा के सहारे कहा जा सके। भाव और अनुभव की तीव्रता, आवेग, गहराई, व्यापकता वगैरह सभी कहने की विधि से निर्धारित किया जाता है। भाव के स्वरूप को निर्धारित करने की कोशिश में भाषा स्वयं निर्धारित अर्थ के पार चली जाती है, तरल और अनेकमुखी हो जाती है और ऐसी भाषा से मिलने वाला अर्थ भी अन्ततः निर्धारित नहीं होता। हम अपने दैनिक जीवन के व्यवहार में भी ऐसी भाषा बार-बार प्रयोग में लाते हैं।

सूचना-संकेत की रूढ़ भाषा के उदाहरण की तरह आपने पढ़ा, 'लाल बत्ती हो गई' और 'आसमान बुरी तरह से घिर गया है।' अगर किसी दुखी व्यक्ति की उदास आवाज़ में हम इस संवाद की कल्पना करें—'जब देखो तब, घिरा ही रहता है आसमान। हर चौराहे पर लाल बत्ती मेरी प्रतीक्षा में रहती है' तो यहाँ घिरा हुआ आसमान बरसात के मौसम की और लाल बत्ती रुक जाने की सूचना नहीं देगी; बल्कि निराशा, उदासी, पराजित मनोभाव को अभिव्यक्त करेगी। इसका अर्थ यह है कि कल्पना और निरीक्षण के योग से सूचना-संकेत की भाषा भी भावात्मक व्यंजना की भाषा में बदल दी जाती है।

साहित्य की भाषा का बुनियादी स्वभाव यही है। यहाँ दर्ज करने लायक एक विशेष बात यह है कि वह केवल भाव की भाषा नहीं है, उसमें विचार भी किया जा सकता है। कहने का कौशल भाषा में एक चमक और चमत्कार, उत्पन्न कर देता है। विनोद, परिहास, चुटकी, वक्रता, व्यंजना, सूक्तिपरकता आदि अनेक गुण उसे रोचक और रंजक बनाते हैं। इस भाषा में जो कुछ लिखा जाता है, जरूरी नहीं कि वह केवल कविता, कहानी, नाटक या उपन्यास जैसा कोई साहित्य के नाम से परिचित काव्यरूप हो। पिछले दिनों अंग्रेजी में प्रकाशित कुछ पुस्तकों का उदाहरण दिया जा सकता है।

विश्वप्रसिद्ध अर्थशास्त्री और नोबेल पुरस्कार विजेता अमर्त्य सेन की 'द आर्ग्युमेन्टेटिव इंडियन', पवन के. वर्मा की 'द ग्रेट इंडियन मिडिल क्लास' इत्यादि ऐसी ही पुस्तकें हैं जो शास्त्र और सिद्धान्त से सम्बन्धित हैं लेकिन शास्त्र और सिद्धान्त की भाषा में लिखी नहीं गयीं हैं। उनकी भाषा का स्वभाव साहित्यिक भाषा के अधिक निकट है। उनका भाषा-रूप विचार और चिन्तन से सम्बद्ध हो गया है। उनका पाठक वर्ग विस्तृत हुआ है और वे सामान्य पाठक वर्ग में भी उतनी ही लोकप्रिय हुई हैं।

आदमी के पास एक बाहर की दुनिया है और एक भीतर की दुनिया है। बाहर की दुनिया में ठोस और साकार वस्तुएँ हैं। उन्हें 'रूप' कहा जाता है। मनुष्य ने इन 'रूपों' को नाम देकर उन्हें उनके ठोस, वास्तविक, उपस्थित आकार से अलग कर लिया है। उसके मन में रूप का एक मानसिक आकार अथवा चित्र इस नाम से जुड़ जाता है। जैसे पेड़ नाम की वस्तु। भाषा में हमारा काम वस्तु के बदले नाम से चल जाता है। इसे अमूर्तन कहते हैं। भाषा मूर्त वस्तु को अमूर्त नाम में बदलती है।

भीतर की दुनिया में भावनाएँ और विचार हैं। उनका कोई ठोस आकार नहीं होता, लेकिन आदमी अपने अनुभव से जानता है कि वे मौजूद हैं। भाषा के जरिए एक-दूसरे को बताता भी है कि वह क्या सोचता और महसूस करता है। आदमी ने भावनाओं को भी नाम देकर पहचान के योग्य बना लिया है। भाषा में उसने बाहर की दुनिया और भीतर की दुनिया की हर चीज़ का, हर गति का, हर क्रिया का नामकरण कर लिया है। शायद इसीलिए भाषादर्शन में दुनिया को नामरूपात्मक जगत कहते हैं। दुनिया रूपजगत है, जिसमें ठोस रूपाकार वाली वस्तुएँ रहती हैं। मनुष्य भी उनमें शामिल है। दुनिया नामजगत भी है। क्योंकि भाषा में दुनिया की हर चीज़ किसी नाम से पहचानी जाती है—वे वस्तुएँ जिनका रूप भी है और नाम भी और वे भी जिनका कोई रूप नहीं, केवल नाम है और जिनकी सत्ता केवल भाषा में है अर्थात् भावनाएँ। नामरूपात्मक जगत का अर्थ है वह दुनिया जिसमें रूप या वस्तु नाम में बदल गई है और अरूप या भाव को भी एक नाम के द्वारा रूप में बदल दिया गया है, इस तरह जहाँ नाम ही रूप का स्थानापन्न हो गया है।

सभ्यता के विकास के साथ-साथ मनुष्य बाहर की दुनिया से, वस्तुओं से अधिक-से-अधिक जुड़ता चला गया। उसकी भाषा बाहर की दुनिया के अर्थों के पीछे दौड़ने में अधिक-से-अधिक व्यस्त होती चली गई। इस दौड़ में वह भीतर की दुनिया के भावों की अभिव्यक्ति में उसी अनुपात में असमर्थ भी होती चली गई। लेकिन आदमी के भीतर की दुनिया अभिव्यक्ति माँगती है और उसके दैनिक व्यवहार में तरह-तरह से बोलती भी रहती है। भाषा की साहित्यिक विशेषता का यही मूल उद्गम है। यह भाषा बोलने में भी जब-तब अपने आप प्रकट होती रहती है लेकिन उसमें रचना करना एक सजग सचेत उद्यम की बात है। साहित्य इसी उद्यम का फल है।

साहित्य के अध्ययन और विश्लेषण से विद्वानों ने उन युक्तियों की खोज की है जिनके प्रयोग से भाषा में ये विशेषताएँ आती हैं और उन तत्त्वों पर भी विचार किया है जो इन युक्तियों के इस्तेमाल से साहित्य में उत्पन्न होते हैं।

भाषा में साहित्य की स्थिति को हम देख चुके। स्थिति को पूरा समझने के लिए साहित्य में भाषा की स्थिति को देखना भी जरूरी है। इसके लिए नीचे दिए गए विवेचन को ध्यान से पढ़ें—

साहित्य की भाषा के लक्षण

काव्य की बुनियादी परिभाषा कही जा सकती है—'शब्दार्थोसहितौ काव्यम्'। अर्थात् शब्द और अर्थ सहित काव्य है। यह एक सीधी सरल और साहित्य होने की न्यूनतम शर्तों को प्रकट करने वाली परिभाषा है। इसमें शब्द और अर्थ के 'सहित-भाव' को अर्थात्, साथ-साथ होने को काव्य कहा गया है। इसी 'सहित-भाव' के कारण काव्य का नाम साहित्य भी माना गया।

पूछा जा सकता है कि जब सार्थक भाषा के हर प्रयोग में शब्द और अर्थ साथ-साथ होते हैं, तो इसमें शेष भाषा से अलग और नया क्या है? उत्तर यह है कि काव्य में दोनों का यह 'साथ' (सहित भाव) विशिष्ट रूप से गहन, प्रगाढ़ और अप्रतिम होता है। वागर्थ (वाक्+अर्थ) की सम्पृक्ति को प्रागदता की उपमा की तरह प्रयोग किया जाता है। इस सम्बन्ध को तनिक व्याख्यापूर्वक प्रतिपादित करने वाली अन्य प्रसिद्ध परिभाषाएँ हैं, 'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' और 'वाक्यम् रसात्मकम् काव्यम्।'

पहली परिभाषा के अनुसार अर्थ की विशेषता है—'रमणीय' होना। पढ़ने वाले का मन जिसमें रम जाए वह 'अर्थ' रमणीय है। उस अर्थ का प्रतिपादन करने वाला 'शब्द' ही काव्य कहलाता है। अर्थ की सत्ता शब्द में है। अतः काव्य तो शब्द ही है।

सामान्यतः व्याकरण के अनुसार 'वाक्य' को कर्ता-कर्म-क्रिया के आपसी सम्बन्धों के योग से 'अभिप्राय' की पूरी इकाई समझा जाता है। लेकिन यहाँ दूसरी परिभाषा का 'वाक्यम्' केवल व्याकरणसम्मत परिभाषा का 'वाक्य' नहीं है। वह 'वाक् का' अर्थात् वाणी का पूरा व्यापार है। रस की ओर उन्मुख करनेवाला 'वाक्य' ही काव्य कहलाता है। काव्यशास्त्र में रस और रमणीय अर्थ पर्यायवाची हैं लेकिन आधुनिक काव्य को देखते हुए रमणीय अर्थ को रस की अपेक्षा अधिक व्यापक माना जा सकता है। इसमें उन सभी उपादनों को शामिल माना जा सकता है जिनसे भाषा को साहित्यिक गुणवत्ता मिलती है।

तीनों ही परिभाषाओं में शब्द, शब्दार्थ और वाक्य को काव्य माना गया है। साहित्य की तरफ से भी भाषा ही साहित्य की सत्ता का रूप ग्रहण कर लेती है। कविता शब्द-विधान है। अर्थ की रमणीयता के सभी कारण—रस, अलंकार, छन्द, लय, वक्रता इत्यादि उसकी भाषा के ही गुण हैं और शब्दार्थ के 'सहित-भाव' अथवा संपृक्ति को सामान्य भाषा की तुलना में विशिष्ट बनाते हैं।

इस संपृक्ति के सौंदर्य को समझने के लिए काव्यशास्त्र ने काव्यभाषा के विश्लेषण के सहारे अनेक सिद्धान्त और लक्षण खोज निकाले हैं—

1. अर्थ की अनेक दिशाएँ—(शब्द शक्तियाँ)

काव्यभाषा का प्रमुख लक्षण यह है कि उसके शब्द जितना कहते हैं, उससे कुछ अधिक व्यंजित करते हैं। काव्यभाषा में शब्द और अर्थ का रिश्ता रूढ़ और निर्धारित नहीं होता। वह सन्दर्भ-सापेक्ष होता है। सन्दर्भ काव्यरचना के भीतर होता है। इस सम्बन्ध को पकड़ने और समझने में पाठक की मदद के लिए काव्यशास्त्र में शब्द-शक्ति की अवधारणा मिलती है। शब्द में अपने अर्थ को व्यक्त करने की शक्ति होती है। पाठक में शब्दविधान के लिए निष्ठा हो और वह शब्द का अनुगमन करने को तैयार हो तो शब्द उसे अपने (वास्तविक) अर्थ तक ले जाते हैं।

शब्द से अर्थ तक जाने के रास्ते अनेक हैं। शब्द अपनी शक्ति से पाठक को यह संकेत देता है कि उसे किस रास्ते को पकड़ना है। एक रास्ता सीधा-सरल लगभग रूढ़ हो सकता है, एक तिरछा और चक्करदार रास्ता भी हो सकता है, और एक शब्द से विपरीत दिशा में जाने वाला, बिल्कुल उल्टा रास्ता भी हो सकता है। हर रास्ता शब्द की किसी शक्ति से जुड़ा है। हर शक्ति के पास अपना नाम और अपना काम है। इनके द्वारा होने वाले अर्थबोध को काव्य की व्याख्या की प्रक्रिया के विभिन्न चरणों के रूप में देखा जा सकता है।

(i) पहली शक्ति का नाम 'अभिधा' है। शब्द को सुनते या पढ़ते ही पाठक की समझ के साथ सबसे पहला काम 'अभिधा' करती है। वह पाठक को शब्द के निश्चित-निर्धारित, रूढ़ अर्थ का बोध कराती है। इस अर्थ का नाम अभिधार्थ है। इसे 'वाच्यार्थ' और 'मुख्यार्थ' भी कहते हैं। जिन शब्दों के द्वारा इस अर्थ का बोध होता है वे वाचक शब्द कहलाते हैं। इस बोध के बिना आगे के काम संभव नहीं हैं। यह एक महत्वपूर्ण प्रस्थान-बिन्दु है। अर्थ तक पहुँचने के लिए दूसरे या तीसरे रास्ते पर मुड़ने के पहले यहाँ से शुरू करना जरूरी है। यह प्राथमिक बोध है इसलिए 'अभिधा' को 'प्रथमा' या 'अग्रिमा' शक्ति भी कहते हैं।

(ii) दूसरी शक्ति का नाम 'लक्षणा' है। जब अभिधा से मिलने वाला अर्थबोध समीचीन और उपयुक्त नहीं जान पड़ता तब 'लक्षणा' शक्ति सक्रिय होती है। यह अभिधा के बाद आती है इसलिए इसको 'अभिधापुच्छभूता' भी कहते हैं। इसका मतलब है—अभिधा की पूँछ या दुम बन जाने वाली। 'लक्षणा' शक्ति का काम तब शुरू होता

है जब मुख्यार्थ से काम पूरा नहीं होता। लेकिन अपने काम को शुरू करने के लिए उसको मुख्यार्थ की मदद भी लेनी पड़ती है। 'लक्षणा' से मिलने वाला अर्थ शब्द का सीधा-सरल और रूढ़ अर्थ नहीं है। लेकिन तिरछे या चक्करदार अर्थ तक पहुँचने के लिए उसे मुख्यार्थ के साथ जुड़ना भी पड़ता है, तभी अभिप्रेत (वास्तविक) अर्थ सिद्ध होता है। कथित अर्थ कुछ और होता है और लक्षित अर्थ कुछ और। इसीलिए लक्षणा से मिलने वाले अर्थबोध को 'लक्ष्यार्थ' कहते हैं। जिन शब्दों से यह अर्थबोध सम्भव होता है उन्हें 'लक्षक शब्द' कहते हैं।

ऐसे चक्करदार प्रयोग के पीछे प्रयोजन के रूप में कोई दूसरा अर्थ होता है। बिना प्रयोजन के प्रयोग निरर्थक और निष्फल हो जाएगा। जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, कभी-कभी ऐसा भी होता है कि आरंभ में प्रयोग के पीछे कोई प्रयोजन रहा होता है लेकिन कवि की प्रतिभा से सिद्ध वह प्रयोग धीरे-धीरे पचकर सामान्य भाषा का अंग बन जाता है। वह रूढ़ि में बदल जाता है और निश्चित-निर्धारित अर्थ की तरह, अर्थबोध के प्रथम क्षण में ही मुख्यार्थ बनकर अभिधा के द्वारा ही समझ में आ जाता है। इस प्रकार लक्षणा से मिलने वाला अर्थ तीन अंगों वाला है—पहला अंग मुख्यार्थ की बाधा अथवा असफलता है। दूसरा अंग मुख्यार्थ का योग है। तीसरा अंग कहने के प्रयोजन की पकड़ या फिर रूढ़ि का ज्ञान है। वह प्रयोजन व ज्ञान ही वास्तविक अर्थ की सिद्धि का कारण है।

(iii) तीसरी शक्ति का नाम 'व्यंजना' है। उसके द्वारा प्राप्त अर्थ को 'व्यंग्यार्थ' कहते हैं। व्यंग्यार्थ का बोध कराने वाले शब्द को 'व्यंजक शब्द' कहा जाता है। व्यंजना को विशेष ध्यान के साथ समझने की जरूरत है क्योंकि काव्यार्थ की प्राप्ति में वह विशेष रूप से महत्वपूर्ण है। काव्यशास्त्र में व्यंजना के बारे में कहा गया है कि 'वाचक' और 'लक्षक' शब्दों को भाजन (बर्तन अथवा पात्र) समझें तो 'व्यंजक' को जल जानिए। बर्तन तो पानी के बिना लाया जा सकता है लेकिन पानी बर्तन के बिना नहीं आता।

अर्थात् व्यंजना का रास्ता अभिधा और लक्षणा के रास्ते पार कर चुकने के बाद आता है। इन दोनों प्रकार के अर्थों के बाद, उनसे अलग और अतिरिक्त एक तीसरा अर्थ गूँजता रह जाता है। वही 'व्यंग्यार्थ' है। वही उत्कृष्ट काव्यार्थ भी है। उत्कृष्ट काव्यार्थ सीधे सपाट शब्दों में कहा नहीं जाता, व्यंजित होता है। व्यंजना का अर्थ शत-प्रतिशत सन्दर्भ-सापेक्ष होता है। सन्दर्भ के बाहर वही शब्द अपना व्यंग्यार्थ खो बैठते हैं। प्रसिद्ध उदाहरण महाभारत का है। कथा है कि पाण्डवों की राजधानी इन्द्रप्रस्थ के प्रवेश-उत्सव में दुर्योधन यह देखकर चकरा गया कि निर्माणकौशल के कारण जहाँ पानी दिखाई दे रहा था वहाँ दर-अस्ल धरती थी। जहाँ उसने धरती समझकर पाँव रखा वहाँ पानी था और वह गड़ाप से पानी में जा गिरा। द्रौपदी देखकर हँसी। व्यास के संस्कृत महाभारत में उसने कहा, "आह, आह धार्तराष्ट्र!" (अरे-अरे धृतराष्ट्र के बेटे) संस्कृत में इस प्रकार से माता-पिता के नाम के आधार पर संतान के नामकरण की रूढ़ि रही है। पाण्डवों के लिए पार्थ और कौन्तेय जैसे नाम इसी का उदाहरण है। अन्य किसी प्रसंग में यह केवल एक सरल सम्बोधन होता। लेकिन दुर्योधन मूर्ख बनकर गिरा था और द्रौपदी हँसी थी। इस सम्बोधन का अर्थ दुर्योधन के लिए बन गया—'अन्धे का बेटा'। महाभारत के हिन्दी अनुवादों में इस सम्बोधन को 'अन्धे का बेटा अन्धा' की तरह लिखा गया है क्योंकि हिंदी में नामकरण का यह तरीका प्रसिद्ध नहीं है इसका व्यंग्यार्थ असिद्ध भी रह सकता है। संस्कृत के भी किसी-किसी संस्करण में 'अन्धानाम् अन्धैव' अर्थात् 'अन्धों के अन्धे ही होते हैं' मिलता है। शायद उनके पाण्डुलिपिकार ने अर्थ को सरल और ग्राह्य बनाने के लिए मूल में संशोधन कर दिया। आज के जमाने तक टाइपिस्ट इस तरह के संशोधन कर दिया करते हैं। यह इसका व्यंग्यार्थ है। द्रौपदी का अभिप्राय भी यही था और यही दुर्योधन ने भी समझा था। नतीजा महाभारत।

1. अभिधा और लक्षणा के सामान्य अर्थ को व्यंजना और व्यंग्यार्थ तक पहुँचा देने में अर्थ को बदल देने वाली दस बातें गिनाई गई हैं—(1) वक्ता अर्थात् कौन कह रहा है (2) श्रोता अर्थात् किससे कह रहा है (3) कण्ठध्वनि अर्थात् किस स्वर में कह रहा है (4) चेष्टा अर्थात् किस हाव-भाव के साथ कह रहा है (5) वाक्य अर्थात् पूरे कथन में ही व्यंग्यार्थ समाया हुआ है, केवल कोई एक विशेष शब्द व्यंजक नहीं है। (6) वाच्य अर्थात् कर्मवाच्य अथवा कर्तृवाच्य के साभिप्राय प्रयोग के कारण भी व्यंग्यार्थ उत्पन्न हो सकता है। (7) किसी तीसरे की मौजूदगी अर्थात् एक से कहकर दूसरे को सुनाने के पीछे भी व्यंग्यार्थ की सिद्धि सम्भव है। (8) प्रस्ताव अथवा प्रकरण का अर्थ है कि किस संदर्भ में बात कही जा रही है (9) देश अर्थात् किस जगह पर कहा जा रहा है (10) काल अर्थात् किस समय पर कहा जा रहा है।

संख्या में ये दस बातें व्यंग्यार्थ को ग्रहण करने में सहायक हो सकती हैं। लेकिन यह कोई अन्तिम सीमा नहीं है। कवि की प्रतिभा और पाठक की समझ के अनुसार इनकी विविधता अनन्त हो सकती है। प्रमुख बात व्यंजना के सौन्दर्य को पकड़ पाने की क्षमता और प्रक्रिया है, जो कविता को हमारे लिए मूल्यवान बनाती है, कारणों और परिणामों की गिनती नहीं।

व्यंग्य को प्रायः तानाकशी, प्रहार, टेढ़ी बात जैसी रचना समझा जाता है। भारतीय भाषाओं में यह अर्थ अंग्रेजी साहित्य के 'सटायर' (SATIRE) के अनुवाद की तरह आया है और व्यंग्य-लेखन की अलग कोटि ही बन गई है। भारतीय काव्यशास्त्र में व्यंग्य का अर्थ यह नहीं है। वाच्यार्थ कथित होता है, लक्ष्यार्थ लक्षित होता है, व्यंग्यार्थ व्यंजित होता है। वाचक शब्द अपने निश्चित निर्धारित अर्थ को सीधे कहता है। लक्षक शब्द का लक्ष्य निश्चित निर्धारित रूढ़ अर्थ से अलग किसी अर्थ को संप्रेषित करना है। इस अर्थ की सिद्धि वाचक शब्द की मदद से ही होती है। व्यंजक शब्द अपने अर्थ को वाचक, लक्षक शब्दों के माध्यम से कही जा चुकी बात में ही व्यंजित करता है लेकिन उसका अर्थ वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ से अलग और स्वतन्त्र कोई तीसरा अर्थ होता है। एक तरह के प्रयोग में जो शब्द वाचक होता है वही किसी दूसरी तरह के प्रयोग में लक्षक और तीसरी तरह के प्रयोग में व्यंजक हो सकता है।

व्यंग्यार्थ को 'प्रतीयमान' अर्थ भी कहते हैं। काव्यशास्त्र में प्रतीयमान अर्थ की महिमा बहुत अधिक मानी गई है। उसे ही वास्तविक काव्यार्थ कहा गया है। प्रतीयमान अर्थ के सौन्दर्य को परिभाषा की पकड़ के परे माना गया है। कहा गया है कि महाकवियों की वाणी में प्रतीयमान अर्थ 'कोई और ही चीज़' है; वैसे ही जैसे सुन्दर स्त्रियों में 'लावण्य' नेत्र आदि अंगों से अतिरिक्त कोई अन्य ही वस्तु होती है।

व्यंजना दो प्रकार की होती है—'अभिधामूला' और 'लक्षणामूला'। व्यंग्यार्थ जब अभिधा से निकलता है तब अभिधामूला और जब लक्षणा से निकलता है तब लक्षणामूला व्यंजना होती है। शायद इस बात में कोई विरोधाभास महसूस हो। अभिधा को निश्चित और निर्धारित अर्थ वाली रूढ़ भाषा कहा गया है। काव्यभाषा को तरल और भावोन्मुखी भाषा कहा गया है। काव्यभाषा के रूप में अभिधा को देख पाने में थोड़ी अड़चन महसूस हो सकती है। लेकिन वास्तव में ऐसा है नहीं। काव्यशास्त्र में यह भी एक मत है कि 'अभिधा उत्तम काव्य है।'

काव्यभाषा के रूप में अभिधा वाच्यार्थ की हदों के भीतर तक रहते हुए भी केवल शब्दार्थ तक सीमित नहीं रहती, वह पाठक को भावार्थ तक ले जाती है। यहाँ कोई वाक्पटुता और विदग्धता का चमत्कार भले ही नहीं दिखाई देता, सीधी और सरल अभिव्यक्ति में भावसौन्दर्य व्यंजित होता है और प्रभावशाली भी बन पड़ता है। उदाहरण के लिए मैथिलीशरण गुप्त की 'यशोधरा' का सिद्धार्थ के प्रस्थान के बाद यह कथन—'सखि, वे मुझसे कह कर जाते' अपने सरल भाव-सौन्दर्य के लिए उद्धरणीय बन चुका है। शब्दार्थ के अनुसार अभिधा कुल इतना कहती है कि सिद्धार्थ बिना कहे चले गए हैं लेकिन व्यंजना के योग से उत्पन्न काव्यार्थ में यशोधरा के मन में सिद्धार्थ का विश्वासपात्र न बन पाने की अपनी असफलता, अभिमान, निराशा, अपमान और दुख की व्यंजनाएँ घुल गई हैं। इसी प्रकार लक्षणा का निम्नलिखित उदाहरण है—

1. घर गंगा पर, मन गंगाधर, गंग लहर पर भंग लहर

अभिधा के अनुसार इस कविता का अर्थ होगा, घर गंगा पर है, मन गंगा को धारण करने वाला है, गंगा की लहर पर लहर टूटती है।

जलधारा पर घर नहीं बन सकता तो 'गंगा पर घर' का क्या मतलब? मन में नदी कैसे धारण की जा सकती है? यहाँ मुख्यार्थ या वाच्यार्थ बाधित है, क्योंकि रूढ़ दृष्टि से एक अस्वाभाविक और असंभव बात कहता है। मुख्यार्थ के योग

से प्राप्त होने वाला अर्थ है—गंगा के अतिशय निकट। मन भी इसलिए गंगाधर है कि गंगा का बिम्ब, गंगा की स्मृति वहाँ उपस्थित है। यह लक्षणा से मिलने वाला अर्थ है। इसके अलावा भी एक अर्थ की गूँज-अनुगूँज शेष रहती है। गंगा की अतिशय निकटता—गंगा पर घर—में एक पवित्रता, शीतलता, शान्ति और प्रवाह का भाव है। यह गंगाधर का, शिव का घर है शिव जो कालप्रवाह में लहर पर टूटती लहर के देवता हैं, स्वयं काल हैं। गंगाधर का घर गंगा पर हो, मन में गंगा का बिम्ब हो, उस बिम्ब में लहर पर टूटती लहर का दृश्य हो यह किसी शब्द विशेष से नहीं, पूरे वाक्य से अनुगुंजित होने वाला भाव है। यह एक सांस्कृतिक स्मृति है अन्यथा आज की प्रदूषित गंगा को देखते हुए इस कविता को लाक्षणिक अर्थ—निकटता—तक ही ले जाया जा सकता है। यह भावार्थ ही इस लक्षणा को सार्थक बनाने वाला प्रयोजन है। लक्षणा के प्रयोजन की सिद्धि व्यंजना के योग से ही होती है।

कुछ और उदाहरणों से यह बात पूरी तरह स्पष्ट हो जाएगी—

1. धोबी का प्यारा पशु गदहा, घास हरी वह खाता है
मस्त चरा हो, पेट भरा हो, ढेंचू ढेंचू गाता है।
2. अजब गधे हो यार,
आज भी गाते हो सत्यमेव जयते,
मानते हो, जीतेगा अन्ततः सत्य ही।
3. मूत्रसिंचित
मृत्तिका के वृत्त में है बँधा
धैर्यधन गधा।

उल्लिखित तीनों उदाहरणों में एक ही शब्द 'गधा' तीन प्रयोगों में तीन प्रकार के शब्द और तीन प्रकार के अर्थ देता है। इन उदाहरणों से तीनों शब्दशक्तियों को भाषा की तीन रीतियों अथवा कार्यपद्धतियों की तरह देखा जा सकता है।

पहला उदाहरण 'अभिधा' का है। इसमें 'गदहा' वाचक शब्द है, जिसका अर्थ पशु गदहा है। दूसरे उदाहरण में 'गधे' को 'लक्षक शब्द' और तात्पर्य को लक्ष्यार्थ की श्रेणी प्राप्त होती है क्योंकि स्पष्टतः इसका सम्बोधन पशु के लिए नहीं, किसी व्यक्ति के लिए है। इसलिए मुख्यार्थ में बाधा पड़ती है। गधा अपने सीधेपन और मूर्खता के लिए प्रसिद्ध है। आज के जमाने में सत्य के लिए ऐसा आग्रह सीधेपन और मूर्खता का प्रतीक है इसलिए 'गधे' का लक्ष्यार्थ सीधापन और मूर्खता है। वर्तमान युग में कोई सीधा और मूर्ख मनुष्य ही 'सत्यमेव जयते में विश्वास करता' है इसका प्रयोजन वर्तमान में व्याप्त कुटिलता को रेखांकित करना है। यहाँ आकर गधे को व्यंजक शब्द में परिवर्तित होते हुए देखा जा सकता है। तीसरे उदाहरण में गधा अपने ही मूत्र से सिंचित मिट्टी के घेरे में बँधा है। कवि ने उसे 'धैर्यधन' की उपाधि प्रदान की है—'धैर्यधन गधा' यहाँ व्यंजक शब्द की कोटि में आता है और व्यंग्यार्थ अभिधा लक्षणा को पार करके समूचे वाक्य में गूँज-अनुगूँज में फैलता चला जाता है। परिवर्तन और विकास के लिए यथास्थिति के प्रति असहिष्णुता और अधीरता जरूरी है। गधे के पास उसी का अभाव है। धैर्य को गुण समझने की सनातन सीख यहाँ काम नहीं आती। गुण, दुर्गुण में बदल गया है। मुख्यार्थ की बाधा से लक्षणा का अर्थ मिलता है और लक्षणा के प्रयोजन को हम व्यंजना से पाते हैं।

स्पष्टतः काव्यार्थ की सिद्धि में, अभिधा हो या लक्षणा, व्यंजना का योग आवश्यक है क्योंकि काव्यार्थ प्रतीयमान है, व्यंजित होता है।

संक्षेप में, स्मरण रखने योग्य बातें

1. साहित्य का अस्तित्व भाषा में होता है।
2. भाषा के प्रयोग की विशेष विधि भाषा को साहित्यिक बनाती है। इस विधि में रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करने वाले शब्दों का प्रयोग होता है। इस विधि से वाक् अथवा भाषा रसात्मक बनती है।
3. रमणीय अर्थ का सृजन रस, छन्द और अलंकार के योग से होता है।
4. आधुनिक काल में गद्य भी साहित्यिक भाषा की तरह प्रतिष्ठित हो चुका है। छन्द को छोड़कर उसमें अनुभवपरकता, मूर्तिमत्ता, रोचकता, रसमयता आदि शेष वही गुण हैं जो कविता को रचना की भाषा की तरह परिभाषित करते हैं।
5. साहित्य की भाषा में शब्द की तीन शक्तियाँ—अभिधा, लक्षण और व्यंजना का विशेष महत्त्व है।
6. अभिधा, लक्षण और व्यंजना शब्द शक्तियों की पहचान और समझ न केवल प्राचीन साहित्य के भाव सौंदर्य को उत्पन्न करती है बल्कि आधुनिक काल के अधुनातन काव्य और गद्य के भाव और विचार सौंदर्य को उद्घाटित करने में समर्थ हैं।

सम्भावित प्रश्न :

1. 'भाषा' और 'साहित्य' शब्दों का अर्थ स्पष्ट करते हुए दोनों के अंतः संबंध का विवेचन कीजिए।
2. सामान्य भाषा और साहित्य की भाषा को विशेषताओं का उदाहरण देकर स्पष्ट कीजिए।
3. साहित्यिक भाषा की परिभाषा देते हुए इसके उपादानों का उल्लेख कीजिए।
4. अभिधा शब्द शक्ति और लक्षणा शब्द शक्ति का अंतर स्पष्ट कीजिए।
5. व्यंजना शब्द शक्ति का परिचय देते हुए साहित्य में इसकी उपयोगिता पर टिप्पणी लिखिए।

2. वाचिक और लिखित साहित्य

डॉ. अर्चना वर्मा

वाचिक और लिखित साहित्य का अन्तर मूलतः उच्चरित भाषा और लिखित भाषा का अन्तर है।

वाचिक साहित्य

प्रायः औद्योगीकरण के पहले के समाजों में, मुद्रण कला के यांत्रिक-औद्योगिक आविष्कार के पहले वाचिक परंपरा में वाचिक साहित्य संचित सुरक्षित और प्रचलित मिलता है। हस्तलिखित और हस्तमुद्रित प्रतिलिपियाँ दुर्लभ और बहुमूल्य थीं। स्वाभाविक था कि पाठ-पठन-वाचन-अध्यापन इत्यादि कर्म स्वतन्त्र व्यवसायों के रूप में विकसित हों। उनके विशेषज्ञों के पास पांडुलिपियों का संचय रहता था लेकिन उनको सुरक्षित रखने के लिए उनका इस्तेमाल कम होता था। इसलिए लेख को कण्ठस्थ करने की परम्परा पड़ी। स्मरण की सुविधा के लिए छन्द अनिवार्य हुआ।

अतः वाचिक साहित्य का पहला लक्षण छन्दबद्धता या फिर गेयता है। यह विशेषता भक्तिकाल के साहित्य तक चलती चली आई है। सूर, तुलसी मीरा, कबीर सभी की रचनाएँ गेय हैं और आज तक भी गायी जाती हैं। निर्गुण हो या सगुण, प्रबन्ध हो या मुक्तक, वाचिक परम्परा का काव्य प्राथमिक रूप से पद्यबद्ध गेय काव्य है।

वाचिक परम्परा में गद्य साहित्य का स्थान भी होता था। इसका रूप मूलतः कथात्मक होता है। कथावाचन या किस्सागोई आधुनिक काल के पहले तक एक सुविकसित कला थी। उसका एक रूप धर्म और दर्शन के सिद्धान्तों को रोचक और सहजग्राह्य बनाने वाली दृष्टान्तकथाओं में दिखता है और दूसरा विशुद्ध मनोरंजन के लिए रचित दास्तानों [कथा प्रसंगों] में। मनोरंजन भी जीवन के बारे में कोई-न-कोई नैतिक उपदेश देता था।

वाचिक परंपरा के साहित्य की रचना में पीढ़ी-दर-पीढ़ी परम्परा का योगदान होता है। उसके प्रामाणिक रचनाकारों का नाम या तो मिलता ही नहीं, या फिर मिलता भी है तो कहना मुश्किल है कि उस नाम से प्रचलित साहित्य में से कितना उसका अपना प्रामाणिक सृजन है और कितना उसके भक्तों, प्रशंसकों और वाचकों ने खुद रचकर मिला दिया है। वेदों को छोड़कर वाचिक-परम्परा में उपलब्ध लगभग समस्त साहित्य में पाठभेद है, सभी के अनेक पाठान्तर हैं। पाठालोचन नाम का एक विज्ञान है जिसकी मदद से अनेक पांडुलिपियों की तुलना से प्रामाणिक पाठ को निश्चित करने का प्रयास होता है।

वाचिक साहित्य का कोई निश्चित लेखक न होने के बावजूद एक वाचक/वक्ता होता है। वह एक-अकेले श्रोता को प्रायः सम्बोधित नहीं करता। उसे ग्रहण करने वाला पूरा एक श्रोता समुदाय होता है। वक्ता और श्रोता के बीच उच्चरित भाषा ही माध्यम का काम करती है। उच्चरित भाषा में वाचक/वक्ता के स्वर का उतार-चढ़ाव, मुद्राएँ और शारीरिक हाव-भाव भी शामिल होते हैं। पाठ-प्रस्तुति अपने आप में एक कला है जिसमें वाचिक अभिनय का पूरा-पूरा और आंगिक अभिनय का आंशिक योग होता है। 'पड़' (राजस्थान) और 'पण्डवानी' (मध्यप्रदेश) जैसे लोक कलारूपों का सम्बन्ध पाठ-प्रस्तुति से ही है।

पाठ-प्रस्तोता अपने श्रोता समुदाय की नब्ज पहचानता है। श्रोता समुदाय की भावोत्तेजना उसका उद्देश्य है। इसलिए वह सरस भावोत्तेजक प्रसंगों का विस्तार करता है और नीरस किन्तु आवश्यक प्रसंगों को सूच्य बनाकर समेट देता है। मूल विषयवस्तु अथवा विचार और उपदेश को संक्षिप्त सूत्रों में कहकर उदाहरणस्वरूप कहानियाँ सुनाता है और कहानियों में से कहानियाँ निकालकर, दृष्टान्तों में से दृष्टान्त लपेटकर सरसता का विस्तार करता है। प्राचीन महाकाव्यों, मिथकों, पुराणों का साहित्य रूप इसी तर्क से निर्मित और विकसित हुआ है। रामायण, महाभारत, रामचरितमानस आदि में कोई भी इसका अपवाद नहीं है।

श्रोता समुदाय के ध्यान को बाँधे रखने के लिए **भावोत्तेजना का सहारा** लिया जाता है। भावोत्तेजना श्रोता की तर्कबुद्धि को शिथिल और विवादक्षमता को निष्क्रिय बनाती है। वह बिना किसी बहस के वाचक अथवा वक्ता के प्रस्तुति-कौशल के सामने **तन्मय और समर्पित** होता जाता है। तन्मयता में वह प्रश्न पूछना भूल जाता है। यह एक **सामूहिक संप्रेषण और सामूहिक भावोत्तेजन** होता है जो एक वातावरण का निर्माण करता है। व्यक्ति श्रोता के भाव को समूह श्रोता के भाव से बल अपेक्षाकृत अधिक मिलता है। प्राक्-औद्योगिक समाजों में वाचिक-परम्परा के साहित्य ने वाचक के प्रस्तुति-कौशल और प्रत्यक्ष सम्पर्क के सहारे संचार की भूमिका **निभाई थी**। इस तरह उन समाजों में संस्कार का, आज की मनोवैज्ञानिक शब्दावली में कहें तो सामूहिक-अवचेतन का निर्माण हुआ। इसी परम्परा के अवशेष की तरह आज प्राचीन महाकाव्यों, उपनिषदों, पुराणों, अनेक लोककथाओं इत्यादि को अपने देश के विभिन्न भाषा-भाषी समाजों में स्थानीय विविधताओं के साथ एक सामान्य थाती (सम्पत्ति विरासत) के रूप में देखा जा सकता है।

उच्चरित भाषा में वक्ता-श्रोता-सम्बन्ध में वाचक अथवा वक्ता के पास आधिकारिक पद होता है और श्रोता केवल एक अधिकृत समर्पित ग्रहीता की हैसियत रखता है। वाचक अथवा वक्ता पिछली पीढ़ी और अगली पीढ़ी के बीच कड़ी का काम करके वाचिक साहित्य की परम्परा की रचना में अपनी भूमिका निभाता है। परम्परा में एक सतत, अविरल, निरन्तरता के प्रवाह का भाव रहता है। इससे सनातन मूल्यों की अवधारणा का जन्म होता है। बार-बार के निवेदन से इस धारणा को सुदृढ़ता मिलती है इसलिए वाचिक-परंपरा के अधीन समाजों में ऐसे नियमित पर्वों, उत्सवों का विधान भी होता है जो अपने-अपने मान्य ग्रन्थों के सामूहिक पाठ की व्यवस्था का अवसर होते हैं।

लिखित साहित्य

लिखित साहित्य का विधिवत आरंभ औद्योगिक स्तर पर मुद्रण और पुस्तक के उत्पादन के साथ माना जा सकता है। वाचिक परम्परा का साहित्य भी रचना-प्रक्रिया के स्तर पर लिखित ही होता है, लेखक स्वयं तो उसे लिखकर ही रचता है, या फिर रचकर लिखता ही है। लिखने से ही शब्दविधान स्थिर, निश्चित और अपरिवर्तनीय बनता है और रचना अपनी पहचान पाती है। उसे वाचिक परम्परा का साहित्य कहने का अर्थ यह है कि उसका उपभोक्ता पाठक नहीं, श्रोता है और वह उसे उच्चरित भाषा के रूप में ग्रहण करता है। औद्योगिक स्तर पर मुद्रण और पुस्तक-उत्पादन के परिणामस्वरूप श्रोता समुदाय का रूपान्तर होता है वह पाठक समुदाय में बदलता है। निजी उपभोक्ता को पुस्तक सुलभ होने के कारण अब सामुदायिक पाठ-प्रस्तुति की अनिवार्यता नहीं रह जाती। पाठक के पास अब अपने एकान्त में पुस्तक-सुलभता की सुविधा है।

पाठक और पुस्तक के बीच का एकान्त लेखन पर भी कुछ निर्णायक प्रभाव डालता है और पठन पर भी।

लिखित साहित्य के अंतर्गत सर्वप्रथम गद्य विधाओं का जन्म हुआ। किस्से कहानी से भिन्न अन्य अनेक विधाओं का धीरे-धीरे आगमन होता है। किस्सा-कहानी भी कथावाचन और किस्सागोई से भिन्न कथारूपों में विकसित होते हैं। हर विधा का अनेक रूपों और प्रकारों में प्रसार होता है। निबन्ध जैसी विधा सूक्ष्म, अमूर्त आलोचनात्मक चिन्तन का विकास करती है। आलोचनात्मक मूल्यांकन की कसौटियाँ काव्यशास्त्र का स्थान ले लेती हैं। कविता के लिए भी छन्द और गेयता अनिवार्य नहीं रह जाती। गद्य की भाषा मँजते-मँजते कविता की भाषा के निकट पहुँच जाती है। एक आन्तरिक लय का प्रवाह इस गद्य को कविता बनाता है।

लेखन की तरह पढ़ना भी बदल जाता है। वाचिक की मनोरंजक व लोकसाहित्य परंपरा को छोड़ दिया जाए तो वाचिक परम्परा में शब्द संचित, सुरक्षित और परम्परागत होता है। उसके लेखक का नाम मालूम नहीं रहता। उसमें एक 'अपौरुषेय उपस्थिति' का आभास रहता है। उसके पास 'आर्षवाक्य प्रमाणम्' की सत्ता रहती है। उसके लिए श्रोता के मन में प्रश्न नहीं उठता।

पाठक की स्थिति श्रोता से भिन्न है। वह अपनी पठित पुस्तक के लेखक का नाम जानता है, उसे अपने जैसे जीते-जागते सामान्य मनुष्य की तरह पहचानता है, उससे असहमत होने का साहस कर सकता है।

श्रोता की तरह वह केवल भावोत्तेजना को समर्पित नहीं होता। उसके पढ़ने में सूक्ष्मता और आलोचना-दृष्टि उत्पन्न होती है। इसका कारण यह है कि श्रोता को केवल ध्यान की एकाग्रता पर निर्भर करना पड़ता था, पाठक पृष्ठ को आगे-पीछे उलटकर दुबारा पढ़ और समझ सकता है, नोट्स ले सकता है, सोच-विचार कर अपनी अवधारणा

निर्मित कर सकता है। लेखक स्वयं भी आर्षवाक्य से असहमति में अपनी रचना का विधान कर सकता है। वस्तुतः लिखित शब्द और उसके औद्योगिक उत्पादन से समाज में सार्वजनिक विमर्श का रूप और संस्कृति बदल जाती है।

वाचिक परम्परा के मनोरंजनप्रधान साहित्य में शब्द की स्थिति तरल और परिवर्तनीय होती है, वाचकों की भिन्नता और बहुलता अपने-अपने श्रोता समुदाय की रुचि के अनुसार उसमें जोड़ती-घटाती रहती है। लिखित साहित्य में ऐसी तरलता नहीं होती। उसमें परिवर्तन का अधिकार केवल लेखक को होता है।

वाचिक साहित्य का शब्दविधान श्रवण की सीमाओं से प्रतिबंधित होता है। एक बार सुनकर समझ आ जाने लायक भाषा का शब्दचयन, वाक्यविन्यास सरल होता है। श्रोता को बाँधे रखने के लिए उसमें घटनाबहुलता, नाटकीयता और कौतूहल की प्रधानता होती है। लिखित साहित्य का स्वभाव इससे भिन्न होता है। उसमें अनुभूति की जटिलता, अर्थ की परतें और विचार की सूक्ष्मता, अमूर्तन और गहराईयों का समावेश होता है। आधुनिक काल में साहित्य ने मुद्रण-प्रकाशन के द्वारा ये अनेक विशेषताएँ अर्जित की हैं।

जन-संचार के युग में वाचिक और लिखित साहित्य

संचार माध्यम के रूप में रेडियो और टी.वी. की व्यापक प्रतिष्ठा ने एकबार फिर वाचिक-लिखित साहित्य के संदर्भों को बदल दिया है। किताबों की संख्या में कोई कमी नहीं, पाठक भी शायद पहले की अपेक्षा बढ़ ही रहे होंगे लेकिन उच्चरित शब्द का वर्चस्व भी एक बार फिर ज्यादा बढ़े पैमाने पर और कुछ अन्तर के साथ स्थापित हो रहा है।

संचार माध्यम पर उच्चरित शब्द की कोई पवित्रता नहीं होती। वह बोलते ही हवा में उड़ जाता है। रामायण, महाभारत जैसे आख्यान अनेक चैनलों पर अनेक बार प्रसारित होते रहते हैं, लेकिन उनका केवल आख्यान अंश ही ग्रहण किया जाता है, भाषा नहीं।

सूचना-समाचार और मनोरंजन सम्बन्धी कार्यक्रमों के द्वारा हाट-बाजार की भाषा को प्रतिष्ठित कर दिया गया है। दृश्य-श्रव्य संचार के संभावित उपभोक्ता बाजार में अनपढ़ और कमपढ़ से लेकर उच्चशिक्षित श्रोता और दर्शक तक सभी शामिल हैं। इस बाजार के दायरे में बृहत्तम समुदाय को शामिल करने के लिए एक सर्वग्राह्य भाषा को संचार की भाषा बनाया जाता है। बल्कि यह कहना उचित होगा कि संचार की भाषा बनने के बाद वह सर्वग्राह्य भाषा बन जाती है। टी.वी. इस सर्वग्राह्य भाषा के रूप में हिन्दी-अंग्रेजी के योग से रचित एक संकर अथवा मिश्रित भाषा को प्रतिष्ठित कर रहा है। इसे कई दशक पहले प्रसिद्ध समाजवादी नेता डॉ. राममनोहर लोहिया ने 'हिंगलिश' नाम दिया था। टी.वी. चैनल्स का तर्क यह है कि यह युवा समुदाय की भाषा है। इस प्रकार के चुनाव का कारण टी.आर.पी (रेटिंग परसेंट) की प्राथमिकता भले ही हो, अन्ततः उनका प्रभाव भाषा के स्वरूप और उसकी स्वीकृति पर पड़ता है। 'हिंगलिश' पिछले कई दशकों से प्रचलन में रही है, जैसा कि डॉ. लोहिया लक्षित कर चुके थे लेकिन अभी तक उसे मानक भाषा का स्थान नहीं मिला है। लिखित भाषा के रूप में अब भी उसे मानक पद नहीं मिला है लेकिन घुसपैठ आरंभ हो गई है।

'हिंगलिश' के पास अपनी अलग लिपि नहीं है अन्यथा कल्पना की जा सकती है कि कभी हिन्दी के साथ फारसी-अरबी के मिश्रण से उर्दू का जन्म कैसे हुआ होगा और अलग लिपि के कारण वह हिन्दी की एक शैली की बजाय कैसे एक स्वतंत्र भाषा बन गई होगी। 'हिंगलिश' का अर्थ हिन्दी के शब्दभंडार में वृद्धि है। अब तक जिन बहुत-सी बातों को अभिव्यक्त करने के लिए अंग्रेजी के वज़न पर शब्द गढ़े या अनूदित किए जाते थे, हर अनुवादक द्वारा एक भिन्न शब्द के प्रयोग से अर्थ अनिश्चित और भ्रामक हो सकता था या फिर अंग्रेजी के शब्दों को इकहरे उद्धरणचिह्न के भीतर लिखकर काम चलाया जाता था अब उन शब्दों को हिन्दी में शामिल माना जा सकेगा और वे आधिकारिक रूप से हिन्दी की अपनी अभिव्यक्ति का हिस्सा बन सकेंगे। किस हद तक ऐसा करना ठीक होगा? किस हद के बाद हिन्दी का अपना अस्तित्व ही कहीं खतरे में तो नहीं पड़ जाएगा? आदि प्रश्न अभी विचार और विवाद का विषय हैं। वैसे एक तर्क इसके पक्ष में यह भी दिया जाता है कि दो भाषाओं के सम्पर्क और आदान-प्रदान की प्रक्रिया में किसी समाज की अपनी भाषा आदान से लाभान्वित होती है और बाहरी भाषा की ताकत लेकर समाज पर उसकी पकड़ को कमजोर कर देती है।

भारत जैसे देश में अभी एक परिवार में एक टी.वी. की ही यथासंभव सुविधा है। गाँव चौपाल में सामूहिक दूरदर्शन की व्यवस्था हुआ करती है। इसलिए काफी अंशों में वाचिक परम्परा की सामूहिकता अभी शेष मानी जा सकती है। लेकिन गाँव-चौपाल के इलाकों में एक परिवार का एक टी.वी. और पारिवारिक टी.वी. के इलाकों में एक से अधिक टी.वी. की दिशा में परिवर्तन की शुरुआत हो चुकी है। संभावना यह है कि वाचिक परंपरा की दृश्यता और श्रव्यता के साथ लिखित परम्परा के एकान्त का योग हो और उस श्रोता और दर्शक का जन्म हो जो भावोत्तेजना को समर्पित और विचारशून्य हो; टी.वी. की विज्ञापन संस्कृति और उपभोक्तावादी संवेदना को आसानी से आत्मसात कर ले और परंपरागत वाचिक स्थिति से भिन्न किसी मूल्यभावना से भी अछूता रह जाए।

यह वाचिक और लिखित दोनों परम्पराओं के नकारात्मक पक्षों के वर्चस्व की अवस्था होगी और समाज में अपराध-संस्कृति को जन्म देगी।

सम्भावित प्रश्न-

1. वाचिक साहित्य से आप क्या समझते हैं? वाचिक साहित्य की विशेषताएँ लिखिए।
2. लिखित साहित्य और वाचिक साहित्य का अंतर स्पष्ट कीजिए।
3. जनसंचार के युवा में वाचिक और लिखित साहित्य की उपयोगिता का मूल्यांकन कीजिए।

3. उर्दू और खड़ी बोली का उद्भव और विकास

डॉ. राजेन्द्र प्रसाद गौतम

रीडर, हिंदी विभाग

रामलाल आनंद कॉलेज (सांध्य)

दिल्ली विश्वविद्यालय

दिल्ली विश्वविद्यालय के बी.ए. (प्रोग्राम) II के आधार पाठ्यक्रम (Foundation Course) “भाजा, साहित्य, और संस्कृति” प्रश्नपत्र के विद्यार्थियों के लिए उर्दू तथा खड़ी बोली के उद्भव और विकास को समझना कई कारणों से बहुत आवश्यक है। इस प्रश्नपत्र में भारतीय साहित्य के 26 रचनाकारों को समाहित किया गया है। इनमें उर्दू साहित्य का प्रतिनिधित्व करने वाले पाँच लेखक हैं। उर्दू शायरी का प्रतिनिधित्व जहाँ खुसरो, ग़ालिब, फ़ैज और फिराक ने किया है, वहाँ अफ़साना विधा की प्रतिनिधि लेखिका के रूप में इस्मत चुगताई को स्थान मिला है। भारतीय साहित्य में उर्दू के व्यापक प्रतिनिधित्व का कारण इसका भारत के एक बड़े भू-भाग में प्रचलित होना है। संग्रहीत कवियों के माध्यम से उर्दू साहित्य का सम्यक् परिचय पाने के लिए उर्दू भाजा और साहित्य का उद्भव और विकास जानना उपयोगी ही नहीं आवश्यक भी है।

प्रिय विद्यार्थी! क्या आप जानते हैं कि वर्तमान हिंदी का मानक रूप खड़ी बोली है। हिंदी का यही मानक रूप आज भारत की राजभाजा, राजभाजा एवं संपर्क-भाजा के रूप में स्थापित एवं स्वीकृत है। विद्यार्थी को अन्य भारतीय भाजाओं के साहित्य का अध्ययन भी इसी खड़ी बोली में किए गए अनुवाद के माध्यम से करना है। साथ ही खड़ी बोली हिंदी के प्रतिनिधि लेखकों के रूप में उसे प्रेमचंद, श्रीलाल शुक्ल और ओमप्रकाश वाल्मीकि के साहित्य का अध्ययन भी करना है। यह अध्ययन तभी संभव और सरल होगा जब वह खड़ी बोली के उद्भव और विकास से सुपरिचित होगा।

इस संदर्भ में सबसे पहले हम उर्दू भाजा की पृष्ठभूमि और विकास का परिचय प्राप्त कर लें तो अच्छा होगा।

उर्दू का उद्भव और विकास

दसवीं शताब्दी के बाद भारत में शासन के सूत्र क्रमशः मुस्लिम शासकों के हाथों में जाने लगते हैं। अरब, ईरान, फ़ारस और मंगोल क्षेत्रों से आए इन नवागंतुकों की भाजाएँ यद्यपि मुख्यतः अरबी और फ़ारसी थीं और शासकीय कार्यों में तो फ़ारसी की सत्ता अंग्रेजी हुकूमत के स्थापित होने के बाद तक बनी भी रही। जन में एक उक्ति चलती है: “पढ़ें फ़ारसी बेचें तेल!” यह उक्ति फ़ारसी के आभिजात्य की ही सूचक है। लेकिन एक तथ्य यह भी है कि ये अभिजात भाजाएँ भारत में जन-संपर्क की भाजाएँ कभी नहीं बन पायीं। यहाँ तक कि दसवीं शताब्दी के बाद भारत की अभिजात भाजा संस्कृत का भी दबदबा कायम न रह सका। इसका कारण वास्तव में सत्ता की भाजा को छोड़कर लोकभाजा से जुड़ने की प्रवृत्ति है और यह परिवर्तन हिंदी क्षेत्र में विशेष रूप से घटित हो रहा था। प्रो. शंभूनाथ ने इस प्रवृत्ति को जागरण का चिह्न माना है। उन्होंने तत्कालीन भाजाई स्थिति को स्पष्ट करते हुए इस तथ्य को इस रूप में रेखांकित लिखा है कि “अरबी-फ़ारसी हो या संस्कृत-अपभ्रंश, सत्ता की भाजा छोड़ कर लोकभाजा से जुड़ने की प्रवृत्ति हिंदी क्षेत्र में एक जागरण का चिह्न है।” (हिंदी नवजागरण और संस्कृति, पृ. 19)

प्रो. श्यामनाथ ने तत्कालीन दो बड़े कवियों को इस संदर्भ में उद्धृत किया है। एक तो उन्होंने खुसरो का यह वक्तव्य उद्धृत किया है: “मैं हिंदवी धाराप्रवाह बोल सकता हूँ। मेरे पास अरबी की मिठास नहीं है इसलिए इसमें बात नहीं करता। आप कहें तो मैं हिंदवी में अपनी काव्य-कला प्रदर्शित करूँ।” (हिंदी नवजागरण और संस्कृति, पृ. 19)

प्रो. श्यामनाथ ने संस्कृत और अन्य अभिजात भाषाओं को छोड़कर देसी अथवा लोक भाषा को अपनाने का दूसरा उदाहरण विद्यापति का दिया है। विद्यापति का बहुप्रचलित कथन है:

“देसिल बयणा सब जन मिट्ठा।
तें तइसन जम्पउ अवहट्ठा ॥”

यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी में भारत में, विष्टोजकर उत्तर भारत में, लोकभाषाओं की अनेक धाराएँ प्रवाहित होने लगीं थीं। भारतीय साहित्य की भागीरथी का निर्माण इन्हीं छोटी-बड़ी धाराओं से होता है। उस समय की भारतीय भाषाओं की महत्त्वपूर्ण सूचना हमें खुसरो की फ़ारसी कृति ‘नूह सिपहर’ की इन पंक्तियों से मिलती है। खुसरो लिखते हैं:

“सिंधी – ओ – लाहौरी – आ – गर
धुर समंदरी तिलंगी – आ – गुजर
माबरी – ओ – गोरी – बंगाल – अवध
दिल्ली-ओ-पैरामनष्ट्र अंदर हमा हद
ई हमा हिंदवीस्त जि ऐय्याम-ए-कुहन
आम्मा बकारस्त बहर गूना सुखन”

“सिंधी, पंजाबी, कश्मीरी, मराठी, कन्नड़, तेलगु, गुजराती, तमिल, असमिया, बांग्ला, अवधी, दिल्ली तथा उसके आस-पास जहाँ तक उसकी सीमा है इन सब को प्राचीन काल से ही ‘हिंदवी’ नाम से जाना जाता है। बहरहाल अब मैं अपनी बात शुरु करता हूँ।” (प्रो. गोपीचंद नारंग, अमर खुसरो का हिंदवी काव्य, पृ. 24)

खुसरो के इस कथन में आए ‘हिंदवी’ शब्द पर विष्टोज रूप से ध्यान देने की जरूरत है। भारतीय भाषाओं की ऊपर दी गई सूची में हिंदी का तो नाम नहीं है लेकिन ‘दिल्ली तथा इसके आस-पास की भाषा’ का जिक्र जरूर है। खुसरो की फ़ारसी रचनाओं को छोड़ दें तो उनका श्लेष लेखन इसी ‘दिल्ली तथा इसके आस-पास की भाषा’ में उपलब्ध होता है। जब वे अपने आप को ‘हिंदवी’ का कवि कहते हैं तो निश्चित रूप से उनका तात्पर्य खड़ी बोली हिंदी और उर्दू से है जबकि ऊपर के उद्धरण में ‘हिंदवी’ शब्द से स्पष्ट रूप से ‘भारतीय भाषाओं’ का अर्थ लिया जा रहा है। खुसरो के उपर्युक्त उद्धरण में पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण की अधिकांश प्रमुख भाषाओं को परिगणित किया गया है। इससे यह महत्त्वपूर्ण तथ्य रेखांकित होता है कि तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी में भी भारत की एक राष्ट्र के रूप में अखंड सत्ता थी।

पश्चिम में गुजराती तथा सिंधी; उत्तर में पंजाबी तथा कश्मीरी; दक्षिण-पश्चिम में मराठी; दक्षिण में कन्नड़, तेलगु और तमिल तथा उत्तर-पूर्व में असमिया और बांग्ला तथा हिंदी क्षेत्र से अवधी को हिंद की भाषाओं के रूप में दिखलाकर खुसरो द्वारा भारत राष्ट्र की एकता और विविधता को एक साथ प्रस्तुत किया गया है। उनके कथन में एक तीसरा महत्त्वपूर्ण तथ्य यह निहित है कि ये भाषाएँ एकदम अचानक रूप से उत्पन्न नहीं हुई हैं। इनमें लिखित साहित्य की उपलब्धता की तस्वीर भले ही कुछ और हो लेकिन इनकी सामाजिक उपस्थिति बहुत पहले से रही है। खुसरो जब यह कहते हैं “... इन सभी को प्राचीन काल से ही ‘हिंदवी’ अर्थात् हिंद की भाषाओं के नाम से जाना जाता है।” तब वे स्पष्ट रूप से इन भाषाओं की दीर्घ परम्परा को स्वीकार करते हैं।

अपने समय की भारतीय भाषाओं की गणना के बाद खुसरो ने संस्कृत के संबंध में जो टिप्पणी की है, वह भी काबिले गौर है। खुसरो लिखते हैं:

“लेक ज़बानीस्त दिगर कज़ सुखनाँ
आनस्त गुज़ीं निज़्द हमा बरहमनाँ
संस्कृत नाम जि अहद - ए - कुहनष्ठा
आम्मा नदारद ख़बर अज़ कुन मकुनष्ठा

(लेकिन इस के अतिरिक्त कुछ अन्य भाज़ाएँ भी हैं और उसमें ब्राह्मणों की भाज़ा का विष्ठाज्ठ स्थान है जिसे बहुत प्राचीन काल से संस्कृत कहा जाता है। इस भाज़ा की बारीकियों से जन-साधारण परिचित नहीं है।) (प्रो. गोपीचंद नारंग, अमर खुसरो का हिंदवी काव्य, पृष्ठ. 24)

मजेदार बात यह है कि इससे मिलती-जुलती बात ही खुसरो ने फ़ारसी के संबंध में भी कही है। वे लिखते हैं—

इस्बात गुफ्त हिंद बहुज्जत कि राजेहस्त
बरपारसी-ओ-तुर्की अज़ अलफ़ाज़-ए-ख़ुष्ठाबवार

(फ़ारसी और तुर्की की अपेक्षा हिंदवी अपने मधुर शब्दों के कारण अधिक लोकप्रिय है।)

उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष यही निकलता है कि वर्तमान समय में भारत में जिन भाज़ाओं में साहित्य की रचना हो रही है, उन्हें अपनाते की प्रक्रिया दसवीं शताब्दी के बाद तीव्र हो गई थी और तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी तक आते-आते ये जनभाज़ाएँ भारत में सर्जना का माध्यम बन गई थीं।

भारत की मध्यकालीन भाज़ाओं के संदर्भ में यह तथ्य भी ध्यान में रखना होगा कि इनके जो नाम आज हमारे सामने हैं, वे उनके उद्भव के समय के ही नहीं हैं बल्कि उनमें से अधिकांश का नामकरण बाद में हुआ है। उर्दू की स्थिति भी यही है। हिंदवी, देहलवी या हरियानी के संग-साथ में पलने-बढ़ने वाली इस भाज़ा का ‘उर्दू’ नाम तो बहुत बाद में सामने आता है लेकिन तथ्य यही है कि उर्दू भारतीय साहित्य के मध्यकाल से ही जन्मी है। दिल्ली विष्टवविद्यालय के द्विभाजिक प्रकाशन ‘भारतीय साहित्य : एक परिचय’ में इसके विकास के भाज़ावैज्ञानिक पक्ष को तो नहीं उद्घाटित किया गया है, लेकिन इसके ऐतिहासिक प्ररिप्रेक्ष्य पर इसमें एक सार्थक टिप्पणी इस रूप में उलब्ध होती है:

“इस युग की एक महत्वपूर्ण साहित्यिक और भाज़ाई परिघटना उर्दू और खड़ी बोली का विकास थी। भारतीय उपमहाद्वीप में उर्दू का इतिहास मुस्लिम सेनाओं, आब्रजनों, सूफियों, व्यापारियों, यात्रियों उपनिवेष्टियों के आगमन के साथ शुरु हुआ, जो अपने साथ अरबी, फ़ारसी और विष्ठाज्ठ साहित्यिक परम्पराएँ लेकर आए थे। एशिया और यूरोप से आने वाले विभिन्न जातीय, सामाजिक और भाज़ाई समूहों की संस्कृतियाँ स्थानीय समुदायों के निकट संपर्क में आईं और इस अंतःसंपर्क ने न केवल नई साहित्यिक परम्पराओं को जन्म दिया बल्कि सम्प्रेक्षण और साहित्यिक अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में एक समान भाज़ा के विकास को भी बढ़ावा दिया। विभिन्न स्तरों पर यह भाज़ा हिंदवी, दक्खनी, गूजरी, रेखता और उर्दू के नाम से जानी गई। उर्दू, अरबी, फ़ारसी ने तत्कालीन साहित्य को अन्य साहित्यिक विधाओं और रूपों के साथ-साथ गज़ल, मसनवी और कसीदा जैसी विधाएँ दीं। इस समय दिल्ली और आस-पास के क्षेत्रों में सामान्य लोगों की सम्प्रेक्षण की भाज़ा खड़ी बोली थी। यही भाज़ा बाद में एक प्रमुख साहित्यिक भाज़ा के रूप में विकसित हुई।” (भारतीय साहित्य : एक परिचय, भूमिका, xxxiv)

उर्दू को भारतीय संविधान में एक स्वतंत्र भाज़ा का दर्जा मिला है, यों व्याकरणिक समानता के आधार पर अनेक विद्वानों ने इसे हिंदी की ही एक शैली माना है। खुसरो और ‘दक्खनी’ के कवियों की भाज़ा से तो यही लगता है कि खड़ी बोली और उर्दू का जन्म साथ-साथ ही हुआ है पर आश्चर्य की बात यह है कि न तो उत्तर भारत में उन्नीसवीं शताब्दी से पहले खड़ी बोली का उल्लेखनीय साहित्य उपलब्ध है और न ही खुसरो तथा मीर-ग़ालिब के बीच के काल में उस तरह की उर्दू में बहुत अधिक मात्रा में साहित्य उपलब्ध होता है, जिसका स्वरूप अठारहवीं शताब्दी के बाद निर्मित हुआ है। मध्यकाल में दक्षिणी हिंदी के रूप में जो साहित्य उपलब्ध

है, उसकी आत्मा उर्दू के भी उतनी ही नजदीक है, जितनी खड़ी बोली हिंदी के।

उर्दू के बारे में एक चलती-सी राय यह दे दी जाती है कि हिंदी के जिस रूप में फ़ारसी-अरबी के शब्दों की बहुतायत है, वह उर्दू है और जिसमें संस्कृत शब्दों की अधिकता है, वह हिंदी है पर यह भाजा को समझने की वैज्ञानिक पद्धति नहीं है, अपितु इस सिद्धांत का विष्टलेक्षण तत्कालीन भाजा परिदृष्टय को समझकर ही किया जा सकता है। यह सही है कि अरबी, तुर्की और फ़ारसी फ़ारस की खाड़ी में बोली जाने वाली अति सघाक्त भाजाएँ हैं। इनके साहित्य की दीर्घ परंपरा भी रही है परंतु दसवीं शताब्दी में भाजाओं के भारतीय परिदृष्टय को समझे बिना और इस पर पड़ने वाले अरबी-फ़ारसी के प्रभाव के सूक्ष्म विष्टलेक्षण के बिना न तो उर्दू के जन्म की कहानी को जाना जा सकता है और न ही खुसरो की कविता को समझा जा सकता है। **मंजूर एहतेशाम हुसैन** ने इस गुथी को सही ढंग से सुलझाते हुए लिखा है— “कुछ लेखक उर्दू का विकास सिंधी में ढूँढ़ते हैं, (जैसे— मौलाना सुलैमान नदवी) कुछ द्रविड़ भाजा से इसका रिष्ठता दिखलना चाहते हैं, (जैसे— पाकिस्तान के सुहैल बुखारी), कुछ यह कहते हैं कि इसके व्याकरण की रूपरेखा पालि में मिलेगी (जैसे— पाकिस्तान के शौकत सब्जवारी) किंतु जिसे भी भाजा-विज्ञान और भारत में भाजिक विकास के इतिहास का थोड़ा भी ज्ञान है, वह इनमें से किसी भी बात को स्वीकार नहीं कर सकता।

इन समस्त विचारधाराओं का विष्टलेक्षण यहाँ संभव नहीं हो सकता, परंतु इतना कहना आवश्यक है कि उर्दू न तो विदेष्टी भाजा है, न वह सिंध में पैदा हुई है और न वह दक्षिण भारत में, न पंजाबी से निकली न ब्रजभाजा से वरन् जैसा कि ऊपर कहा गया है, दिल्ली के चारों ओर बोली जाने वाली कई बोलियों में फ़ारसी-अरबी के शब्दों के मिलने और पष्ठिचमी हिंदी के उस बोली में, जिसे खड़ी बोली कहा जाता है, रूप ग्रहण करने से एक नई भाजा का विकास हुआ। आरंभ में उस पर पंजाबी का प्रभाव अधिक रहा, परंतु धीरे-धीरे खड़ी बोली ही उर्दू के रूप में निखरती गई। इतनी ही बात ठीक है कि उर्दू एक आर्य-भाजा है, जो खड़ी बोली, शौरसेनी, अपभ्रंश, शौरसेनी प्राकृत के अंदर होकर बोल-चाल की प्राकृतिक बोलियों के रूप में अब से ढाई हजार वर्ष पूर्व जीवित और प्रचलित थी। ऐतिहासिक कारणों से अपनी आवश्यकताओं के अनुसार उसने फ़ारसी-अरबी और संस्कृत की शब्दावली से भी काम लिया। इसका मूल आधार खड़ी बोली है, किंतु एक जीवित भाजा होने के कारण उसमें उन सभी भाजाओं के शब्द आ गए हैं, जिनसे उसका संपर्क रहा है।” (उर्दू साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृष्ठ-10)

भारतीय साहित्य के इतिहास में दसवीं शताब्दी के बाद जो नया मोड़ आया है, उत्तर में उसका बड़ा कारण दो संस्कृतियों का—**हिंदू और मुस्लिम संस्कृतियों का—पास आना, टकराना, और समन्वित होना भी है।** खुसरो का काव्य इस समन्वय-प्रक्रिया का एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण प्रस्थान-बिंदु है। **खुसरो की तमाम साहित्यिक विष्टेजताएँ ग्यारहवीं से चौदहवीं शताब्दी के दौरान हुए भाजा-परिवर्तनों से गहरे जुड़ी हैं। खुसरो फ़ारसी के अतिरिक्त उस ‘हिंदुस्तानी’ जुबान से जुड़े हैं, जिसका जन्म विष्टेज ऐतिहासिक आवश्यकताओं के कारण हुआ है।** प्रायः आम आदमी की जुबान और क्लासिक भाजाओं में एक दूरी बनी रही है। ‘हिंदुस्तानी’ के संदर्भ में इस तथ्य का उद्घाटन करते हुए मंजूर एहतेशाम ने लिखा है— “क्लासिक भाजाएँ अपने गहरे प्रभाव से प्राकृतों एवं बोलियों की उन्नति में सदैव बाधक होती हैं। यही हाल फ़ारसी के होते हुए दिल्ली की बोलियों का था। फिर भी खड़ी बोली में, जो दिल्ली के बाजारों की भाजा थी, अरबी-फ़ारसी के शब्द प्रवेष्टा करते रहे, जिनका प्रयोग राजनीतिक एकता के लिए आवश्यक था।

इस खड़ी बोली में जो परिवर्तन हुआ, उससे वह भाजा बनी जिसको साधारणतः ‘हिंदुस्तानी’ कहा जाता है। इस ‘हिंदुस्तानी’ के दो साहित्यिक रूप हैं— (1) उर्दू, जिसमें अरबी-फ़ारसी के शब्द अधिक हैं और जिसे फ़ारसी लिपि में लिखा जाता है और (2) हिंदी, जिसमें संस्कृत शब्दों का प्रयोग होता है और जिसे देवनागरी में लिखते हैं। यह भी नहीं भूलना चाहिए कि खड़ी बोली का यह रूप पहले उर्दू की ही शकल में निखरा और जिसने भी हिंदुस्तानी को साहित्य के काम में लाना चाहा उसने उर्दू को अपनाया। इस प्रकार यह बात सिद्ध हो जाती है कि शौरसेनी अपभ्रंश से विकास पाने वाली अन्य भाजाओं में एक उर्दू भी है। यही कारण है कि उर्दू, पंजाबी और हरियाणी

के व्याकरणों में कोई बड़ा अंतर नहीं है।”-(उर्दू साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृष्ठ-9)

खुसरो से पूर्व ‘हिंदुस्तानी’ में रचना आरंभ हो चुकी थी। ख्वाजा मसरूद, साद सलमान (म. लगभग 1130) ख्वाजा मुईनुद्दीन चिष्टी (म. -1125) तथा कुतुबुद्दीन बरिब्रयार काकी की हिंदी रचनाओं का उल्लेख करते हुए एहतेष्गाम ने सलमान को हिंदी का पहला कवि माना पर यह भी कहा कि इन कवियों की रचनाएँ अब उपलब्ध नहीं हैं। खुसरो सहित इन कवियों की रचनाओं का महत्त्व इस तथ्य में निहित है: “हिंदुओं और मुसलमानों का मेलजोल व्यर्थ नहीं जा रहा था, बल्कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में दिव्य रूप से प्रकट हो रहा था।” (उर्दू साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृष्ठ-7)

यों तो इस दौर में अनेक रचनाकार हुए हैं पर श्रेष्ठ हमीदुद्दीन नागोसी, श्रेष्ठ शार्फुद्दीन बूअली कलन्दर (म. -1323), अमीर खुसरो (म. -1342) का ऐतिहासिक महत्त्व है। इनमें सबसे अधिक ख्याति खुसरो को प्राप्त हुई। इस ख्याति का आधार उनके साहित्य का मौखिक परंपरा में जीवित रहना और लोकप्रिय होना है। उनके साहित्य के अध्ययन की प्रासंगिकता निरंतर बनी रही है। खुसरो के संबंध में पंडित जवाहरलाल नेहरू का यह कथन सारगर्भित एवं उल्लेखनीय है—“सदियाँ गुजर जाने के बाद भी उनके गीतों में जनता के लिए इतनी कष्टाष्टा है, और आज जब हमारे सम्मुख जीवन-मूल्यों के विकास का प्रश्न उपस्थित है तो अमीर खुसरो के योगदान का स्मरण हो आता है।” (‘राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान परिषद्’ का प्रकाशन ‘अमीर खुसरो’ (श्रेष्ठ सलीम अहमद) पृष्ठ-7)

तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी का भारत गहरे सामाजिक, भाषिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक परिवर्तनों के दौर से गुजरता है। किसी युग का प्रतिनिधि साहित्यकार बैरोमीटर की तरह अपने समय के परिवर्तन दर्ज करता है। खुसरो ऐसे ही साहित्यकार हैं।

खड़ी बोली और उर्दू की सांझी विरासत : दकनी हिंदी

यह सही है कि अठारहवीं शताब्दी के बाद खड़ी बोली का विकास उर्दू से भिन्न स्वतंत्र रूप से हुआ है लेकिन एक तथ्य यह भी है कि 14वीं एवं 15वीं शताब्दी में दक्षिण में विकसित होने वाली ‘दकनी हिंदी’ उर्दू के बहुत समीप है। इसमें पंजाबी, हरयाणी, ब्रज और खड़ी बोली की शैली और शब्दावली का मेल है। ‘दकनी हिंदी’ को खड़ी बोली और उर्दू की सांझी विरासत कहा जा सकता है। मंजूर एहतेष्गाम हुसैन ने दक्षिण में उर्दू के प्रचलन का कारण स्पष्ट करते हुए लिखा है: “ख्रि. 14वीं शताब्दी तक का अंत होते-होते वहाँ (बहमनी राज्य में) उर्दू भाषा प्रचलित हो गयी थी। इसके फैलने के जहाँ और कारण थे, वहाँ एक बड़ा कारण यह भी था कि कई सूफ़ी फ़कीरों ने अपने विचार इसी भाषा में प्रकट किये, जिससे ख्रि.” (उर्दू साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृष्ठ- 18)

14वीं शताब्दी से अठारहवीं शताब्दी तक दक्षिण में उर्दू के विकास के तीन चरण हैं। पहला युग धार्मिक साहित्य का है। इस काल में दकनी का विकास बहमनी राज्य के अंतर्गत हुआ है। ख्वाजा बंदानवाज़ गेसूदराज़ और शहाह मीरानजी इस युग के प्रसिद्ध कवि हैं। गेसूदराज की इन रचनाओं का उल्लेख मिलता है: मेराजुल-आष्टाक़ीन, ‘शुआरनामा’, ‘तिला-वतुल-वजूद’। इन्हें भले ही उर्दू का कवि माना जाता हो पर उनकी भाषा का यह प्रतिनिधि नमूना खड़ी बोली का भी उदाहरण कहा जा सकता है:

“नबी कहे तहकीक़ के दरमियान ते सत्रह हजार पर्दे,
उजियाले के, हौर अंधियारे के, अगर उसमें ते एक
पर्दा उठ जाए तो उसकी आंच ते मैं जलूँ”

शहाह मीरानजी, जो 1497 तक जीवित रहे, ने तो अपनी रचनाओं को हिंदी ही कहा है। एक उदाहरण देखिए—

तू कादिर कर सब जग सब कों रोजी देवे।
तूँ सभों का दाना बीना सब जग तुझकों सेवे॥
एकस माटी मूली देवे एकस माटी बाज।
केतों भीख मँगावे केतों देवे राज॥

मीरानजी के पुत्र बुरहानुद्दीन की रचनाओं की भाजा हिंदी का ही रूप है। यों उन्होंने अपनी भाजा को कहीं दकनी और कहीं गूजरी (गुजराती-उर्दू) कहा है।

हिंदी-उर्दू की गंगा-यमुना के रूप में प्रवाहित दकनी का दूसरा युग बीजापुर के आदिलशाही राज्य से जुड़ा है। गोलकुंडा उस समय उर्दू का एक बड़ा केंद्र बनता है। वहाँ बादशाह से लेकर जन-साधारण तक कविता में अभिरुचि दिखलाई देती है। कुतुबशाही के इस युग में मुहम्मद कुली, मुहम्मद कुतुबशाह जैसे शासकों के अतिरिक्त वजही और इब्ने-निष्ठाती जैसे बड़े कवि हुए हैं। इन कवियों की रचनाओं में विभिन्न मूलों की शब्दावली को किस प्रकार समाहित किया गया है, इसे वजही की इन पंक्तियों से समझ सकते हैं—

छिपी रात उजाला हुआ दीस का
लगा जग करने सेव परमेस का
जो आया झलकता सूरज दाट कर
अँधेरा जो था सो गया न्हाट कर
सुरज यूँ है रंग आसमानी मने
कि खिल्या कमल फूल पानी मने

दकनी उर्दू का तीसरा युग मुगल काल के साथ जुड़ा है। इस काल में उर्दू का प्रसार दक्षिण के अन्य राज्यों और गुजरात में भी होने लगता है। इसी क्रम में उर्दू का वली जैसा बड़ा कवि आता है। दकनी उर्दू की सबसे बड़ी विशेषता बोलचाल के निकट होना है। वली की कविता इसका सबसे अच्छा उदाहरण है। एक उदाहरण देखा जा सकता है :

जिसे इष्टक का तीर कारी लगे
उसे जिंदगी क्यों न भारी लगे
न होवे उसे जग में हरगिज़ करार
वली कों कहे तू अगर एक बचन
रकीबों के दिल में कटारी लगे

18वीं सदी में उर्दू का केंद्र फिर उत्तर बनता है। इस सदी में सोज़, सौदा और मीर जैसे कवि हुए हैं। अब उर्दू में क्रमशः फ़ारसी शब्दावली की बहुलता होने लगती है। खड़ी बोली और उर्दू की दूरियाँ भी अब बढ़ने लगती हैं। यद्यपि मीर की भाजा में अब भी खड़ी बोली से निकटता देखी जा सकती है।

गत दो सौ वर्षों में उर्दू का बहुमुखी विकास हुआ है। इस काल में गद्य और पद्य दोनों विधाओं में विपुल साहित्य की रचना हुई है। ज़ौक, ग़ालिब और मोमिन ने इसको पुख़्ता आधार दिया। इक़बाल ने उसे बौद्धिक गरिष्ठता प्रदान की। फ़ैज, फ़िराक ने इसकी उस प्रगतिशील आधार भूमि का निर्माण किया जिसपर अली सरदार जाफ़री, कैफ़ी आज़मी, साहिर लुधियानवी ने अपनी कविता की इमारत को तामीर किया। अहमद फ़राज जैसे कवियों ने उसे अंतर्राष्ट्रीय प्रसार दिया। हाली ने यदि उसकी आलोचना- भूमि का निर्माण किया तो आगे चलकर सादत हसन मंटो ने उसे अफ़सानों से समृद्ध किया। विशेषज्ञ यह है कि इस पूरी परंपरा का भारतीय साहित्य और संस्कृति को भी समृद्ध करने में महत्त्वपूर्ण योगदान है।

खड़ी बोली का उद्भव और विकास

हमने आरंभ में ही उल्लेख किया था कि वर्तमान हिंदी का मानक रूप खड़ी बोली है और यही मानक रूप आज भारत की राष्ट्रभाजा, राजभाजा एवं संपर्क-भाजा के रूप में स्थापित एवं स्वीकृत है। लेकिन इस भाजा का वर्तमान रूप लम्बे परिवर्तनों से गुजरने के बाद ही निर्मित हुआ है। डॉ. विष्णुनाथप्रसाद ने खड़ी बोली के वर्तमान स्वरूप पर सटीक टिप्पणी करते हुआ लिखा है: “ हिंदी का परिनिष्ठत और परिष्कृत रूप इस समय साहित्य में प्रयुक्त हो रहा है, वह किसी एक नगर, जनपद अथवा दो चार जिलों में विकसित नहीं हुआ है। उसके विकास में सदियों से समस्त

देष्टा का योग रहा है। असाधारण ज्ञानी और दार्ष्टानिक से लेकर सामान्य किसान तक सभी ने इस भाजा के ष्टाब्द-भंडार को समृद्ध किया है। जहाँ तक ष्टाब्दावली का संबंध है, इसका साहित्यिक रूप पूर्णतया संस्कृत का ऋणी है। अभिव्यक्ति के क्षेत्र में अंग्रेजी भाजा का योगदान महत्त्वपूर्ण है। देष्टा की हिंदीतर भाजाएँ भी अनेक क्षेत्रों में अपने चिंतन का सारभाग हिंदी को प्रदान करती रही हैं, किंतु इन नाना दिष्टाओं से पोज़ण ग्रहण करते हुए भी हिंदी के परिनिष्ठत रूप की परम्परा अविच्छिन्न रही है।” (डॉ. विष्टवनाथप्रसाद, दक्खिनी हिंदी का उद्भव और विकास, प्राक्कथन)

आधुनिक भारतीय भाजाओं के विकास का सामान्यतः प्रस्तुत किया जाने वाला सिद्धान्त तो यही है कि ये क्रमशः संस्कृत, पालि, प्राकृत एवं अपभ्रंष्टा भाजाओं से विकसित हुई हैं लेकिन एक तो यह विकास-प्रक्रिया बहुत मंथर गति से घटित हुई है, दूसरे अनेक जन-भाजाएँ ऐसी रही हैं, जिनका साहित्यिक प्रदेय भले ही बहुत बाद में सामने आया हो, लेकिन जन-संपर्क में उनका अस्तित्व बहुत पहले से रहा है। एक भ्रांत अवधारणा यह रही है कि खड़ी बोली का इतिहास मात्र दो सौ वर्ज पुराना है। ऐसा इसलिए मान लिया जाता है कि इसमें रचित साहित्य की अनवरत धारा इतनी ही पुरानी मिलती है पर इस संबंध में आचार्य रामचंद्र ष्टुक्ल का यह कथन ध्यान देने योग्य है : “किसी भाजा का साहित्य में व्यवहार न होना इस बात का प्रमाण नहीं है कि उस भाजा का अस्तित्व ही नहीं है। उर्दू का रूप प्राप्त होने के पहले भी खड़ी बोली अपने देष्टी रूप में विद्यमान थी और अब भी बनी हुई है।” (आचार्य रामचंद्र ष्टुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ. 225)

उर्दू के विकास के संदर्भ में हमने देखा था कि वर्तमान समय में भारत में जिन भाजाओं में साहित्य की रचना हो रही है, उन्हें अपनाने की प्रक्रिया दसवीं ष्टाताब्दी के बाद तीव्र हो गई थी और तेरहवीं-चौदहवीं ष्टाताब्दी तक आते-आते ये जनभाजाएँ भारत में सर्जना का माध्यम बन गई थीं। आधुनिक भारतीय भाजाओं के अपभ्रंष्टा भाजाओं से विकसित होने के सिद्धान्त को भौगालिकता के संदर्भ में देखा जाना भी जरूरी है। वर्तमान दिल्ली तथा इसके हरियाणा और उत्तरप्रदेष्टा के सीमावर्ती क्षेत्रों में प्रयुक्त होने वाली खड़ी बोली का अस्तित्व एक हजार वर्ज से कम पुराना नहीं है। “खड़ी बोली अपने देष्टी रूप में किस प्रकार विद्यमान थी और अब भी बनी हुई है।” इसको सिद्ध करने के लिए आचार्य रामचंद्र ष्टुक्ल ने तो हम्मीरदेव और कबीर की रचनाओं से ठोस उदाहरण दिए ही हैं। उर्दू के विकास के संदर्भ में हम देख आए हैं कि खुसरो की रचनाओं में खड़ी बोली का बहुत स्पष्ट रूप उपलब्ध होता है। अनेक जगहों पर तो उन्होंने खड़ी बोली और ब्रज का मिश्रित प्रयोग किया है। दो उदाहरण देखें :

- (क) पंखा होकर मैं डुली साकी तेरा चाव
मुंज जलती जनम गया तेरे लेखन बाव
- (ख) गोरी सोवे सेज पर मुख पर डारे केस
चल खुसरो घर आपने रैद भईं चहुँ देस

हमें यहाँ यह नहीं भूलना होगा कि खुसरो की कर्मभूमि दिल्ली थी और आचार्य रामचंद्र ष्टुक्ल खड़ी बोली का रिष्टता दिल्ली से ही दिखाते हैं। मध्यकाल में दिल्ली के राजनैतिक महत्त्व के बढ़ने के साथ-साथ खड़ी बोली किस प्रकार ‘ष्टिष्ठ समुदाय के परस्पर व्यवहार की भाजा’ बनती है और खड़ी बोली और रेखता की सीमाएँ किस प्रकार घुलमिल जाती हैं, उसको स्पष्ट करते हुए ष्टुक्ल जी ने लिखा है: “देष्टा के भिन्न-भिन्न भागों में फैलने तथा दिल्ली की दरबारी ष्टिष्ठता के प्रचार के साथ ही दिल्ली की खड़ी बोली ष्टिष्ठ समुदाय के परस्पर व्यवहार की भाजा हो चली थी। खुसरो ने विक्रम की चौदहवीं ष्टाताब्दी में ही ब्रजभाजा के साथ-साथ खालिस खड़ी बोली में कुछ पद्य और पहेलियाँ बनाई थीं। औरंगजेब के समय से ही फारसी मिश्रित खड़ी बोली या रेखता में ष्टायरी भी ष्टुरू हो गई और उसका प्रचार फारसी पढ़े लिखे लोगों में बराबर बढ़ता गया। इस प्रकार खड़ी बोली को लेकर उर्दू साहित्य खड़ा हुआ, जिसमें आगे चलकर विदेष्टी भाजा के ष्टाब्दों का मेल भी बराबर बढ़ता गया और जिसका आदर्श भी विदेष्टी होता गया।” (हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ. 224)

मध्यकाल में खड़ी बोली का दायरा पश्चिम तक सीमित था। उस समय सत्ता और समष्टि के केंद्र भी दिल्ली और आगरा थे। लेकिन अठारहवीं ष्टाताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारत की राजनैतिक और आर्थिक स्थितियाँ बहुत

बदल गई थीं। इस बदलाव ने खड़ी बोली के प्रसार को भी बहुत प्रभावित किया। इन बदली स्थितियों का जायजा लेते हुए आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है। मोगल साम्राज्य के ध्वंस से भी खड़ी बोली के फैलने में सहायता पहुँची। दिल्ली, आगरे आदि पछाँही शहरों की समष्टि नष्ट हो चली थी और लखनऊ, पटना, मुर्शिदाबाद, आदि नयी राजधानियाँ चमक उठी। जिस प्रकार उजड़ती हुई दिल्ली को छोड़कर मीर, इण्डा आदि अनेक उर्दू शायर पूरब की ओर आने लगे, उसी प्रकार दिल्ली के आसपास के हिंदू व्यापारी जातियाँ (अगरवाले, खत्री आदि) जीविका के लिये लखनऊ, फैजाबाद, प्रयाग, काशी, पटना आदि पूरबी देशों में फैलने लगी। उनकी बोलचाल की भाजा खड़ी बोली भी उनके साथ-साथ लगी चलती थी।... इस प्रकार बड़े शहरों के बाजार की व्यावहारिक भाजा भी खड़ी बोली हुई। यह खड़ी बोली असली और स्वाभाविक भाजा थी, मौलवियों और मुश्तियों की उर्दू मुअल्ला नहीं। (हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ. 224)

यहाँ यह उल्लेख अपेक्षित है कि जिस भाजा को हम खड़ी बोली कह रहे हैं, उसका यह नाम उतना पुराना नहीं है, जितनी यह भाजा। प्राकृतों एवं अपभ्रंशों के तो अपने क्षेत्र-आधारित-नाम हैं। **खुसरो के समय खड़ी बोली का नाम देहलवी ही रहा होगा—यह पता अनेक लेखकों के कथनों से चलता है। इसका संबंध कुरु जनपद से होने के कारण राहुल सांकृत्यायन ने इसे 'कौरवी' कहा है। भाजावैज्ञानिकों ने कौरवी का उद्भव श्रौरसेनी अपभ्रंश के उत्तरी रूप से माना है।** इस भाजा का विस्तार-क्षेत्र सहारनपुर, मेरठ, गाजियाबाद, दिल्ली, सोनीपत, बिजनौर, रामपुर तथा मुरादाबाद माना जाता है। लेकिन इस रूप में 'कौरवी' एक सीमित क्षेत्र में प्रयुक्त होने वाली हिंदी की एक बोली है, जबकि आज खड़ी बोली शब्द से वर्तमान मानक हिंदी का ही अर्थ लिया जाता है। भाजा का यह मानक अंग्रेजी के standing या standard से जुड़ा हो सकता है। यों किसी ने खड़ी में 'खरी' की ध्वनि सुनी है तो किसी ने इसे 'खड़े' स्वभाव से संबद्ध किया है। **सार यह है कि आज खड़ी बोली भारत की प्रमुख संपर्क भाजा 'हिंदी' का पर्याय है।**

खड़ी बोली ने दिल्ली की बोलचाल की भाजा से चलकर भारत की राष्ट्रभाजा बनने का जो लंबा सफर तय किया है, उसमें इसकी अनेक भूमिकाएँ रही हैं। दसवीं से चौदहवीं शताब्दी तक के साहित्य से खड़ी बोली के जो उदाहरण दिए जाते हैं, उनमें प्रायः इसकी उपस्थिति ब्रजभाजा के साथ मिलती है। आरंभिक युग में यह दैनिक व्यवहार, व्यापार, और लोक-संपर्क की भाजा रही होगी। समय बीतने के साथ खड़ी बोली हिंदी की भूमिकाएँ क्रमशः विकसित होती रही हैं। साहित्य-रचना में प्रमुखता से व्यवहृत न होने के कारण इसकी लंबे समय तक लोक-कंठ में उपस्थिति रही होगी। इसके लोकगीतों की समृद्ध परम्परा तो अब तक विद्यमान है। अठारहवीं शताब्दी में जब खड़ी बोली का गद्य पनपने लगता है तो पश्चिमी क्षेत्रों में राज्याश्रय अथवा जन-सामान्य में इसका प्रयोग धर्मोपदेश हेतु विष्टोत्र रूप से हुआ है। शुक्ल जी ने 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में रामप्रसाद निरंजनी द्वारा रचित एक ऐसे ही धर्मोपदेशक ग्रंथ 'भाजा योग वशिष्ठ' का उल्लेख किया है। संवत् 1798 में रचित इस ग्रंथ में खड़ीबोली गद्य का बहुत निखरा हुआ और परिनिष्ठत प्रयोग देखा जा सकता है। अनुवाद रूप में जैन धर्म के प्रचार के लिए भी इसका प्रयोग हुआ है लेकिन इसाई मिशनरियों द्वारा विष्टोत्र रूप से प्रयुक्त होने से खड़ीबोली गद्य का विकास गति पकड़ता है।

अठारहवीं शताब्दी के अंत तक भारत अंग्रेजों का उपनिवेश बन चुका था। अंग्रेजों द्वारा प्रशासन और धर्म-प्रचार के लिए हिंदी गद्य के विकास की आवश्यकता अनुभव की गई। 1860 में स्थापित फोर्ट विलियम्स कॉलेज का एक लक्ष्य खड़ीबोली गद्य का विकास भी था। इस कॉलेज से जुड़े चार लेखकों का योगदान हिंदी गद्य के विकास में सर्वाधिक माना जाता है। वे लेखक हैं: मुंशी सदासुखलाल, सैयद इण्डा अल्ला खाँ, लल्लू लाल और सदल मिश्रा। सैयद इण्डा अल्ला खाँ उस समय जन-सामान्य से जुड़ी कैसी चुलबुली भाजा लिख रहे थे, उसका एक नमूना देखा जा सकता है:

“इस बात पर पानी डाल दो नहीं तो पछतोगी और अपना किया पाओगी। मुझ से कुछ न हो सकेगा। तुम्हारी जो कुछ अच्छी बत होती तो मेरे मुँह से जीते जी न निकलती, पर यह बात मेरे पेट नहीं पच सकती। तुम अभी अल्हड़

हो, तुमने अभी कुछ देखा नहीं। जो ऐसी बात पर सचमुच ढलाव देखूँगी तो तुम्हारे बाप से कह कर वह भभूत जो वह मुआ निगोड़ा भूत, मुछंदर का पूत अवभूत दे गया है, हाथ मुरकवाकर छिनवा लूँगी।” (रानी केतकी की कहानी)

इस क्रम में आगे चलकर अपनी मौलिक और अनूदित रचनाओं से हिंदी गद्य को समष्टि किया राजा शिवाप्रसाद सितारेहिंद और राजा लक्ष्मण सिंह ने। अब खड़ी बोली क्रमशः ज्ञान-विज्ञान की और न्यायालय की भाजा भी बनने लगी। खड़ी बोली उन्नीसवीं शताब्दी के भारतीय पुनर्जागरण का भी सशक्त माध्यम बनती है और यह संभव होता है इसके पत्रकारिता की भाजा के रूप में प्रतिष्ठित होने में। इसी क्रम में शिक्षा-माध्यम के रूप में भी इसका पक्ष लिया जाने लगा। उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक आते-आते यह किस प्रकार राष्ट्रीय गौरव एवं स्वाभिमान का प्रतीक बनती है, इसका पता हमें फ्रैंडरिक पिन्काट द्वारा बाबू कार्तिकप्रसाद खत्री को सं. 1943 के लगभग लिखे इस पत्र से चलता है जिसे आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने ‘हिंदी साहित्य का इतिहास’ के पृष्ठ 262 पर उद्धृत किया है: “आपका सुखद पत्र मुझे मिला और उससे मुझको परम आनन्द हुआ। आपकी समझ में हिंदी भाजा का प्रचलित होना उत्तर पश्चिमवासियों के लिए सबसे भारी बात है। मैं भी संपूर्ण रूप से जानता हूँ कि जब तक किसी देष्टा में निज भाजा और अक्षर सरकारी और व्यवहार संबंधी कामों में नहीं प्रवृत्त होते हैं, तब तक उस देष्टा का परम सौभाग्य हो नहीं सकता। इसीलिये मैंने बार-बार हिंदी भाजा के प्रचलित करने का उद्योग किया है।”

उन्नीसवीं शताब्दी में उत्तर भारत में परिनिष्ठत भाजा के रूप में खड़ी बोली की स्वीकृति का यह परिणाम था कि अब इसमें धाराप्रवाह साहित्य-रचना होने लगी। यह जरूर है कि पहले यह गद्य साहित्य की भाजा बनी और थोड़ा विलम्ब में यह पद्य साहित्य की भाजा बनी। भारतेंदु हरिश्चंद्र और उनके सहयोगियों की रचनाओं ने हिंदी के खड़ीबोली रूप को अखिल भारतीय स्वीकृति दिलाई। बीसवीं सदी के आरंभ में ही आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने जब ‘सरस्वती’ पत्रिका का संपादन-भार संभाला तो उन्होंने कविता की भाजा को भी खड़ी बोली में बनाने का संकल्प ले लिया।

गत दो सौ वर्षों में खड़ी बोली में रचित साहित्य में असीम गुणात्मक एवं मात्रात्मक वृद्धि हुई है। उपन्यास, कहानी, नाटक, निबंध, आलोचना, संस्मरण आदि वे विधाएँ जिनका हिंदी में अस्तित्व ही नहीं था, बहुत तेजी से विकसित हुईं। इस साहित्य की सामाजिक परिवर्तन में बहुत महत्वपूर्ण भूमिका है। पिछली दो शताब्दियों में भारतेंदु हरिश्चंद्र के बाद हिंदी को हजारों लेखकों ने अपने प्रदेय से समष्टि किया है। इनमें से शताधिक लेखकों का स्थान तो इतिहास में अमर है। इनमें मैथिलीशरण गुप्त, जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानंदन पंत, सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, महादेवी वर्मा, रामधारीसिंह दिनकर, हरिवंशाराय बच्चन, नरेन्द्र शर्मा, आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री, स. ही. वा. अज्ञेय केंदारनाथ अग्रवाल, नागार्जुन, त्रिलोचन और मुक्तिबोध जैसे कवि; प्रेमचंद, जैनेन्द्र, यष्टापाल, वंदावनलाल वर्मा, अमष्टलाल नागर, मोहन राकेश, निर्मल वर्मा जैसे कथाकार; आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, पंडित नंददुलारे वाजपेयी, डॉ. रामविलास शर्मा, डॉ. नगेंद्र और डॉ. नामवर सिंह जैसे आलोचक; और सैकड़ों अन्य विधाओं के लेखक रचनारत रहे हैं।

यहाँ न तो उनके इस विपुल साहित्य के उद्घरण का अवकाश है और न ही उनके मूल्यांकन का प्रसंग। यहाँ तो यही उल्लेख प्रासंगिक है कि इन लेखकों ने खड़ी बोली की अनेक शैलियों का विकास किया है। कहीं हिंदी की तत्सम-प्रधान शैली दिखाई देती है तो कहीं तद्भवता को प्रमुखता मिली है। कहीं आंचलिकता के दर्शन होते हैं तो कहीं चटकीले लोकरंग दिखाई देते हैं। कहीं इसमें राजभाजा की औपचारिकता मिलती है तो कहीं तकनीकी शब्दों की ज्ञान-निधि की संपन्नता।

यदि संरचना की दृष्टि से विचार किया जाए तो बीसवीं सदी के आरंभ में खड़ी बोली में तत्सम शब्दों का समावेश बहुत तेजी से होता है। आलोचना में जो यह प्रवृत्ति अब भी देखी जा सकती है जबकि कविता और कथा-साहित्य में शैली-वैविध्य मिलता है। प्रसाद और पंत तत्सम-प्रधान भाजा का प्रयोग किया है। निराला ने अलग-अलग संदर्भों में अलग-अलग शैलियों का प्रयोग किया है। प्रेमचंद की भाजा जन-सामान्य के बहुत नजदीक है। बाद में फणीश्वरनाथ रेणु ने आंचलिक भाजा का प्रभावशाली प्रयोग किया है। खड़ी बोली हिंदी की समष्टि का

आधार इसमें निरंतर देहाज ष्टाब्दों के समावेष्टा और विदेष्टी भाजाओं के ष्टाब्दों को ग्रहण करना है।

अपने अखिल भारतीय महत्त्व के आधार पर ही खड़ी बोली हिंदी स्वतंत्रता-संग्राम की संयोजक भाजा भी बनती है, जिसके आधार पर इसे राज्द्रभाजा के रूप में स्वीवष्टति मिली। क्रमष्टा: भारतीय संविधान में खड़ी बोली हिंदी को राजभाजा का पद दिया गया। अब इसमें वैज्ञानिक एवं तकनीकी ष्टाब्दावली का विष्टोज्ज रूप से विकास किया गया जिससे इसको प्रष्टासनिक कार्यों एवं ष्टिक्षा-माध्यम के रूप में विष्टोज्ज स्थान मिला।

भारतीय साहित्य के अध्ययन के संदर्भ में यह एक उल्लेखनीय तथ्य है कि खड़ी बोली में जहाँ अनेक ष्ट्रौलियों में और अनेक विधाओं में विपुल साहित्य-सर्जना हुई है वहीं भारत की ही नहीं विष्टव की अनेक भाजाओं का श्रेष्ठ साहित्य अनूदित रूप में इसमें उपलब्ध होता है। इससे इन भाजाओं की समृद्ध विरासत को हिंदी के माध्यम से ग्रहण करना संभव हुआ है। भारतीय संस्कृति का एक समग्र बिंब खड़ी बोली के माध्यम से सरलता से ग्रहण किया जा सकता है।

4. साहित्य में स्त्री-विमर्ष और दलित-विमर्ष : अभिप्राय और विषेजता

डॉ. हर्जबाला शर्मा
प्रवक्ता, हिन्दी विभाग
इन्द्रप्रस्थ महाविद्यालय
दिल्ली विष्णुविद्यालय

स्त्री-विमर्ष

स्त्री की आवाज सदियों तक अनसुनी, अनजानी और अनपहचानी रही परंतु धीरे-धीरे विभिन्न आन्दोलनों के सहारे स्त्री की सशक्त आवाज सुनाई देने लगी। अपने अनुभवों में रिसती पीड़ा को अभिव्यक्ति देने का साहस स्त्री ने एक लम्बे संघर्ष के पष्ठचात् किया। स्त्री-विमर्ष का मुख्य सरोकार है—साहित्य व समाज में स्त्री मुक्ति के प्रयास। स्त्री मुक्ति का सम्बन्ध स्त्री-अस्मिता की स्थापना से है। स्त्री-अस्मिता की स्थापना के लिए स्त्री जीवन के अनेक अनछुए पहलुओं, उसकी पीड़ा, उसकी महत्त्वाकांक्षाओं के प्रति स्थितियों को तैयार करने का कार्य स्त्री विमर्ष करता है। स्त्री-विमर्ष स्त्री के उपेक्षित और वंचित रहने का विरोध करता है तथा स्त्री-पुरुष संबंधों पर पुनर्विचार के लिए प्रेरित करता है।

स्त्री विमर्ष के केन्द्र में 'स्त्री-दृष्टि' का सर्वाधिक महत्त्व है। ऐसी प्रत्येक रचना जो स्त्री के दृष्टिकोण को रूपायित करती है, समाज से उसके सम्बन्ध पर बात करती है तथा द्वन्द्वात्मक रूप में बदलती सामाजिक संरचना पर प्रश्न उठाती है, स्त्री-विमर्ष के अन्तर्गत आती है। इस दृष्टि से स्त्री विमर्ष के सम्बन्ध में दो धारणाएँ मिलती हैं—

(i) स्त्री रचनाकारों द्वारा स्त्री अनुभव सम्बन्धी लेखन।

(ii) स्त्री की तरह अनुभव करने वाले समस्त रचनाकारों (स्त्री एवं पुरुष) द्वारा किया गया स्त्री अनुभव सम्बन्धी लेखन।

अनेक आलोचक लिंग के आधार पर विभेद को अस्वीकार करते हैं तथा मानते हैं कि सृष्टि के समय व्यक्ति लिंगवादी सोच के आधार पर विचार नहीं करता अतः सृष्टि को सृष्टि की भाँति ही देखा जाना चाहिए परन्तु दूसरा वर्ग मानता है कि मनुष्य के विचार अपनी परिस्थितियों व सामाजिक मान्यताओं के आधार पर निर्मित होते हैं। अतः पुरुष स्त्री के सम्बन्ध में सदैव पूँजीवादी मानसिकता से ही लेखन कर सकता है। वह उसके प्रति सहानुभूति तो रख सकता है परन्तु उसके स्तर पर आकर उसके समान सोचकर रचनाकर्म नहीं कर सकता। 'अनुभव की प्रामाणिकता' आज प्रत्येक विमर्ष की मांग है। भोक्ता ही वास्तविक रचयिता हो सकता है।

यह दोनों विचारधाराएँ स्त्री विमर्ष सम्बन्धी लेखन के सम्बन्ध में भी देखी जा सकती हैं। आधुनिक हिन्दी साहित्य में छायावाद के चारों प्रमुख कवियों में महत्त्वपूर्ण व अन्यतम स्थान रखने वाली महादेवी वर्मा ने भी 'शृंगखला की कड़ियाँ' नामक रचना में अनुभव पर बल देते हुए कहा है कि पुरुष के द्वारा नारी चित्रण अधिक आदर्श बन सकता है, परन्तु अधिक सत्य नहीं। विकृति के अधिक निकट पहुँच सकता है पर यथार्थ के अधिक समीप नहीं। पुरुष के लिए नारीत्व अनुमान है, नारी के लिए अनुभव। अतः अपने जीवन के अनुभव का जैसा चित्र वह हमें दे सकेगी, वैसा पुरुष बहुत साधना के उपरान्त भी श्रायद ही दे सके।

स्त्री विमर्ष के केन्द्र में 'स्त्री पीड़ा और अनुभव' है। प्रायः आलोचक 'स्त्री विमर्ष' व 'स्त्री लेखन' का उद्देश्य पुरुष से मुक्ति मानकर उसका उपहास करते हैं परन्तु इस 'विमर्ष' का उद्देश्य पुरुष से मुक्ति नहीं पुरुषवादी मानसिकता से मुक्ति है। भले ही यह मानसिकता स्त्री में ही विद्यमान हो। स्त्री को स्त्री के रूप में जीने की मुक्ति दिलाना ही इस लेखन का उद्देश्य है। इसकी प्रमुख मान्यताएँ हैं—सामाजिक-आर्थिक स्वतन्त्रता, पुरुषवादी-सामंतवादी मानसिकता से मुक्ति, स्वयं के सम्बन्ध में प्रश्न करना, वस्तु के रूप में प्रयोग होने से इन्कार, कर्म की महत्ता की स्थापना, स्त्री की निष्क्रिय छवि को तोड़ना, स्त्री अस्मिता की स्थापना व समानता

पर बल। परन्तु हमें ध्यान रखना होगा कि भूमंडलीकरण व निजीकरण के इस दौर में स्त्री स्वयं भी कहीं-न-कहीं वस्तु के रूप में प्रयुक्त होने के लिए तैयार दिखाई दे रही है।

विभिन्न विद्वानों ने स्त्री सम्बन्धी विचारों को अपनी कलम से अभिव्यक्ति दी है। **जेम्स स्टुअर्ट मिल** ने अपने विख्यात निबंध 'सब्जेक्शन ऑफ वूमेन' में महिला मुक्ति के लिए स्त्री-पुरुष की साझेदारी को आवश्यक माना है। विष्वक्प्रसिद्ध नारीवादी बुद्धिजीवी लेखिका **नाओमी वुल्फ** अपनी पुस्तक 'फायर विद फायर' में भविष्य के नारीवाद पर विचार करते हुए उसके दोनों पक्षों (अच्छे और बुरे) को दर्शाती हैं। इस पुस्तक में उन्होंने स्त्री विमर्षा पर चर्चा करते हुए इसके दो रूप माने हैं—(i) विक्टिम फेमिनिज़्म (ii) पाँवर फेमिनिज़्म।

विक्टिम फेमिनिज़्म नारी को शक्तिहीनता से जोड़ता है, लिंग के आधार पर निर्णय लेता है, नारी को मातृत्व के कारण पुरुष से श्रेष्ठ मानता है। यह सत्ता प्राप्त करने में विष्वक्वास नहीं करता, स्त्रियों को श्रांत, सरल, अहिंसक रहकर आत्म बलिदान के लिए प्रेरित करता है। यह नारीवाद नेतृत्व का विरोध करता है तथा गुमनाम रहकर समाज को 'स्व' से अधिक महत्त्व देने की बात कहता है। यह 'प्यूरिटन' अवधारणा का पोज़क है तथा पुरुषों से दूर रहने पर बल देता है। यह विवाह संस्था का विरोध करता है तथा महिलाओं की श्रांतिप्रियता पर विष्वक्वास रखता है।

पावर फेमिनिज़्म स्त्री की शक्ति के भरपूर इस्तेमाल की बात करता है, उसके निर्णय को महत्त्व देता है तथा उसकी व्यक्तिगत पहचान को विष्विष्ट मानता है जिसे समूह के लिए लुप्त नहीं किया जाना चाहिए। यह सत्ता की आवश्यकता को महसूस करता है क्योंकि यह मानता है कि जिसके पास शक्ति है, वही परिवर्तन कर सकता है। चूंकि स्त्रियों को अब तक सत्ता नहीं मिली अतः वे अब तक परिवर्तन में भागीदार नहीं बन सकी। यह नारी को वह सब कुछ दूसरों को देने के लिए तैयार करता है जिसे पाने की इच्छा वह स्वयं रखती है। हिंसा, उग्रता जितनी पुरुष में है उतनी ही नारी में भी। यदि नारी पुरुष की उग्रता को नियंत्रित रखना चाहती है तो उसे भी अपनी उग्रता का श्रमन करना होगा। यह पुरुषों से नहीं पुरुष-मानसिकता, पुरुष-दंभ, पुरुष अहं से मुक्ति चाहता है। यह स्त्रियों का अपने मन व देह पर अधिकार स्वीकार करता है तथा अपने विचार व्यक्त करने की आजादी देता है। यह सभी प्रकार के प्रष्टनों को आमंत्रित करता है तथा अपने संबंध में भी प्रष्टन करने की छूट देता है।

मेरी वोल्सटन क्राफ्ट ने स्त्री विमर्षा के सुदीर्घ इतिहास में लगभग आरम्भिक कड़ियों में अपना वैष्विष्ट्य सिद्ध किया। उनकी रचना 'A vindication of the Right of Women (1792)' स्त्री विमर्षा सम्बन्धी पहली क्लासिक कृति मानी जाती है। इन्होंने स्त्री-विमर्षा के सरोकारों पर विचार करते हुए स्त्री की तर्कशक्ति के विकास पर बल दिया है। वह ऐसी शिक्षा का विरोध करती है जो स्त्रियों को दम घोट देने वाले आदर्शों में जीने को बाध्य रखती है। वह सौन्दर्य को स्त्री का राजदण्ड न मानकर उसे एक 'तर्कपरक प्राणी' बनने की प्रेरणा देती है। वह स्त्री को मात्र यौन इच्छा की पूर्ति का साधन मानने का विरोध करती है तथा सभी आडम्बरपूर्ण विष्वोजनों का निषेध करती हैं।

वस्तुतः वास्तविक स्त्री विमर्षा वही है जो नारी के प्रति 'सोच' के बदलाव के लिए साहित्य के माध्यम से समाज को प्रेरित करे। वह बदलाव न तो हिंसा से संभव है न ही क्षमाशीलता से इन दोनों के मध्य की स्थिति जहाँ स्त्री वस्तु न हो, उसके श्रम का भी समान महत्त्व हो तथा उसे आर्थिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति हो। विष्वक्प्रसिद्ध लेखिका **सीमोन द बोउवा** कहती हैं कि आर्थिक स्वतन्त्रता स्त्री स्वतन्त्रता की पहली श्रांत है। आर्थिक रूप से स्वावलम्बी व्यक्ति अपने निर्णय लेने में सक्षम होता है। स्त्री विमर्षा स्त्री को अपने निर्णय स्वयं और खुली मानसिकता से लेने के लिए तैयार करता है।

स्त्री विमर्षा स्त्री को मात्र एक देह मानने का विरोध करता है। स्त्री की 'देह' उसका वैष्विष्ट्य है और उस देह पर गर्व करने का उसे अधिकार है परन्तु स्त्री की देह को ही उसका अंतिम सच मानकर उसे वस्तु रूप में परिवर्तित कर देने, कमजोर मान लेने अथवा बंधन लगाने का यह विमर्षा विरोध करता है। स्त्री की स्वतन्त्रता का एकमात्र अर्थ उच्चष्टंखलता नहीं बल्कि स्वयं स्त्री द्वारा अर्जित वह बोध है जिसके द्वारा वह अपनी देह व बुद्धि का मूल्यांकन कर सके।

नारीवाद का एक रूप उग्र नारीवाद भी है। वरिष्ठ कथाकार चित्रा मुद्गल उग्र नारीवाद को गलत मानती हैं। उनका मानना है कि हिंसक नारीवाद अस्वीकार किया जाना चाहिए। यदि स्त्री के लिए बाड़ा खोला जा रहा है तो बाड़ा खुलते ही उसके मालिक पर हमला नहीं किया जाना चाहिए बल्कि यदि विरोध ही करना है तो विरोध बाड़े का होना चाहिए न कि उसके मालिक का।

स्त्री विमर्ष की चर्चा जब हम आज 21वीं सदी में कर रहे हैं तो इस तथ्य को रेखांकित किया जाना चाहिए कि स्त्री विमर्ष बालिका को आत्मनिर्भर बनाने, अपने भविष्य के सम्बन्ध में निर्णय लेने तथा अपनी देह की अपवित्रता से सम्बन्धित 'टैबू' को नकारने का साहस प्रदान करता है। स्त्री का अपना अस्तित्व है, उसकी अस्मिता का समाज में अपना एक स्थान होना चाहिए। स्त्री भी पुरुष के समान एक इकाई है। सबसे महत्वपूर्ण बात यह कि स्त्री के श्रम का पुरुषों से कतई कम महत्व नहीं है। यह विमर्ष स्त्री के अंगों पर बनी गालियों, भद्दे विष्टोत्सवों, स्त्री की देह को बाजारू मानने का विरोध करता है व स्त्री को एक नई भाजा गढ़ने के लिए तैयार करता है।

स्त्री विमर्ष से जुड़े सरोकारों पर सिल्विया प्लाथ, सिमोन द बोउवा, मेरी वोल्सटन क्राफ्ट, जर्मन ग्रीयर, लेवी स्ट्रास जैसी अनेक विदुजियाँ अनेक रूपों में अपने विचारोत्तेजक तर्क प्रस्तुत कर चुकी हैं। हिन्दी साहित्य में भी स्त्री विमर्ष अपनी गहरी पैठ बना रहा है। नई विष्टिज्ञ रचनाकारों में जया जादवानी, मैत्रेयी पुष्पा, प्रभा खेतान, मष्टाल पाण्डे आदि महत्वपूर्ण रचनाकार हैं। यहाँ यह भी समझ लेना चाहिए कि स्त्री लेखन का अर्थ पुरुषों का विरोध नहीं बल्कि स्वस्थ मानसिकता को प्रोत्साहन देना है अतः आलोचकों को भी आलोचक धर्म का निर्वाह करते हुए स्वस्थ मानसिकता के साथ स्त्री विमर्ष के सरोकारों पर विचार करना चाहिए।

दलित विमर्ष

'दलित' शब्द का व्यापक अर्थ है-शोषित, वंचित, पीड़ित, गरीब अर्थात् ऐसा वर्ग जिसे विकास के अवसर प्राप्त नहीं हो सके। परन्तु 'दलित विमर्ष' शब्द में 'दलित' का प्रयोग इतना व्यापक नहीं है। यहाँ 'दलित' का अर्थ है- जाति तथा वर्ग के आधार पर बनी वर्ण-व्यवस्था में निम्नतम स्तर पर आने वाली जातियाँ व लोग, जिन्हें वर्णवादी समाज शूद्र, अस्पृश्य, शूद्रातिशूद्र नामों से अभिहित करता है। इस आधार पर 'दलित विमर्ष' साहित्य के माध्यम से वर्ण-व्यवस्था का विरोध करके मानव मूल्यों की स्थापना के लिए संघर्ष करता है, ब्राह्मणवादी अथवा मनुवादी प्रतीकों तथा प्रथाओं का निषेध करता है तथा सदियों से पिछड़ी और अछूत मानी जाने वाली जातियों के लिए अवसर, साधन व शिक्षा उपलब्ध कराने का समर्थन करता है।

दलित विमर्ष अपनी विचारधारा के निर्माण के लिए डॉ. भीमराव अम्बेडकर की मान्यताओं को आधार बनाता है। अम्बेडकर ने अपने विचारों की निर्मिति हेतु न तो मार्क्सवाद के सर्वहारा दर्शन के वर्गवाद को स्वीकार किया था न ही गाँधी-लोहिया के वर्णवाद को। अम्बेडकर बौद्ध चिन्तन की ओर गए तथा नारायण गुरु, ज्योतिबा फुले और रामास्वामी पेरियार से प्रभावित हुए। अम्बेडकर पर फ्रांसीसी क्रांति के 'समानता, बन्धुत्व, स्वतन्त्रता' विचार दर्शन का भी गहरा प्रभाव था। इन विचारों से प्रभावित होते हुए उन्होंने दलित साहित्य के निर्माण की प्रेरणा के संदर्भ में तीन प्रमुख विचार सूत्रों पर बल दिया-

- (i) स्वाभिमान, स्वावलम्बन, स्व-उद्धार
- (ii) शिक्षा, संगठन एवं संघर्ष
- (iii) मानवीय अधिकार प्राप्ति के लिए संघर्ष

दलित साहित्य पर अम्बेडकर के विचारों का अभूतपूर्व प्रभाव पड़ा। आत्मशक्ति एवं स्वावलम्बन की भावना से भरकर रचनाकारों ने डॉ. अम्बेडकर के प्रतिनिधित्व में 'दलित मुक्ति आन्दोलन' का आरम्भ किया। 1920 में डॉ. अम्बेडकर ने 'मूक नायक' नामक पत्रिका का आरम्भ किया जिसमें वर्ण-व्यवस्था का विरोध तथा दलित वर्गों को प्रबोधन देने का लक्ष्य कथ्य के रूप में चयनित किया गया। सन् 1927 में डॉ० अम्बेडकर ने वर्ण-व्यवस्था के विरोध में क्रांतिधर्मी आन्दोलन आरम्भ किया। यही वह समय था जब दलितों के भीतर जागृति की लहर उठी और उन्होंने रचनात्मकता के माध्यम से हिन्दू वर्णवादी व्यवस्था का तिरस्कार किया।

दलित साहित्य के रचनाकारों में 'अनुभूति की प्रामाणिकता' को लेकर प्रश्न उठाए गए हैं। इस सम्बन्ध में दो प्रकार की विचारधाराएँ मिलती हैं-

- (i) अनेक रचनाकार व दलित विचारधारा के चिन्तक मानते हैं कि भारतीय कहा जाने वाला अब तक लिखा गया साहित्य वर्ण-व्यवस्था से सम्बद्ध रहा है। इस साहित्य का उद्देश्य दलितों की मुक्ति तथा उनका विकास नहीं रहा अतः दलित चिन्तकों व रचनाकारों द्वारा लिखा जाने वाला साहित्य ही दलित साहित्य होगा।
- (ii) अनेक विद्वान भारतीय साहित्य में लम्बे समय से दलित लेखन की रचनात्मकता को देखते हैं। प्रेमचंद ऐसे ही रचनाकार माने जाते हैं जिन्होंने दलितों पर लिखा और उनकी पक्षधरता भी की। प्रेमचन्द, नागार्जुन, निराला ऐसे ही रचनाकार हैं।

दलित साहित्य के इतिहास पर विचार किया जाए तो मराठी भाजा में 1960 के आसपास दलित साहित्य का निर्माण आरम्भ हुआ। यूरोपीय देशों में भी पीड़ित एवं कटु अनुभवों से ग्रस्त युवा पीढ़ी ने स्थापित साहित्य के विरुद्ध आन्दोलन इसी समय आरम्भ किया था। यह आन्दोलन मार्क्सवाद से प्रेरित था। अनेक दलित चिन्तक भी आरम्भ में मार्क्सवाद से प्रभावित हुए परन्तु बाद में डॉ. अम्बेडकर के विचारों के अनुसरण में ही उन्होंने अपने साहित्य का विकास किया।

दलित विमर्श व साहित्य के सन्दर्भ में सौन्दर्यशास्त्र की भी चर्चा की जाती है। सौन्दर्यशास्त्र की चर्चा सामान्यतः काव्य शास्त्रीय संदर्भों से जोड़कर की जाती है। किसी विष्टोन्न प्रकार के साहित्य की भाजा, बिम्ब, प्रतीकों का स्वरूप कैसा हो, सौन्दर्यशास्त्र इसका विवेचन करता है। दलित साहित्य 'अनुभूति की प्रामाणिकता' की बात करता है अतः वह अपनी मान्यताओं के अनुरूप नई भाजा, नए बिम्ब व प्रतीक ढूँढने अथवा चयनित करने की बात करता है। उसे पुरानी मान्यताओं, आदर्शों, चरित्रों से कोई प्रेम नहीं है क्योंकि पुराने सौन्दर्यशास्त्रीय प्रतिमानों में उसे वर्ण व्यवस्था की गंध आती है। वह अपने 'कर्मशास्त्र' के अनुरूप अपना 'सौन्दर्यशास्त्र' निर्मित करना चाहते हैं। परन्तु यह भी सत्य है कि दलित साहित्य के इस सौन्दर्यशास्त्र की अवधारणा का पूर्ण विकास तभी हो सकेगा जब दलित रचनाकारों के साथ-साथ उन गैर दलित रचनाकारों की भाजा, उनके बिम्ब, प्रतीकों को भी इसमें शामिल किया जाए जिन्होंने दलित वर्ग की पीड़ा का साक्षात्कार किया व पूरी प्रामाणिकता से उनका चित्रण किया। इस दृष्टि से ज्योतिबाफुले के चिन्तन, बाबूराव बागुल की रचनाधर्मिता से लेकर नागार्जुन व प्रेमचंद की दृष्टि का भी सही दिशा में मूल्यांकन करना होगा।

दलित साहित्य का आरम्भ मराठी भाजा में लिखित डॉ. अम्बेडकर की रचना 'मी कसा झाला' (आत्मकथा) से हुआ। इसके पष्ठचात् दया पवार, सोन काम्बले, धरण कुमार लिम्बाले ने आत्मकथाओं की रचना करके दलित जीवन की व्यक्तिगत पीड़ाओं से साक्षात्कार कराते हुए जातिगत-सामूहिक कष्टों को समाज के समक्ष प्रस्तुत किया। अमानवीय जीवन को जीने की मजबूरी के साथ-साथ वर्णवादी व्यवस्था के अन्तर्गत शिक्षा के बावजूद मुक्ति न मिलने की पीड़ा इन रचनाओं में अभिव्यक्त हुई है। बाबूराव बागुल का नाम दलित चिन्तकों में विष्टोन्न रूप से उल्लेखनीय है। उन्होंने दलित साहित्य के विवेचन को 'क्रांति विज्ञान' का नाम दिया। आत्मकथाएँ दलित साहित्य में सबसे अधिक लिखी गईं और अधिकांश विद्वानों के अनुसार उनकी पीड़ा और आक्रोश का सर्वाधिक सार्थक और प्रामाणिक विवेचन आत्मकथाओं में ही मिलता है।

उपन्यास के क्षेत्र में दलित रचनाकारों की उपस्थिति बहुत अधिक नहीं है परन्तु कहानी क्षेत्र में कुछ महत्वपूर्ण कहानियाँ अवश्य दिखाई देती हैं जैसे ओम प्रकाश वाल्मीकि का 'सलाम' कहानी संग्रह, सूरज पाल चौहान का 'टिल्लू का पोता', दयानन्द बटोही का 'सुरंग' संग्रह।

'दलित विमर्श' की शक्ति इस मान्यता में निहित है कि यह साहित्य आम आदमी का समर्थन करता है, जातिगत तथा अर्थगत शोषण का विरोध करता है तथा मानव मूल्यों पर आधारित सामाजिक व्यवस्था की माँग करता है। परन्तु यहाँ ध्यान रखने की बात है कि एक ओर न्यायोचित व्यवस्था की माँग करने वाले रचनाकार स्वयं अनुचित व्यवस्था के पैरोकर न बन जाएँ।

दलित विमर्श के अन्तर्गत 'अनुभव की प्रामाणिकता' पर बल देते हुए एक महत्वपूर्ण मुद्दा 'स्वानुभूति

बनाम सहानुभूति का है। विद्वान समालोचक **विष्णुनाथ त्रिपाठी** जहाँ मानते हैं कि भले ही गैर दलितों की रचनाएँ स्वानुभूति से न लिखी गई हो। परन्तु सदैव वह सहानुभूति से ही नहीं लिखी जाती। उनमें यथार्थवाद स्पष्ट दिखाई देता है। वहीं **मैनेजर पाण्डेय** मानते हैं कि अब पहली बार दलितों को अपनी बात कहने का अवसर मिला है। वह चाहे तो गैर दलितों की रचना को अपनाएँ, चाहे तो न अपनाएँ। **इस दृष्टि से दलित रचनाकारों ने सहानुभूति के स्थान पर स्वानुभूति को महत्त्व दिया है।**

दलित साहित्य के अन्तर्गत एक महत्त्वपूर्ण स्थान 'काव्य' का भी है। 1914 में 'सरस्वती' पत्रिका में प्रकाशित '**हीरा डोम**' की कविता '**अछूत की शिकायत**' भोजपुरी में लिखित दलितों की पीड़ा का मर्मस्पर्शी चित्र प्रस्तुत करती है। यद्यपि इस समय तक दलित चेतना या विमर्श जैसी किसी अवधारणा का विकास हिन्दी में नहीं हुआ था। दलित साहित्य के अन्तर्गत लिखी गई कविताओं में प्रश्न की प्रवृत्ति दिखाई देती है। **नामदेव ढसाल** एक प्रमुख दलित रचनाकार है जिन्होंने डॉ० अम्बेडकर पर अनेक कविताओं की रचना की है। **सी.बी. भारती, मोहनदास नैमिष्ठाराय, कंवल भारती** ने दलित जीवन की पीड़ा को दर्शाती अनेक कविताओं का सृजन किया है यथा-

“जमींदार का वंश

बढ़ता गया

आकाशा बेल की तरह

इनका खून चूसते-चूसते

धर्म का भय दिखाकर

नीच कर्मों का फल बताकर खू

पर

अब मैं पूर्व जन्म नहीं वर्तमान देखता हूँ।

'दलित-विमर्श' का सम्बन्ध अष्टवैत साहित्य से भी जोड़ा जाता है। यूरोपीय देशों में अनेक अष्टवैतों ने एक लम्बे संघर्ष के पश्चात् गुलामी से मुक्ति प्राप्त की। 1672 से अष्टवैतों की जिस गुलामी की परम्परा का आरम्भ हुआ, उन्होंने उस गुलामी को ही अपने जीवन की नियति मान लिया। 1861 में अब्राहम लिंकन ने उन्हें इस गुलामी से मुक्ति दिलाई जिससे उनके भीतर भी यह एहसास पनपना आरंभ हुआ कि उन्हें भी जीवन जीने का पूरा हक है। आजादी से पहले और बाद में भी लम्बे समय तक गुलामों को बेचे जाने की प्रथा मिलती है। अफ्रीकी देशों से लाकर गुलामों को अमेरिका की मंडियों में बेचा जाता था। स्त्रियों को उनके मालिकों द्वारा गर्भवती किया जाता था। कुछ भी न पाने और सब कुछ पा लेने की इच्छा के बीच लगातार द्वन्द्व हुआ और अनेक आन्दोलनों के द्वारा अष्टवैतों ने अपनी उपस्थिति दर्ज कराई। अब्राहम लिंकन ने इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य किया। 1963 में मार्टिन लूथर किंग ने अपना प्रसिद्ध ऐतिहासिक भाषण अष्टवैतों के पक्ष में दिया-I have a dream. दलित विमर्श ने इस आन्दोलन से भी शक्ति प्राप्त की।

'दलित विमर्श' पर चर्चा करते हुए **दलित नारीवाद को समझना भी आवश्यक है। 'स्त्री विमर्श' और 'दलित विमर्श' दोनों में अपनी जगह न पाने वाली दलित स्त्री ने अनेक बुनियादी सवालों को उठाते हुए जाति और लिंग के भेद को न सहने की घोषणा के साथ अपनी रचनात्मकता को अभिव्यक्ति दी। दलित रचनाकार दलित पितृसत्ता को लोकतांत्रिक मानते हैं परन्तु दलित स्त्रियाँ जातिसत्ता और पितृसत्ता दोनों का अन्याय अनुभव करती हैं। **उर्मिला पवार** मराठी में लिखने वाली दलित महिला हैं जो दलित पुरुष सत्ता का विरोध करती हैं। अपने ही वर्ग के पुरुष के हाथों प्रताड़ित न होने देने की इनकी आवाज हमें दलित नारीवाद में सुनाई देती है। तमिल लेखिका **बामा**, मराठी लेखिका **उर्मिला पवार**, दलित चिन्तक **एलेनोर जेलिएट**, प्रमुख लेखिकाएँ मानी जा सकती हैं। मराठी-लेखिकाओं में पहली आत्मकथा **रमाबाई रानाडे** की मानी जाती है (1910)। आरंभिक रचनाकारों में **पार्वतीबाई आठवले, माधवी देसाई, बेबी काम्बले, छाताबाई काम्बले** महत्त्वपूर्ण नाम माने जा सकते हैं जिन्होंने दलित स्त्रियों द्वारा सहन की जाने वाली सामाजिक विसंगतियों के चित्र प्रस्तुत किए।**

खण्ड : दो भारतीय-साहित्य

1. वाल्मीकि रामायण: बालिवध प्रसंग

डॉ० विजया सती
रीडर, हिन्दी-विभाग,
हिन्दू कॉलेज,
दिल्ली विष्ठवविद्यालय

भूमिका

संस्कृत भाजा को संसार की सबसे पुरानी भाजाओं में से एक होने का गौरव प्राप्त है। इसका इतिहास पाँच हजार वर्जों से अधिक पुराना है। भाजा के रूप में संस्कृत की साहित्यिक समष्टि, सरस शैली, विजय की व्यापकता और सूक्ष्म चिंतन-मनन तथा विवेचन-विष्टलेज्जण पद्धति का सम्मान न केवल देष्टा में बल्कि विदेष्टा में भी विद्वानों ने किया है। भारतीय चिंतन का अधिकांश अपने आरंभिक रूप में संस्कृत भाजा में ही संचित है। संस्कृत को देववाणी भी कहा जाता है। संस्कृत भाजा का विकास दो रूपों में हुआ : (1) वैदिक संस्कृत-वेदों की भाजा (2) लौकिक संस्कृत-लोक की भाजा

वैदिक संस्कृत में वेदों की रचना हुई। संहिता, ब्राह्मण-ग्रंथ, आरण्यक, उपनिजद् और सूत्र-ग्रंथ भी इसी के अन्तर्गत आते हैं।

लौकिक संस्कृत में रामायण और महाभारत जैसे ग्रंथ रचे गए।

रामायण के रचयिता : आदिकवि वाल्मीकि

भारतीय साहित्य की परंपरा में महर्जि वाल्मीकि आदिकवि के नाम से जाने जाते हैं और उनके द्वारा रची गई 'रामायण' को आदिकाव्य कहा जाता है। साहित्य के इतिहास में यह पहली रचना है, जिसमें मानव जीवन से जुड़ी कथा कही गई है। इससे पहले रचे गए वैदिक साहित्य में देवों का गुणगान था।

ऐसी मान्यता है कि राम की कथा सबसे पहले भगवान शंकर ने पार्वती को सुनाई। कथा सुनते हुए पार्वती को नींद आ गई। किन्तु जिस स्थान पर यह कथा सुनाई जा रही थी, वहाँ पास ही एक कौवे का घोंसला था जिसके भीतर बैठे कौए ने पूरी कथा सुन ली। कौए का पुनर्जन्म काकभुष्टुण्डि के रूप में हुआ, जिन्होंने यह कथा गरुड को सुनाई। भगवान शंकर के मुख से निकली राम की पावन गाथा 'आध्यात्म-रामायण' के नाम से प्रसिद्ध है। वाल्मीकि ने राम की यही कहानी संस्कृत श्लोकों में निबद्ध की जो वाल्मीकि रामायण के नाम से विख्यात हुई। रामायण शब्द का अर्थ है राम का अयन अर्थात् राम की यात्रा।

ऐसा माना जाता है कि रामायण के रचयिता महर्जि वाल्मीकि बनने से पहले, रत्नाकर नाम के डाकू थे। घने जंगलों से होकर जाने वाले राहगीरों को लूट लेते थे। किसी समय उस मार्ग से सप्तर्जि निकले, जिन्होंने बुरे आचरण के परिणाम बताकर उसे त्यागने का उपदेष्टा दिया। वाल्मीकि के मन पर गहरा असर पड़ा। वे बुरा आचरण छोड़कर साधना करने को तैयार हो गए। बहुत समय तक समाधि में रहने के कारण दीमकों ने उनके चारों ओर अपना घर बाँबी या वल्मीक बना लिया। ज्ञानप्राप्ति के बाद, वल्मीक से बाहर आने के कारण उनका नाम वाल्मीकि पड़ा। यह कथा भी विख्यात है कि किसी समय तमसा नदी के तट पर पहुँचे वाल्मीकि ने यह दष्टय देखा कि प्रेम-क्रीड़ा में लगे क्रौंच पक्षी के जोड़े में से एक को किसी शिकारी ने तीर से आहत कर दिया है। क्रौंची का विलाप सुनकर वाल्मीकि

का मन द्रवित हो गया और उनकी वाणी एक श्लोक के रूप में बह चली, वह प्रसिद्ध श्लोक है:

**मा निजाद्! प्रतिज्ठां त्वमगमः श्राष्टवतीः समाः।
यत् क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥**

श्लोक का अर्थ है—‘रे निजाद्! तुम श्राष्टवत प्रतिज्ठा कभी न पा सकोगे, क्योंकि तुमने प्रेम में डूबे पक्षी युगल में से एक को मार दिया है।’ कहा जाता है कि महर्षि का यह करुण स्वर ब्रह्मा के कानों में पड़ा, उन्होंने प्रकट होकर वाल्मीकि को रामचरित लिखने को कहा। यह मान्यता है कि ब्रह्मा के आदेश से वाल्मीकि ने रामचरित को शब्दबद्ध किया। लोकजीवन में रामायण को वेदों के समान पवित्र ग्रंथ माना जाता है।

वाल्मीकि रामायण पर्याप्त समय तक मौखिक रही। लोकप्रिय होने के कारण इसमें लगातार कुछ-न-कुछ जुड़ता रहा। बालकाण्ड और उत्तरकाण्ड को मूल रामायण के बाद लिखा गया माना जाता है। लव-कुष्ठा ने उसे राजा राम की राजसभा में गाकर सुनाया। फिर स्वयं वाल्मीकि ने उसे शब्द-बद्ध किया। इसलिए माना जाता है कि वाल्मीकि राम के समकालीन थे और ‘वाल्मीकि ने जो रामकथा लिखी उसमें वे स्वयं उपस्थित हैं। सीता और उनके दो पुत्रों कुष्ठा तथा लव का पालन-पोषण वाल्मीकि के ही आश्रम में होता है।’ (भारतीय साहित्य : एक परिचय : पृष्ठ : 10)

रामायण का रचनाकाल

रामायण का रचनाकाल महाभारत से पहले और साथ-ही-साथ ईसा के कई वर्ष पहले माना जाता है। यह भी माना जाता है कि राम की कहानी रामायण से पहले से भी मिलती थी, बाद में उसी को एक बड़ी कथा का रूप दिया गया।

‘मर्यादा पुरुजोत्तम के रूप में राम वैदिक परंपरा में तो विख्यात हैं ही, इसके साथ जैन तथा बौद्ध परंपराओं में भी उन्हें स्थान दिया गया है।’ (भारतीय साहित्य : एक परिचय : पृष्ठ : 10)

जैन कवि **विमलसूरि** ने अपने ग्रंथ ‘पउमचरिउ’ में रामकथा को प्राकृत भाजा में महाकाव्य के रूप में लिखा, जो महावीर की मष्ट्यु से 530 वर्ष बाद लगभग 62 ईस्वी में लिखा गया। **अष्टवघोष** (78 ई०) ने बुद्धचरित में सुंदरकांड से कुछ सुंदर उपमा-उत्प्रेक्षाओं का चयन किया है। इन बाहरी प्रमाणों के आधार पर रामायण तृतीय शताब्दी ई० पूर्व की रचना मानी जा सकती है।

महाभारत के ‘वनपर्व’ में ‘रामोपाख्यान’ आता है। इससे स्पष्ट होता है कि महाभारतग्रंथ रामकथा, वाल्मीकि और राम से भलीभाँति परिचित है। रामायण में महाभारत का उल्लेख नहीं है, पर महाभारत में रामायण का उल्लेख है। महाभारत का वर्तमान रूप चौथी शताब्दी के आरंभ में बना, अतः रामायण इससे पहले की रचना है। ‘इतना निश्चित है कि महाभारत के वर्तमान रूप प्राप्त होने के पहले ही रामायण को वर्तमान रूप प्राप्त हो गया था।...किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि समूचा रामायण समूचे महाभारत से पुराना है।...जैसा कि एक यूरोपियन पंडित ने कहा, भारतीय साहित्य के इतिहास में अद्भुत विरोधाभास है कि रामायण महाभारत से प्राचीन है और महाभारत रामायण से प्राचीन। असल में महाभारत के अनेक उपाख्यान निश्चित ही रामायण से भी पूर्ववर्ती हैं। (हिन्दी साहित्य की भूमिका : डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी : पृष्ठ 146)

लोकप्रिय महाकाव्य-रामायण

रामायण को राम के जीवन के समग्र विस्तार को शब्दबद्ध करने के कारण महाकाव्य कहा जाता है। इसे **विकसनश्रील महाकाव्य** भी कहा जाता है। इसलिए कि लोक-हृदय में बसी रामकथा में निरंतर कुछ जुड़ता रहा, कथा का विस्तार होता रहा।

रामायण में सात काण्ड हैं—बाल, अयोध्या, किञ्चिंधा, सुंदर, युद्ध और उत्तर काण्ड। इसमें कुछ 24000 श्लोक हैं। यह माना जाता है कि रामायण में पहला और अंतिम काण्ड बाद की रचना या प्रक्षिप्त अंश है। रामायण के सात कांडों की कथा का संक्षेप इस प्रकार है :

बालकांड में राम-जन्म, उनके बाल्यकाल, किष्णोर अवस्था, विष्टवामित्र के साथ वनगमन, राक्षसों का वध, यज्ञ की रक्षा, दशरथ की नगरी में धनुजभंग, सीता से विवाह, श्रेष्ठ भाईयों का सीता की तीन बहनों से विवाह वर्णित है।

अयोध्याकांड में राम के राज्याभिज्ञेक का प्रसंग, केकेई का क्रोध और ईर्ष्याविष्टा राम के लिए वनवास तथा अपने पुत्र भरत के लिए राज्याभिज्ञेक की कामना का वर माँगना, वचन पालन हेतु दशरथ द्वारा राम को वनवास, सीता-लक्ष्मण का राम के साथ वन जाना, दशरथ की मष्ट्यु, भरत का ननिहाल से लौटना, सारा वष्टतान्त सुनकर सेना सहित राम को लाने चित्रकूट प्रस्थान करना, राम को अयोध्या लाने का असफल प्रयास, भरत की वापसी और नन्दिग्राम में वास।

अरण्यकांड में राम-सीता-लक्ष्मण का दण्डक वन में वास, राक्षसों में संघर्ष का आरंभ, बहुत से राक्षसों का वध, पंचवटी-वास, शूर्पणखा का प्रणय-निवेदन, लक्ष्मण द्वारा नाक-कान काटना, रावण द्वारा स्वर्ण-मृग-मारीच के छल से सीता हरण, राम की व्याकुलता, सीता की खोज के प्रयास।

किञ्चिंधाकांड में सीता को खोजते राम की सुग्रीव से मित्रता, बालि का वध, हनुमान सहित वानर सेना का सीता की खोज में संलग्न होना, सागरतट पर पहुँचना, सागर पार जाने का हनुमान का उत्साह वर्णन है।

सुंदरकांड में हनुमान का सागर पार लंका पहुँचना, सीता से भेंट, लंकादहन, सीता के संदेष्टा सहित किञ्चिंधानगरी वापस लौटना।

युद्धकांड सबसे बड़ा है, जिसमें रावण वध, उसके परिजनों का नाश, विभीषण का राज्याभिज्ञेक, राम का सीता पर संदेह और उसके निवारण के लिए सीता का अग्निप्रवेष्टा, पतिव्रत का प्रमाण, वनवास समाप्त, पुष्पक विमान से वानरों-राक्षस मित्रों के साथ राम की अयोध्या वापसी के वर्णन के साथ, भरतमिलाप, राज्याभिज्ञेक का अंकन।

उत्तरकांड में बहुत सी कहानियाँ हैं, जिनमें रावण का इतिहास-वंश आदि का वर्णन है, सीता विजयक लोकापवाद, सीता निर्वासन और वाल्मीकि आश्रम में उनको शरण, लवकुष्ठा जन्म, राम का अष्टवमेध यज्ञ, लवकुष्ठा द्वारा रामायण गाना, राजसभा में चरित्र की श्रुद्धता का प्रमाण देती सीता का धरती में समा जाना और अंत में राम की जलसमाधि, यह अंश समाहित हैं।

रामायण की लोकप्रियता

आचार्य श्री बलदेव उपाध्याय ने रामायण को 'विराट वटवष्टक्ष' की संज्ञा दी है। रामायण कितना विख्यात ग्रंथ है, इसका अनुमान उसके विविध संस्करणों और उस पर लिखी गई टीकाओं की संख्या से होता है। रामायण का सष्टजन महान् उद्देष्ट्य से हुआ। इसकी चरित्र सष्टष्ट सुंदर है। एक ओर महान आदर्श के प्रतीक राम, सीता, दशरथ, भरत जैसे उच्च-वर्ग के पात्र हैं, दूसरी ओर निजाद, श्राबरी, केवट मंथरा जैसे निम्न-वर्ग के पात्र हैं। यही रावण, कुम्भकरण, शूर्पणखा जैसे अधम पात्रों का अंकन भी हुआ है।

रामायण का प्रमुख रस करुण है। इसमें शष्टंगार के संयोग-वियोग दोनों पक्ष समाहित हुए हैं, रौद्र, अद्भुत, वीर रस की योजना भी यथास्थान हुई है। किन्तु रामायण मूलतः करुण रस प्रधान काव्य ही कहा जाता है क्योंकि सीता के परित्याग के बाद राम के हृदय की करुणा का उद्रेक ही यहाँ अधिकाधिक व्यक्त हुआ है। रामायण में अनुज्जुप् छंद का प्रयोग किया गया है।

रामायण की अभिव्यक्तियाँ प्रमाण हैं कि वाल्मीकि का भाजा का पूर्ण अधिकार है। अलंकारों की स्वाभाविक योजना, श्राब्दशक्तियों का सहज उद्रेक, पात्रानुकूल श्राब्द-संयोजन-सब मिलकर रामायण के कलापक्ष के वैभव का पता देते हैं। रामायण एक मार्गदर्शक ग्रंथ है जो आने वाले समय में अनेक ग्रंथों की आधार भूमि बना। न केवल

हिन्दी बल्कि अनेक भारतीय भाषाओं में रामायण को आधार बनाकर रचनाएँ लिखी गईं। मध्यकाल में तुलसीदास ने अवधी भाषा में रामचरितमानस लिखा, बंगला में कृत्तिवास रामायण प्राप्त है। तमिल में कम्ब रामायण उपलब्ध है। एकनाथ ने मराठी में रामायण रची है। असमिया में माधवकंदलीरामायण का सृजन हुआ तो तेलुगू में रंगनाथ रामायणम् प्राप्त है।

विष्णोज्ञताएँ

वाल्मीकि रामायण एक ऐतिहासिक वीर-काव्य है। यह कृति मानव मात्र के सामने धर्म का निर्देष्टा करने वाली है। इसमें जीवन के आदर्शों की प्रेरणादायी चर्चा समाहित है। मानवीय संस्कृति का सुंदर अंकन करने वाली यह रचना युग की राजनीतिक, सामाजिक, पारिवारिक, धार्मिक और अर्थिक सभी स्थितियों पर प्रकाशा डालती है। रामायण मानवीय आचरण के लिए नैतिकता और कर्तव्य की शिक्षा देने वाला महाकाव्य है।

रामायण में इतिहास, पुराण, सत्य, लोकश्रुतियों का मेल हुआ है। रामायण में अंकित की गई रामकथा का प्रसार केवल भारत में ही नहीं हुआ, बल्कि यह दूर देशों में भी व्याप्त है। राम कथा का प्रसार जावा, सुमात्रा, इंडोनेशिया, चीन, तिब्बत, बाली के अतिरिक्त यूरोप में भी हुआ।

रामायण को उपजीव्य-काव्य कहा जाता है। इसका अर्थ यह है कि रामायण के बाद में लिखी गई रचनाओं के लिए यह आधार-ग्रंथ बनी। भारतीय साहित्य में कितने ही नाटक, गीति-काव्य, कविता, गद्य, चम्पू रामकथा को अपना कर लिखे गए, जिनमें से किसी में इस कथा का अंश विष्णोज्ञ लिया गया है कहीं पूरी कथा का गान भी है। रामायण से प्रेरित कुछ महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हैं : रघुवंश (कालिदास), जानकीहरण (कुमारदास), रावणवध अथवा भट्टिकाव्य (भट्टि), रघुनाथ चरित (वामन भट्ट), अभिज्ञेक तथा प्रतिमा नाटक (भास), बालरामायण (राजशेखर), प्रसन्न-राघव (जयदेव), आदि।

राम-कथा के संदर्भ में हिन्दी कविता के आधुनिक युग में प्रसिद्ध कवि मैथिलीशरण गुप्त ने लिखा :

**राम तुम्हारा चरित स्वयं ही काव्य है
कोई कवि बन जाए सहज संभाव्य है।**

ये पंक्तियाँ उस राम-कथा के महत्त्व को समझने और आत्मसात करने के लिए प्रेरित हैं, जो वाल्मीकि-रामायण का आधार है। राम-कथा की लोकप्रियता का प्रमाण विविध शैलियों में उसका प्रस्तुतीकरण होना भी है। रामकथा-प्रवचन, गायन, रामलीला, लोकगीत और नृत्य आदि कई शैलियों में आज भी प्रस्तुत की जाती है। यह रामकथा वाल्मीकि रामायण से ही गृहीत है।

रामायण के महत्त्व के तीन कारण और भी हैं, वे हैं—उसका काव्य-सौंदर्य, उसकी भाषा-शिल्प-शैली की परिष्कृति और वह सांस्कृतिक महत्त्व जो चरितनायक राम के शिष्टाचार, सत्यनिष्ठा, आदर्श-जीवनसंबंधों से अभिव्यक्त हुआ है। राम एक अनुकरणीय आदर्श महापुरुष की भूमिका में जन-जन के मन में बस गए।

कहा जाता है कि भारतीय संस्कृति ही राम है और राम ही भारतीय संस्कृति है। भोग और त्याग दोनों पर यह संस्कृति आधृष्ट है। इसे परिष्कृत करने में वाल्मीकि रामायण का अद्भुत योगदान है। राम पिता की आज्ञा के पालन का आदर्श स्थापित कर वन को गए। दशरथ दिए गए वचन का पालन करते हुए परलोक सिधारे। भरत ने पूरे साम्राज्य का निजोध अपने मनोनिर्मित आदर्श का पालन करने के लिए कर दिया। सीता अयोध्या के विलासपूर्ण जीवन का त्याग कर वन को चल दी। त्याग का ऐसा अनूठा आदर्श रामायण के सिवा और कहाँ है?

वाल्मीकि के राम

रामायण का केन्द्र राम का चरित्र है। रामायण के श्लाघ्य प्रभाव का कारण राम की चरित्र-व्यंजना है। रामायण

में वीर-रस की प्रधानता है, युद्धों का विष्ठाद् वर्णन है। लेकिन रामायण का सार राम-रावण युद्ध नहीं है, वीरोचित उत्साह का वर्णन नहीं है। रामायण किसी देवता के गुणगान पर आधारित कृति नहीं है। यह तो राम के मानव रूप की कथा है, जिसमें पारिवारिक और गृहस्थ जीवन का सत्य अवतरित किया गया है। राम के परिवार तथा उनके परिवेष्टा से जुड़े कथा-प्रसंग लोक जीवन, सामान्य जन की संस्कृति, विचारधारा, विष्टवास, भावनाएँ और रीतिरिवाज सहज रूप में अंकित हैं।

वाल्मीकि के राम मानव हैं, ब्रह्म नहीं। वाल्मीकि रामायण में महापुरुष राम की कहानी का भावपूर्ण अंकन है। राम नरश्रेष्ठ हैं, जो दीनों के हितकारी और रक्षक की भूमिका में अवतरित होकर दुष्टों का संहार करते हैं। वाल्मीकि के राम आदर्श राजा, पुत्र, भाई, सखा और पति हैं। वे मानव मात्र को अपने जीवन द्वारा दिष्टा दिखाने वाले हैं। राम के कई रूप हैं : परिवारी राम, योद्धा राम, शरणगत-वत्सल राम और इन सभी रूपों में वे मन मोह लेते हैं।

वे प्रजा हितैजी आज्ञाकारी पुत्र, स्नेही भाई, संवेदनशील पति और विपत्ति में सबके सहायक हैं। प्रजा की सुख-शान्ति के लिए दुष्टों के संहार में तत्पर होते हैं, लोक-कल्याणकारी नीति बनाते हैं, उनका पालन भी करते हैं। पिता की आज्ञा शिरोधार्य कर वन को जाते हैं, शरणगत वत्सल राम विभीषण और सुग्रीव को शरण में लेते हैं। उनका चरित उदात्त है। वे शक्ति, शील और सौंदर्य का साकार रूप हैं। वे न केवल तन बल्कि मन से भी सुंदर हैं। उनकी महिमा का कारण सत्य की रक्षा और प्रतिज्ञा का पालन करना है। उन्हें मोह या अज्ञान नहीं व्यापता। उनके सामने अयोध्या लौटने और सिंहासन पर विराजमान होने के आग्रह थे, किन्तु वे जरा भी विचलित न हुए।

मर्यादा-पुरुषोत्तम राम जीवन की कठिनाइयों के बीच तपते हुए सोने की तरह खरे निकल आते हैं। भीतरी और बाहरी संघर्षों के बीच वे विजेता बनकर प्रकट होते हैं। वे हर परिस्थिति में अपनी सदाश्रयता को बचाए रखते हैं। वे सामान्यजन की तरह जीवन के उतार-चढ़ावों को झेलते हैं। साधारण जन की तरह सीता के लिए विलाप करते हैं, लक्ष्मण को शक्ति लगने पर दुखी होते हैं।

वाल्मीकि के राम की विष्टोज्ञता यह भी है कि वे सदैव सबका हित चाहते हैं, पर जो उनका बुरा करता है, उस अप्रिय प्रसंग को वे सहज ही भुला देते हैं। रावण की मष्ट्यु पर राम का कथन इसका प्रमाण है। वे विभीषण से कहते हैं : शत्रु की मष्ट्यु के साथ ही वैर का अंत हो जाता है। रावण के अंतिम संस्कार की तैयारी करो, वह मेरा भी वैसा ही अपना है जैसा तुम्हारा। वे वीर हैं, पर घमण्ड कभी नहीं करते। मष्ट्युभाजी और सत्यवक्ता हैं। उनकी वीरता, शौर्य और पराक्रम मर्यादा का निर्वाह करने में, नारी का सम्मान करने में, राक्षसों का वध करने में, मुनिजनों की रक्षा करने में प्रकट हुए हैं।

पाठ्य-क्रम में निर्धारित अंश (बालिवध प्रसंग) : पष्टभूमि

बालिवध-प्रसंग

इस काण्ड की कथा के विस्तार की पष्टभूमि यह है कि 14 वर्ज का वनवास मिलने पर वन में विचरण करते राम, लक्ष्मण और सीता एक समय पंचवटी में कुटी बनाकर रहते थे। एक रात वहाँ पहुँचकर रावण की बहन शूर्पणखा ने राम-लक्ष्मण से प्रणय-निवेदन किया। दोनों से तिरस्कृत होने तथा लक्ष्मण द्वारा नाक-कान काट लिए जाने पर वह भाई रावण से शिकायत करती है। क्रुद्ध रावण बदले की भावना से जाडयंत्र रचकर सीता को हर लेता है।

सीता के वियोग में बहुत दुखी राम सीता की खोज में घने वनों में जाते हैं। एक समय सीता को खोजते हुए वे ऋज्यमूक पर्वत के पास पहुँचते हैं। इस पर्वत पर वानर-राज सुग्रीव का वास था, वह अपने ही भाई बालि के हाथों सताया जाकर अपने मंत्रियों सहित यहाँ रहता था। राम-लक्ष्मण को देखकर वह भयभीत हो गया, उसके मन में यह शंका हुई कि बालि ने इन दोनों धनुजधारी वीरों को-मेरे विरुद्ध युद्ध करने और मेरा वध करने के लिए ही भेजा है। सुग्रीव को चिन्तित देखकर उनके मंत्री हनुमान ने उनकी चिन्ता का कारण पूछा। सुग्रीव ने कहा कि मुझे ऐसा लगता

है कि शायद ये बालि के भेजे गए गुप्तचर हैं जो तपस्वियों का वेज बनाकर हमारी खोज में आए हैं। हमें ठीक तैयारी रखनी चाहिए अन्यथा हम सब बालि के हाथों मारे जाएंगे। तब सुग्रीव ने हनुमान को वेष्टा बदलकर तपस्वी के रूप में सब जानकारी लेने के लिए राम-लक्ष्मण के पास भेजा। उनके पास पहुँचकर हनुमान ने बहुत कोमल स्वर में अपना परिचय दिया, सुग्रीव का दुख बताया कि कैसे बड़े भाई द्वारा घर से निकाल दिए जाने पर वे पर्वत पर रहते हैं और राम-लक्ष्मण से उनका परिचय पूछा। वानरराज सुग्रीव के मंत्री हनुमान के वचनों से संतुष्ट राम की आज्ञा से लक्ष्मण ने हनुमान को अपना परिचय दिया और सीता-हरण की कथा सुनाई और सुग्रीव से सहायता की आकांक्षा व्यक्त की।

लक्ष्मण के वचनों से सीता हरण की कथा जानकर हनुमान ने कहा कि जिस प्रकार आप विपत्ति में हैं, उसी प्रकार सुग्रीव पर भी विपत्ति के बादल छाए हुए हैं। बड़े भाई बालि ने उनकी पत्नी का अपहरण करके उन्हें राज्य से निकाल दिया है। वे इस सूने पर्वत पर रहते हैं, पर फिर भी वे आपकी हर सहायता करेंगे। तब हनुमान आदर सहित राम-लक्ष्मण को सुग्रीव के पास ले गए। सुग्रीव ने भी राम के प्रति सहानुभूति प्रकट की और सीता की खोज में मदद का भरोसा दिलाया। सुग्रीव ने राम के सामने अपने दुख को प्रकट करते हुए बालि द्वारा सताए जाने की कथा भी कही। सुग्रीव ने कहा कि बालि बड़ा बलवान है। उसके भय से मैं रात-दिन बेचैन रहता हूँ। यह सुनकर राम ने सुग्रीव को बालि से बचाने का आश्वासन दिया। किन्तु सुग्रीव ने कहा कि मुझे विष्टवास नहीं होता कि आप परम शक्तिशाली बालि से मुझे बचा पाएंगे और उसे मार पाएंगे। तब लक्ष्मण ने राम की शक्ति और क्षमता के विज्ञय में सुग्रीव की शंका का निवारण किया। सुग्रीव का दुख जानकर राम ने बालि-वध का निश्चय किया।

पाठ्यक्रम में निर्धारित अंश इसी पञ्चमभूमि पर आधृत है। किञ्चिन्धा पहुँचकर राम ने सुग्रीव से कहा कि वह निर्भय होकर बालि से लड़े, वे उसकी मदद के लिए आएंगे। राम के वचनों से उत्साहित होकर सुग्रीव ने बालि को युद्ध करने के लिए ललकारा। दोनों के बीच घनघोर युद्ध छिड़ गया। एक समान रूप होने के कारण राम सुग्रीव को न पहचान सके। इसलिए उन्होंने बाण नहीं चलाया। बालि की मार न सह सकने के कारण आहत सुग्रीव भाग कर ऋज्यमूक पर्वत पर आया और वहाँ राम को उलाहना देने लगा कि आपके कारण आज मैं मष्ट्यु के मुख में ही चला जाता, आप मेरी रक्षा को आगे क्यों नहीं आए? तब राम ने स्पष्ट किया कि समान रंगरूप होने के कारण वे कौन बालि, कौन सुग्रीव—यह पहचान ही नहीं पाए। उन्होंने इस बार सुग्रीव के गले में पुष्प-युक्त लता डलवा दी ताकि पहचानने में कोई भूल न हो।

दूसरी बार युद्ध के लिए सुग्रीव की ललकार सुनकर बालि जब युद्ध के लिए आने लगा तो उसकी पत्नी तारा ने रोका और कहा कि शायद राम-लक्ष्मण के सहयोग के बल पर सुग्रीव आपको ललकार रहा है और वे तो अजेय योद्धा हैं, इसलिए मेरा मन शकित हो रहा है। आप युद्ध के बजाए भाई से सुलह कर लें। लेकिन बालि ने पत्नी की कायरता को धिक्कारा तथा राम के धर्मात्मा होने का विष्टवास दिलाया। और युद्ध करने चला गया। लेकिन इस बार युद्धरत सुग्रीव के कमजोर पड़ने पर राम उसकी मदद को आए और जूझते हुए बालि पर उन्होंने छिपकर बाण चला दिया। बालि पीड़ा से कराहता हुआ बेसुध होकर कटे वृक्ष की तरह धरती पर गिर पड़ा। धराशायी होने के बावजूद बालि का तेज कम न हुआ था। बालि की वीरता का विष्टेज सम्मान करते हुए राम और लक्ष्मण उसके पास गए।

जब चेतना लौटी तो बालि ने राम-लक्ष्मण को अपने सामने देखा। राम के तीर से आहत बालि इस गलत कार्य के लिए राम की बहुत निंदा करता है, किञ्चिन्धा-कांड के 17वें सर्ग में बालि का राम के प्रति आक्रोश लगातार व्यक्त होता है। वह धर्म और विनय से युक्त कठोर वाणी में कहता है :

‘मैं आपसे युद्ध करने नहीं आया था, मैं तो दूसरे के साथ युद्ध में उलझा हुआ था। उस समय आपने मुझ पर वार क्यों किया? असावधान अवस्था में मुझे अपने बाण से बेधा यह उचित नहीं था। आप धर्म का दिखावा करते हैं। आप राख से ढकी आग की तरह हैं। आपने मुझ निरपराध को क्यों मारा?’

इस पृथ्वी पर आपके यज्ञ का गान किया जाता है, आपके सद्गुणों का भरोसा करके मैं पत्नी के मना करने पर भी युद्ध करने आया। आज मुझे मालूम हुआ कि आपका बाहरी रूप बड़ा प्रभावशाली है, पर आप धर्म के नाम पर दिखावा करने वाले हैं, वास्तव में आप अधर्मी हैं। आप घास से ढके कुएँ के समान धोखा देने वाले हैं। ऐसा क्रूर कार्य कौन करेगा जैसा आपने किया?

बालि कहता है कि राजा के गुण हैं : क्षमा, धैर्य, सत्य, पराक्रम तथा अपराधियों को दण्ड देना। इस संसार में युद्ध और कलह के कारण पृथ्वी और धन-संपत्ति हैं। किन्तु हम तो फल-फूल खाने वाले वनचारी हैं, हमारे जीवन से आपका कौन-सा लोभ पूरा होता है? राजा को स्वेच्छाचारी नहीं होना चाहिए। लेकिन आपमें नीति का कोई विचार नहीं है। आप धर्म का आदर नहीं करते। अब आप सज्जनों के बीच अपने कर्म की क्या व्याख्या देंगे?

आप दुष्ट, क्षुद्र और झूठे छान्तिचिन्त बने रहते हैं। आपने धर्म और मर्यादा को तोड़ा है। क्या आपके पास मुझे इस तरह छल से मार देने के पक्ष में कोई उत्तर है?

18वें सर्ग में राम बालि के प्रश्नों का उत्तर देते हैं। वे उसे दिए गए दण्ड का औचित्य बताते हैं। तब बालि सत्य समझकर राम से क्षमा-याचना करता है।

राम ने अपना पक्ष स्पष्ट करते हुए बालि को इस प्रकार उत्तर देकर समझाया : राजा अपनी प्रजा का पालन करने के साथ-साथ उसे दण्ड देने का अधिकारी भी है। राम ने कहा कि इस समय सत्यवादी, नीतिवादी और धर्मात्मा राजा भरत दुष्टों के दलन और सज्जनों के हित में संलग्न हैं। उन्हीं से यह आदेश प्राप्त है कि धर्म के विरुद्ध आचरण को रोका जाए। अतः हम धर्म-मार्ग से भ्रष्ट को दण्डित करने में भरत की आज्ञा का पालन ही करते हैं।

तुम्हारे जीवन में कामनाओं की प्रधानता हो गई है, तुम धर्म-भावना से दूर हो गए हो, तुम बुरे काम करने के बाद भी केवल क्रोधवृष्टि मेरी निंदा कर रहे हो। जिस प्रकार बड़ा भाई पिता के समान होता है वैसे ही छोटा भाई पुत्र के समान होता है। लेकिन बालि! तुमने इस मान्यता के विरुद्ध आचरण करते हुए छोटे भाई की पत्नी का न केवल अपहरण किया है, बल्कि उसका उपभोग भी करते हो। छोटे भाई की पत्नी जो तुम्हारी पुत्रवधू के समान है, उसके प्रति पापपूर्ण आचरण के कारण तुम्हें दण्ड दिया गया है।

तुम धर्म-भ्रष्ट और स्वेच्छाचारी हो गए हो, तुम्हारा आचरण लोकविरुद्ध है, इसका दण्ड तुम्हारा वध ही है। तुम्हारा आचरण धर्म विरुद्ध है और मेरा धर्मानुकूल। मेरी प्रतिज्ञा सुग्रीव की सहायता करना है, मैं उससे दूर कैसे हट सकता हूँ? विवश होकर मुझे तुम्हें दण्ड देना पड़ रहा है। यदि तुम राजा होते तो यही धर्माचरण तुम्हें भी करना पड़ता।

राम बालि को यह भी समझाते हैं कि पापी मनुज्य दण्ड पाकर शुद्ध होता है। यदि राजा पापी को दण्ड न दे तो वह पाप का भागी होता है। अतः तुम पृथ्वीचाराप न करो, तुम्हारा वध धर्मानुकूल ही है।

राम कहते हैं कि हे बालि! अपने वध का दूसरा कारण भी तुम जान लो। क्षत्रिय राजा श्लिकार करने पर दोषी नहीं कहा जाता। तुम छात्रामृग हो और मृगया का क्षत्रिय को अधिकार है। तुम व्यर्थ रोज़ न करो।

राम के मुख से यह सुनकर बालि ने बहुत दुखी होकर उनसे कहा : मुझे कोई संशय नहीं है कि आपका कथन सत्य है। आपकी बुद्धि निर्मल है। मैंने पहले प्रमादवृष्टि आपको बहुत कुछ अनुचित कह दिया, आप क्षमा करें। जीवन के इस अंत समय में मुझे केवल पुत्र अंगद की चिंता है। वह बालक है, उसकी बुद्धि अपरिपक्व है। आप उसकी रक्षा करना, उसके प्रति सद्भाव रखना, मेरी आपसे यही विनती है। उसे कर्तव्य-अकर्तव्य बताना। आप इस बात का भी ध्यान रखना कि मेरी पत्नी तारा का तिरस्कार न हो।

अंततः बालि यह रहस्योद्घाटन करता है कि वह राम के हाथों ही अपनी मष्ट्यु चाहता था, इसीलिए पत्नी तारा के मना करने पर भी वह सुग्रीव से द्वन्द्वयुद्ध करने आया। राम ने बालि से कहा कि तुम दुख न करो, जो

धर्मानुकूल है हम वही करेंगे।

समीक्षा

इस तरह रामायण का 'बालिवध प्रसंग' कई कई-वितर्कों के बीच से उभरता हुआ, महर्षि वाल्मीकि के सामयिक विचारसूत्रों का गंभीर आलेख बन जाता है। इस प्रसंग में उनके समय की दण्डनीति की विघ्नद व्यंजना हुई है। बालि द्वारा राजा के जिन गुणों को विस्तार से बताया गया है, वे हैं : इन्द्रियनिग्रह, क्षमा, धर्म, धैर्य, सत्य, पराक्रम और अपराधियों को दण्ड देना। नीति और विनय भी राजधर्म हैं, ऐसा बालि कहता है।

बुरे कृत्यों के कारण नरक जाने वालों का उल्लेख भी बालि करता है : राजा का वध करने वाला, ब्रह्महत्यारा, गोघाती, चोर, हिंसक, नास्तिक, लोभी मित्र-हत्यारा और गुरुपत्नीगामी-ये सभी नरक को जाते हैं।

जब राम कहते हैं कि इस विधान से हम दोनों का कर्तव्य पूरा हुआ—तुमने दण्ड पाया और मैंने दण्ड दिया, तो इससे उनके चरित्र की गरिमा का ही बोध होता है। राम भारतीय साहित्य में आदर्श माने जाते हैं, स्वाभाविक रूप से इस प्रसंग में वे मित्र-धर्म का निर्वाह करते देखे जाते हैं। राम-कथा में यह साक्ष्य है कि एक बार जो उनका मित्र बना वह सदा बना रहा। मित्र के लिए सब त्यागने को राम सदैव तत्पर रहे।

सुग्रीव के पक्ष में यह आदर्श चरितार्थ हुआ, पर बालि के संदर्भ में राम का यह आदर्श कहाँ तक व्यक्त होता है? यह एक विचारणीय प्रश्न है। राम के चरित्र की उदात्तता के संदर्भ में रामायण का बालिवध प्रसंग पर्याप्त आलोचना का विजय भी रहा है, ठीक उसी तरह जैसे शंभूक का वध। सतही रूप से देखने पर ऐसे प्रसंग विचलित करते हैं, किन्तु कवि की दृष्टि इन प्रसंगों की गहराई में पैठकर किसी-न-किसी भाव का मोती चुन लाने की है। बालि वध प्रसंग में भी राम द्वारा दिया गया स्पष्टीकरण बालि को भी स्वीकार्य है और सहृदय पाठक को भी।

यह अंश रामायण का एक मार्मिक प्रसंग है। वाल्मीकि की लेखनी सधे हुए किन्तु संवेदनशील तरीके से इस प्रसंग का निर्वाह करती है। उनकी भाषा की शक्ति देखते ही बनती है। दोनों ही पक्षों के तर्क प्रभावशाली ढंग से प्रकट किए गए हैं। बालि राम को—घास-फूस से ढके कूप के समान, राख से ढकी आग के समान देखता है। वह आत्म-प्रशंसा का अवसर भी हाथ से नहीं जाने देना चाहता, इसलिए राम से कहता है—यदि आप मुझसे सामने रहकर युद्ध करते, मुझ पर छिपकर वार न करते तो अवश्य स्वर्गारोहण कर गए होते अर्थात् मेरे हाथों अवश्य मारे जाते। मैं दुर्जय वीर हूँ। आपने मुझे ऐसे मारा जैसे कोई सोया हुआ व्यक्ति साँप के डसने से मरे।

वाल्मीकि की उपमा और उत्प्रेक्षा रोचक, प्रभाव और भावपूर्ण हैं; कवि कहता है कि घायल बालि ऐसा लगता था जैसे इन्द्र के बंधनरहित ध्वज, संध्या की लाली से रंगे मेघखंड, ज्वालारहित अग्नि, प्रभाहीन सूर्य, जलहीन बादल और बुझी हुई आग हो।

वाल्मीकि के समय का समाज

रामायण में अपने समय के समाज पर टिप्पणियाँ मौजूद हैं। बुरे कर्म नरक ले जाते हैं, उस समय के समाज की इस सोच को बालि का यह कथन रेखांकित करता है :

चुगली खाने वाला, लोभी और मित्र का हत्यारा तथा गुरुपत्नीगामी ये पापी के कर्म हैं और इनको करने वाला नरक जाता है। उस समय के समाज में भी धन और सम्पत्ति ही क्लेश का कारण थी, यह भी बोध होता है। बालि कहता है :

'पृथ्वी, सोना और चाँदी—इन्हीं वस्तुओं के लिए राजाओं में परस्पर युद्ध होते हैं।'

रामायण की सीधी सरल अभिव्यक्ति और महान् आदर्श-व्यंजन इस ग्रंथ को सदा स्मृति में बसने योग्य बनाते हैं। पंडित जवाहर लाल नेहरू ने रामायण (साथ ही महाभारत) के महत्त्व को रूपायित करते हुए लिखा है—

they are still a living force in the life of the Indian people. Not in the original Sanskrit,... but in translations and adaptations, and in those innumerable ways in which tradition and legend spread and become a part of the texture of a people's life (The discovery of India : page : 99-100)

प्रासंगिकता/सार्थकता

इस प्रसंग के संदर्भ में ध्यान देने लायक तथ्य यह भी है कि बालि के द्वारा उठाए गए प्रश्नों और संदेहों को मानवीय तथा तर्क की दृष्टि से समझना भी बहुत जरूरी है। बालि की शंका यह है कि राम ने छिपकर मेरा वध क्यों किया? उन्हें धर्म की लड़ाई और सत्य की रक्षा करनी ही थी तो वे सामने आकर मुझे मार सकते थे। उनके शक्तिशाली रूप और मर्यादा का निर्वाह छिपकर मारने से कैसे हो सकता है? बालि की समस्या यह भी है कि यदि मैं योद्धा हूँ, वीर और पराक्रमी हूँ शक्ति सम्पन्न हूँ तो मुझे वीर और पराक्रमी के समान प्रत्यक्ष युद्ध करते हुए मारना चाहिए था। इसीलिए उसने राम को 'घास-फूस से ढके कूप' और 'राख से ढकी आग' के समान कहा है।

आज हम यदि बौद्धिक दृष्टि से समझने की कोशिश करें तो एक सीमा तक बालि का तर्क और विचार ठीक ही लगता है कि वीरों की पहचान वीरतापूर्ण ढंग और क्रियाकलाप होती है न कि अधर्म और अनीति का सहारा लेते हुए धर्म का दिखावा करना। बालि की जिज्ञासा यह भी रही कि द्वेष और बैर तो मुझे अपने भाई सुग्रीव के साथ है पर राम ने उसे बिना किसी कारण के अपना बैरी क्यों समझ लिया? ध्यान देने की बात यह है कि बालि के पक्ष को हम एक दम नजरअंदाज भी नहीं कर सकते। यह भी समझना होगा कि बालि को जिस अजेयता का वरदान प्राप्त था, उसका उसने सदुपयोग न करके दुरुपयोग ही किया। वरदान के घमण्ड में उसने स्वयं भी मानवीयता और अमानवीयता का अंतर भुला दिया। उसने भी नीति और कर्तव्य तथा सहज लोक-व्यवहार की सीमाओं का उल्लंघन किया। इसलिए उसे राम द्वारा जो दण्ड मिला उसमें बालि को नीति के उल्लंघन का स्वरूप देखने का कोई हक नहीं है। यही कारण है कि अपने सारे प्रश्नों, शंकाओं और समस्याओं को वह राम से वार्तालाप के बाद तब समझ पाता है जब वह मष्ट्यु श्रौया पर पड़ा है।

यह तथ्य आज भी उतना ही समझने लायक है। हम जब कभी ग्रामग्रामभूमि में किसी इज्जत-मित्र को अंतिम विदाई दे रहे होते हैं अथवा किसी को घनघोर दुखदर्द में पड़े देखते या कभी-कभी किसी धार्मिक अनुष्ठान में लगे होते हैं—तभी हमें श्रायद धर्म, नीति, कर्तव्य-अकर्तव्य या लोक व्यवहार की बातें सूझती हैं। अन्यथा आम जीवन में हम श्रायद इन सब बातों को जानते हुए भी भुलाए रखते हैं और मन चाहा रास्ता मन चाहे रूप में तय करते जाते हैं। मानवाधिकार और लोकव्यवहार की चिंता नहीं होती।

इसलिए 'बालिवध प्रसंग' के द्वारा आम आदमी को बालि के प्रश्नों और शंका के माध्यम से व्यक्ति के चरित्र-व्यक्तित्व और कृतित्व के तालमेल को समझने और समझाने की जरूरत महसूस करनी चाहिए। आज के परमाणु होड़ तथा प्रभुसत्ता-सम्पन्न विज्ञान और टैक्नोलॉजी के युग में तो इस पर जरूर ध्यान दिया जाना चाहिए कि हम अपने अहं, वरदान और शक्ति का दुरुपयोग न करके उसे संरचनात्मक उपयोग में लाए ताकि मानव-अधिकारों की रक्षा और विकास हो सके।

अभ्यास-प्रश्न

1. 'बाल्मीकि के राम' शीर्षक पर संक्षिप्त आलेख लिखें।
2. मष्ट्यु के निकट पहुँचे बालि ने राम से क्या कहा?
3. राम ने बालि के प्रश्नों का क्या उत्तर दिया?
4. रामायण को विकसनशील महाकाव्य क्यों कहते हैं?
5. रामायण का रचनाकाल क्या है?
6. वर्तमान समय में बालि के प्रश्नों की सार्थकता पर विचार करें।
7. रामकथा में बालिवध प्रसंग का स्थान निर्धारित कीजिए।
8. क्या बालि के प्रति राम का व्यवहार सर्वथा उचित था?
9. बालि को दिए गए राम के उत्तर क्या आपको संतुष्ट कर पाते हैं? स्पष्ट कीजिए।

10. क्या यह प्रसंग राम के चरित्र पर एक प्रष्ठन-चिह्न की तरह है? मूल्यांकन कीजिए।

संदर्भ-ग्रंथ

- | | |
|------------------------------------|-----------------------|
| 1. रामकथा | फादर कामिल बुल्के |
| 2. संस्कृत साहित्य का इतिहास | आचार्य बलदेव उपाध्याय |
| 3. संस्कृत साहित्य का इतिहास | कपिलदेव द्विवेदी |
| 4. हिन्दी साहित्य की भूमिका | हजारी प्रसाद द्विवेदी |
| 5. भारतीय साहित्य का समेकित इतिहास | संपादक : डॉ नगेन्द्र |

2. महाभारत : एकलव्य प्रसंग

डॉ. विजया सती

‘महाभारत’ भारत का एक प्रमुख काव्य-ग्रंथ है। महाभारत न केवल एक काव्य-ग्रंथ है, बल्कि धर्म, इतिहास, पुराण और दर्शन राजनीति, कूटनीति, लोक-व्यवहार नीति और मानव-धर्म-नीति का अनूठा सार-संग्रह भी है। महाभारत को विष्टव में सर्वाधिक वष्टहद् आकार की कृति की मान्यता प्राप्त है। प्रसिद्ध जर्मन विद्वान विण्टरनिट्ज ने कहा है कि महाभारत अपने-आप में सम्पूर्ण-समग्र साहित्य (whole literature) है। (हिन्दी साहित्य की भूमिका : डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी : पष्ठ 139)।

महाभारत जैसे विष्णाल ग्रंथ का यह आकार एक ही बार में नहीं बना। समय-समय पर इसमें परिवर्तन-परिवर्धन होते रहे। यद्यपि महाभारत के रचयिता वेदव्यास माने जाते हैं, किन्तु महाभारत केवल एक कवि की रचना नहीं है, अन्य रचनाकारों ने भी इसके आकार-वर्धन में भूमिका अवष्टय निभाई है। कहा जाता है कि महाभारत को वेदव्यास ने बोलकर गणेषु से खिलवाया। इसके कई संस्करण हैं, इसलिए बहुत-सी घटनाएँ और प्रसंग अलग-अलग रूपों में अंकित हुए हैं। महाभारत अधर्म के नाष्ठा और धर्म की स्थापना का उद्घोष्क ग्रंथ है। हिन्दु संस्कृति के पाँच प्रमुख ग्रंथ महाभारत में समाहित हैं—गजेन्द्र मोक्ष, भीष्मराजस्तव, विष्णुसहस्रनाम, गीता तथा अनुगीता। इन ‘पंचरत्नों’ की समाहित के कारण महाभारत को ‘पंचम वेद’ भी कहा जाता है। इसकी विविधता और विस्तार को देखकर यह कहा जाता है कि, ‘जो कुछ महाभारत में है वह ही अन्यत्र है। पर जो कुछ इसमें नहीं है, वह अन्यत्र कहीं भी नहीं है।’

महाभारत के दो पाठ मिलते हैं : उत्तर भारत का पाठ और दक्षिण भारत का पाठ।

विकास के चरण

महाभारत के अध्ययन से ज्ञात होता है कि इसका प्रारंभिक रूप संक्षिप्त रहा होगा, शायद कौरव-पांडव युद्ध ही। लेकिन बाद में यहाँ समाज, अर्थ, नीति, राजनीति, धर्म आदि पक्षों का समावेष्ठा होता चला गया। राजाओं और वीरों की गाथाएँ भी आ गईं। इस प्रकार अपने वर्तमान रूप में आने से पहले महाभारत को तीन चरणों में विकसित माना जाता है—**पहले चरण** में महाभारत ‘जयकाव्य’ कहलाता था, तब इसमें आठ हजार से अधिक ष्टलोक थे। **दूसरे चरण** में यह ‘भारत’ कहलाया और ष्टलोक संख्या चौबीस हजार हो गई। **तीसरे और अंतिम चरण** में यह ‘महाभारत’ कहलाया तथा ष्टलोक की संख्या एक लाख हो गई।

महाभारत का प्रथम मौलिक रूप जो **जय** के नाम से विख्यात है, तथा जिसमें कौरवों पर पांडवों की विजय दिखाई गई है, उस कथा को व्यासदेव ने अपने ष्टिष्ण्य वैष्णाम्पायन को सुनाया। विकास के दूसरे चरण **भारत** में अर्जुन के प्रपौत्र जनमेजय ने जो नागयज्ञ किया उसमें वैष्णाम्पायन ने यह कथा सुनाई। श्रौनक ऋजि ने नैमिष्णरण्य में बड़े यज्ञ का आयोजन किया जो बारह वर्ज तक चला। सर्पयज्ञ में लोमहर्जण के पुत्र सौति ने वैष्णाम्पायन से जो **महाभारत** कथा सुनी थी, उन्हीं सौति ने श्रौनक ऋजि के इस यज्ञ में ऋजियों के आग्रह पर यह कथा सुनाई। इस तरह ‘सारा महाभारत वैष्णाम्पायन और जनमेजय के संवाद रूप में कहा गया है। इन्हीं संवादों के भीतर अन्यान्य चरित्रों के संवाद होते रहते हैं। ख्र युद्ध की सारी कथा, जिसे महाभारत का केन्द्र कहा जा सकता है, संजय ने धृतराष्ट्र को सुनाई है।’ (हिन्दी साहित्य की भूमिका : हजारी प्रसाद द्विवेदी : पृष्ठ 140)

रचना-काल

रामायण की ही तरह महाभारत का रचनाकाल भी विवादास्पद है। ईसा पूर्व चौथी शताब्दी तक महाभारत की सत्ता का प्रमाण नहीं मिलता। ईसा पूर्व चौथी शताब्दी से ईस्वी सन् के बाद की चौथी शताब्दी तक महाभारत का रूप बनता रहा। इस समय महाभारत को यह वर्तमान रूप मिला। सारे महाभारत का काल भी एक नहीं है। संभव है कि 'जय काव्य' की रचना चौथी शताब्दी (ई. पू.) के आस-पास हुई और फिर इसका विकसित रूप 'भारत' और 'महाभारत' हो गया हो।

कथा-विकास

महाभारत की कथा का विस्तार 18 पर्वों में हुआ है, महाभारत के खण्डों को पर्व कहते हैं, जिनके नाम और उनमें अंकित कथा इस प्रकार हैं—

आदिपर्व में कौरवों और पांडवों के उदय की कहानी अंकित है। द्रौपदी स्वयंवर तथा विवाह के बाद पाण्डव हस्तिनापुर आ जाते हैं। आधा राज्य प्राप्त कर इन्द्रप्रस्थ को राजधानी बनाते हैं।

सभापर्व में कौरवों द्वारा आयोजित द्यूतक्रीड़ा का वर्णन हुआ है, इसी पर्व में द्रौपदी का चीरहरण तथा पाण्डवों का बनवास होता है।

वनपर्व में पाण्डवों के बारह वर्ष तक वन में रहने का अंकन है, **विराटपर्व** में पाण्डवों के वेष्टा बदलकर राजा विराट के राज्य में अज्ञातवास की कथा है।

उद्योगपर्व में पाण्डवों को आधा राज्य दिलाने के लिए कृष्ण दूत बनकर कौरवों के पास जाते हैं, कौरव संधि-प्रस्ताव नहीं मानते, दोनों पक्ष युद्ध की तैयारी करते हैं। **भीष्मपर्व** में युद्ध आरंभ होने पर शत्रु पक्ष में गुरुजनों और परिवारजनों को देखकर अर्जुन की व्याकुलता अंकित है, यहीं कृष्ण द्वारा अर्जुन को गीता का उपदेश तथा अन्य नैतिक कथन भी समाहित हैं। युद्ध के दसवें दिन आहत भीष्म पितामह का शरणाग्र पर शयन वर्णित है।

द्रोणपर्व में कौरवों द्वारा चक्रव्यूह में अभिमन्यु की हत्या, दुखित अर्जुन द्वारा जयद्रथवध, कौरवों द्वारा घटोत्कचवध और गुरु द्रोण के वध की कहानी आती है। **कर्णपर्व** में कर्ण कौरवों के सेनापति बनाए जाते हैं, उनका वध भी इसी पर्व में हो जाता है। **शल्यपर्व** में सेनापति शल्य हैं, उनका भी वध हो जाता है। **सौप्तिकपर्व** में यह वर्णन है कि अष्टवत्सामा सोते हुए पाण्डवों का धोखे से वध कर देता है। **स्त्री पर्व** में गांधारी तथा अन्य कुरुवंशी नारियों का रुदन है, **शान्ति पर्व** में शरणाग्र पर लेटे भीष्म पितामह से युधिष्ठिर के राज्य और मोक्ष संबंधी ढेरों प्रश्न और पितामह के तर्कपूर्ण उत्तर अंकित किए गए हैं। यह महाभारत का सबसे बड़ा पर्व है। **अनुशासन पर्व** में भीष्म द्वारा धर्म, दर्शन, नीति पर किए गए उपदेशों का कुछ और विस्तार है तथा शरणाग्र पर पड़े भीष्मपितामह का देहत्याग भी यहाँ वर्णित है।

आश्रवमैथिक पर्व में युधिष्ठिर का राज्याभिषेक और अष्टवमेध यज्ञ किए जाने की कथा आती है। **आश्रमवासिकपर्व** में धृतराष्ट्र-गांधारी के वानप्रस्थ आश्रम में जाने की कथा है, **मौसलपर्व** में मसूल द्वारा यादवों का नाश तथा व्याघ्र का तीर लगने से कृष्ण के अवसान का कथन है। **महाप्रस्थानिक पर्व** में पाँचों पाण्डव अर्जुन के पौत्र परीक्षित को राज्यभार सौंपकर द्रौपदी के साथ हिमालय की ओर निकल पड़ते हैं। **स्वर्गारोहणपर्व** में पाण्डवों का स्वर्ग में जाना वर्णित है।

इन अठारह पर्वों के अतिरिक्त **परिशिष्ट** की तरह महाभारत में 'हरिवंश' शीर्षक अंश है जिसमें कृष्ण-कथा का विस्तार है।

मुख्य-कथ्य

महाभारत में भरत के वंशज कौरव और पांडवों के बीच हुए युद्ध का अंकन है। धृतराष्ट्र और पांडु नाम के दो भाइयों के पुत्र कौरव और पांडव कहलाते हैं। धृतराष्ट्र जन्म से दृष्टिहीन थे, उनके सौ पुत्र थे। पाण्डु के

पाँच पुत्र युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव थे।

दुर्योधन ने छल से पाण्डवों को नष्ट करने की कोशिश की, पर वे बच गए। जब धृष्टराष्ट्र ने आधा राज्य पाण्डवों को दे दिया, तब शकुनि की सहायता से दुर्योधन ने पाण्डवों को जुए में हरा दिया। पाण्डवों को बारह वर्ष वन में वास और एक वर्ष अज्ञातवास करने का दण्ड मिलता है। तेरह वर्ष बाद जब पाण्डव लौटे तो दुर्योधन ने उनका राज्य सौंपने से इंकार कर दिया। तब महाभारत का युद्ध हुआ जो अठारह दिन चला। महाभारत में पहले सेनापति भीष्म बनते हैं, फिर गुरु द्रोण, कर्ण और युद्ध के अंत में शल्य सेनापति बनते हैं। युद्ध के बाद अष्टवत्थामा और बचे हुए कौरव सोए हुए पाण्डवों का वध कर देते हैं। पाँच पाण्डव, कृष्ण और कुछ ही को छोड़ कर सब मारे जाते हैं। युधिष्ठिर राजा बनते हैं, भीष्म उन्हें अंतिम उपदेश देते हैं। धृष्टराष्ट्र, गांधारी, कुन्ती घर त्यागकर वानप्रस्थ-आश्रम में प्रवेश कर रहे हैं। महाभारत के अंत में कृष्ण का भी अवसान हो जाता है, पांडव स्वर्ग-लोक को प्रस्थान करते हैं।

महाभारत की इस मुख्य कथा में और भी बहुत-सी कहानियाँ गुँथी हुई हैं। एक प्रमुख कथा भीष्म की है, जो कालान्तर में पितामह के नाम से जाने गए, जिन्होंने पिता शान्तनु के हित के लिए न केवल राज्य त्यागा बल्कि आजीवन विवाह न करने की वृद्ध (भीष्म) प्रतिज्ञा भी की। यहाँ दानवीर पराक्रमी कर्ण की कहानी है, धर्मराज युधिष्ठिर के उस अर्धसत्य की कहानी है जो 'नरो वा कुंजरो वा' के रूप में उच्चरित होकर महाभारत के घमासान का कारण बना। महाभारत के विष्टिष्ट पात्रों में अर्जुन का वीर-पुत्र **अभिमन्यु** है, जो चक्रव्यूह में घिरकर मृत्यु को प्राप्त होता है। **द्रौपदी** द्रुपद राजा की पुत्री और पाँचों पांडवों की पत्नी है। **द्रोण** अष्टवत्थामा के पिता और कौरवों तथा पांडवों के गुरु थे। **एकलव्य द्रोण का समर्पित शिष्य था, जिसने गुरुदक्षिणा में माँगे जाने पर अपना अँगूठा ही दे दिया।**

महाभारत एक ऐसा ग्रंथ है जिसमें और भी बहुत-सी कहानियाँ समाहित हैं। यहाँ वीरों की कहानी है, विराग और उपदेश की कहानियाँ हैं। शकुन्तला, ययाति, नहुज, नल-दमयन्ती, कच-देवयानी, सावित्री-सत्यवान जैसे पात्र यहाँ मौजूद हैं। इन पात्रों की कहानियों के अनुवाद कई भारतीय भाषाओं में हो चुके हैं, इन पर कई रचनाएँ आधारित हैं। पाश्चात्य विद्वानों ने इन भीतरी कथाओं को 'Epic within epic' या 'महाकाव्य के भीतर महाकाव्य' का नाम दिया है। (हिन्दी साहित्य की भूमिका : हजारी प्रसाद द्विवेदी : पृष्ठ 142)

महाभारत में पात्रों की संख्या बहुत है। ये पात्र सामान्य मानवीय गुण-अवगुणों का भंडार हैं। इनमें हर्ष-विजाद, घृणा-द्वेष, छल-कपट, साहस-दुस्साहस, सहनशीलता, उदारता, छल, धोखा सब विष्टोक्तताएँ दिख जाती हैं। यह कृति परस्पर विरोधी भावों का कोज है—राजधर्म-मोक्ष, अज्ञाति-ज्ञाति, कर्म-ज्ञान, विरोधी गुण, कर्म, स्वभाव वाले पात्र सब एक साथ दिखाई देते हैं—'एक ओर दुष्ट दुर्योधन है, दूसरी ओर सज्जन युधिष्ठिर, उधर तपस्वी भीष्म पितामह हैं तो दूसरी ओर-कायर शिखंडी। 'एक ओर अभिमन्यु जैसा कर्मशूर है तो दूसरी ओर अष्टवत्थामा जैसा वाक्शूर, एक ओर योगिराज श्रीकृष्ण जैसा राजनीति-विचारद है तो दूसरी ओर दुःशासन जैसा दुष्टचरित्र और नीति-विध्वंसक, एक ओर विदुर जैसा ज्ञानी और पवित्रात्मा है तो दूसरी ओर शकुनि जैसा छद्मजीवी, एक ओर भीम जैसा पराक्रमी महारथी है तो दूसरी ओर जयद्रथ जैसा कायर।' (भारतीय साहित्य का समेकित इतिहास : संपादक : डॉ. नगेन्द्र : पृष्ठ 42)

संदेश

महाभारत की कहानी जीवन के उत्थान और पतन की कहानी है, जिसका निहितार्थ हँसते-हँसते जीवन रण में कूद जाना और विजेता बनकर उभरना है। चाहे राजा हो या निरीह प्राणी—महाभारत के पात्र किसी-न-किसी निराशा से, विपत्ति से टकराए हैं, लेकिन वे फिर भी जीना चाहते हैं और जीना जानते भी हैं। वे किसी अनथक अर्थात् न थकने वाली शक्ति से भरे हैं और अपने लक्ष्य से नहीं भटकते।

ऐसे पात्रों में एक तो प्रसिद्ध अर्जुन हैं ही जो सिर्फ चिड़िया की वह आँख देख रहे थे जहाँ निष्ठाना साधना

था। दूसरे निज़ावान साधक पाठ्यक्रम के उद्धृत अंश के नायक 'एकलव्य' कहे जा सकते हैं। एकलव्य का जीवन अटूट साधना का जीवन है। कैसी भी परिस्थिति उसे विचलित नहीं करती। वह अपनी धुन का पक्का, जीवट का इंसान है जो हार नहीं मानता। परिस्थिति विपरीत थी, निराशा करने लायक पूरा वातावरण था। पर उनका मनोबल नहीं टूटा। आस्था का ऐसा प्रदर्शन, गुरु के प्रति सम्मान का यह रूप आज के समय का अकल्पनीय सत्य कहा जा सकता है। यह महाभारत का वैशिष्ट्य है जो जीवन के सकारात्मक पहलुओं से हमें जोड़ता है। कठिन परिस्थितियों में भी हमारे मनोविचलन को रोकता है। नकारात्मक तत्त्वों से जीवन की सार्थकता के गान की ओर ले जाता है।

महाभारत यह शिक्षा देता है जो युधिष्ठिर ने किया वह करणीय है, जो दुर्योधन ने किया उससे हम बचें। यहाँ पाण्डव धर्म और न्याय के प्रतीक हैं और दुर्योधन अधर्म और अन्याय का। दोनों के बीच संघर्ष की गाथा ही महाभारत है। इस संघर्ष को रोकने के लिए सभी प्रयत्नशील थे—भीष्म पितामह, कृष्ण, विदुर और गुरु द्रोणाचार्य भी। सभी ने दुर्योधन को धर्म की ओर प्रवृत्त करने का प्रयास किया। किन्तु वह माना नहीं और अन्ततः नष्ट हो गया।

छारण्य पर लेटे भीष्म पितामह धर्मराज युधिष्ठिर के तमाम प्रश्नों और जिज्ञासाओं का समाधान देते हैं, जीवन पथ की दुर्गम राह को पार कर जाने के उपाय बताते हैं। वर्णाश्रम-व्यवस्था, आपद्धर्म, मोक्ष, राजा और मंत्री के गुण, दान की महिमा, कूटनीति, दण्डनीति जैसे पक्षों पर उन्हें प्रबोध देते हैं।

महाभारत के संदेष्टा शृङ्ग और कोरे उपदेष्टा नहीं हैं। ये सहज-ग्राह्य कथाओं और उदाहरणों द्वारा सम्प्रेक्षित किए गए हैं। राजा शिवि की मार्मिक कहानी मानवीय त्याग और परोपकार को रेखांकित करती है, जहाँ वे छारण में आए पक्षी को बचाने के लिए अपनी देह प्रस्तुत कर देते हैं। अतिथि-सत्कार के आदर्श को कबूतर-युगल की कथा द्वारा साकार किया गया है जहाँ अपनी प्रिया के प्राण बचाने को कबूतर स्वयं प्रस्तुत हो जाता है।

गीता का उपदेष्टा

कृष्ण सम्पूर्ण महाभारत में अद्भुत व्यक्तित्व हैं। वे महाभारत में भगवान विष्णु के अवतार हैं।

महाभारत का सबसे महत्वपूर्ण भाग वह है, जहाँ श्रीकृष्ण युद्ध-क्षेत्र में मोहग्रस्त अर्जुन को गीता का उपदेष्टा देते हैं। कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन्—यह एक जीवन दृष्टि गीता के माध्यम से सारी सृष्टि के लिए दी गई है। गीता में कर्म-ज्ञान-भक्ति का समंजित रूप प्रस्तुत है। 'नाना विकट प्रपंचों में न लिप्त होकर मानव आत्म-स्वरूप का परिचय पाकर मोक्ष का संपादन करे महाभारत की यही अमूल्य शिक्षा है।' (संस्कृत वाङ्मय : बलदेव उपाध्याय : पृष्ठ 47) महाभारत धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—चारों वर्गों के सम्मिलित रूप की कहानी है।

महाभारत के समय का समाज

महाभारत अपने युग की संस्कृति-सभ्यता को सामने लाने वाला ग्रंथ है। उस समय का समाज, धर्म, राजनीति, आचार-व्यवहार, रीति-रिवाज, अंधविश्वासों का भी पूर्ण परिचय यहाँ मिल जाता है। महाभारत अनेकता में एकता, राष्ट्रीय भावना, जीवन-संघर्ष, आंतरिक-बाह्य द्वंद्व को उजागर करता है। महाभारत में जीवन की व्यावहारिक व्याख्या की गई है और मानव मनोविज्ञान का सूक्ष्म अंकन है। यहाँ राजनीति, कूटनीति, छद्मनीति, दण्डनीति आदि का विविधरूपी वर्णन किया गया है।

महाभारत: एक महत्वपूर्ण स्रोत ग्रंथ

महाभारत की घटनाओं, कथाओं और प्रसंगों को आधार बनाकर भारत की सभी भाषाओं में बहुत-सा साहित्य रचा गया है। महाभारत के कथाप्रसंगों को लेकर भारतीय साहित्य जगत् में नित नवीन दृष्टि विकसित होती रही।

महाभारत के रोचक कथा-सूत्रों ने सष्टजनशील कलाकारों की दुनिया की बहुत प्रेरणा दी। संस्कृत के अतिरिक्त हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं में भी महाभारत को आधार बनाकर बहुत-सा साहित्य रचा गया। संस्कृत में रची गई प्रमुख कृतियाँ हैं :

महाकाव्य-किरातार्जुनीय-रचनाकार भारवि। शिष्टापालवध के रचयिता हैं-माघ। श्री हर्ज का 'नैजधीयचरित' भी महाभारत कथा पर आधृत प्रसिद्ध ग्रंथ है।

महाभारत के आधार ग्रहण कर रचे गए नाटकों में उल्लेखनीय हैं : पंचरात्र, दूतवाक्य, दूतघटोत्कच, कर्णभार-नाटककार भासा। अभिज्ञानश्याकुन्तलम-नाटककार कालिदास। वेणी संहार के रचयिता हैं-भट्टनारायण।

हिन्दी साहित्य में रामधारी सिंह दिनकर की जो प्रसिद्ध काव्य-कृतियाँ महाभारत का आधार ग्रहण करती हैं, वे हैं : कुरुक्षेत्र, रष्टिमरथी। मैथिलीशरण गुप्त द्वारा रचित 'जयद्रथ वध' कृति का आधार भी महाभारत ही है। महाभारत कथा के प्रति सर्वथा नवीन दृष्टि लेकर चलने वाली कृति है धर्मवीर भारतीकृत 'अंधायुग' जो बहुचर्चित और सार्थक रचना है।

महाभारत की भाषाशैली में वैविध्य सरलता, सरसता, रोचकता और प्रवाह है। साथ ही वह प्रभावशाली भी है। इसका प्रमुख छंद अनुष्टुप् है। अन्य छन्द हैं-इन्द्रवज्रा, वंशास्थ आदि।

महाभारत के प्रमुख रस शान्त, वीर और अद्भुत हैं। शृंगार रस की अभिव्यक्ति अपेक्षाकृत कम है। 'व्यास जी का अभिप्राय महाभारत लिखकर केवल युद्धों का वर्णन ही नहीं है, अपितु इस भौतिक जीवन की निःसारता दिखलाकर प्राणियों को मोक्ष के लिए उत्सुक बनाना है। इसीलिये महाभारत का मुख्य रस शान्त है, वीर तो अंगभूत है।' (संस्कृत वाङ्मय : बलदेव उपाध्याय : पृष्ठ 43) अलंकारों में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि का समावेश हुआ है। महाभारत नीति, धर्म, अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, दर्शन, अध्यात्म, मनोविज्ञान और तत्वज्ञान सभी को लेकर चला है। महाभारत के कथा-प्रसंगों से उपलब्ध निष्कर्ष आज भी प्रासंगिक हैं।

पाठ्यक्रम का अंश-एकलव्य प्रसंग : सामान्य परिचय

यह अंश सचित्र महाभारत से लिया गया है। यह अनुवाद नीलकंठी टीका पर आधारित है तथा आदिपर्व से है। भीष्म पितामह से भरपूर दक्षिणा पाकर गुरु द्रोण कौरवों और पांडवों को शस्त्र-शिक्षा देना आरंभ करते हैं। उनकी प्रसिद्धि से आकर्षित होकर दूर देशों के राजा और राजकुमार गुरु द्रोण से शिक्षा ग्रहण करने आते हैं। अर्जुन उनका प्रिय शिष्य है, जिसने अपनी गुरुभक्ति से उनका मन जीत लिया है। गुरु द्रोण द्वारा ली गई सभी परीक्षाओं में वह सफल होता है। अतः वे युद्ध-विद्या के सभी गूढ़ रहस्य अर्जुन को सिखा देना चाहते हैं।

लेकिन द्रोणाचार्य मानव सुलभ दुर्बलताओं से भी मुक्त नहीं हैं। अर्जुन उनके विद्योज्ञ स्नेह के केन्द्र में तो रहता है, तब भी वे पुत्र अष्टवत्थामा के प्रति मोहग्रस्त रहते हैं। इस पक्षपातपूर्ण दृष्टि के कारण एक समय वे ऐसा आचरण करते हैं, जो घोर निंदनीय है। उसी समय उनकी महिमा को सुनकर हिरण्यधनु नाम के एक निजाद का बालक 'एकलव्य' उनका शिष्यत्व ग्रहण करने की भावना से उनके पास आता है। लेकिन इस दीन बालक को वे अपना शिष्य बनाने से इंकार कर देते हैं। समय बीतने के साथ वह बालक वन के एकान्त में द्रोणाचार्य गुरु की प्रतिमा स्थापित करके तीर चलाने का अभ्यास करते हुए निपुण हो जाता है। एक दिन जब कौरव और पांडव वन में शिकार खेलने गए तो उनका सेवक भी एक कुत्ते को लेकर उनके साथ गया। वन में धूल-मिट्टी से सना एकलव्य अपनी साधना में लगा था, इस विचित्र मूर्ति को देखकर कुत्ता जोर-जोर से भौंकने लगा। तब एकलव्य ने ध्यान भंग करने वाले इस प्राणी का मुँह अपने धनुज से सात तीर चलाकर बंद कर दिया। व्याकुल कुत्ता भागता हुआ पाण्डवों के पास पहुँचा। उसकी यह दृष्टा देखकर पाण्डव हैरान रह गए। सभी के मन में अपनी हीनता का बोध तो जागा ही, इसके साथ ही वे ऐसे कुशल धनुर्धर को देखने को उत्सुक हुए तथा उसे खोजने लगे। आखिर वे उस स्थान पर पहुँच गए जहाँ अब भी एकलव्य तीर चलाने के अभ्यास में जुटा हुआ था। कोई उसे पहचान नहीं पाया। पूछने

पर एकलव्य ने अपना परिचय दिया कि वह निजादराज का पुत्र और गुरु द्रोणाचार्य का शिष्य है। सबने उसे पहचान लिया और लौट कर सारा प्रसंग गुरु द्रोणाचार्य को कह सुनाया। अर्जुन ने एकांत में गुरु द्रोण से कहा कि आपने तो कहा था कि आपका कोई भी शिष्य धनुर्विद्या में मुझसे कुशल न होगा, फिर एकलव्य इस विद्या में मुझसे बढ़कर क्यों है?

यह सुनकर गुरु द्रोणाचार्य अर्जुन के साथ वन गए। वहाँ जाकर उन्होंने देखा कि अपने रूपाकार की चिन्ता किए बिना एकलव्य तनमय भाव से अभ्यास करने में जुटा हुआ है। द्रोणाचार्य को देख, उनके पास आकर गुरु के सम्मुख नतमस्तक शिष्य एकलव्य ने पूछा कि गुरु की उसके लिए क्या आज्ञा है? द्रोणाचार्य ने कहा कि यदि तुम वास्तव में मेरे शिष्य हो तो मुझे गुरु दक्षिणा दो। एकलव्य के यह कहने पर कि ऐसी कोई चीज़ नहीं जो आपको न दी जा सके, गुरु दक्षिणा के रूप में द्रोणाचार्य ने उसके दाहिने हाथ का अंगूठा ही माँग लिया। एकलव्य ने उत्साह और प्रसन्न भाव से प्रतिज्ञा का पालन करते हुए अंगूठा काटकर गुरु को दे दिया और फिर केवल उंगलियों के बल से बाण को धनुज़ पर चढ़ाया, खींचा और चलाया। लेकिन अब पहले जैसी फुर्ती ओर तेजी न थी। इस घटना के बाद एकलव्य को अब बाण चलाते देख अर्जुन भी चिन्ता-मुक्त हुए और इस तरह गुरु द्रोण की यह प्रतिज्ञा सत्य बनी रही है कि अर्जुन से बढ़कर धनुर्धर धरती पर और कोई न होगा।

पाठ्य-क्रम के इस अंतिम अंश में यह कथा भी आई है कि शिक्षा समाप्ति के बाद गुरु द्रोण सभी शिष्यों को परखना चाहते थे। इस परीक्षा में भी अर्जुन ही खरे उतरे। गुरु द्रोणाचार्य अत्यधिक प्रसन्न हुए और उन्होंने अर्जुन को दिव्य अस्त्र दिया। इस अस्त्र को मनुष्यों पर न चलाने की हिदायत भी दी।

विश्लेषण

महाभारत के अथाह कथासागर में एकलव्य-प्रसंग एक छोटा-सा अंश है। किन्तु यह बहुत बड़े मानवीय सत्य से साक्षात्कार कराने वाला प्रसंग है। महाभारत काल में 'यह कृत्य भारतीय समाज में वर्णवादी मानसिकता की पैठ का दुखद साक्ष्य है। यह मानसिकता ज्ञान के क्षेत्र में उच्चवर्णों का एकाधिकार बनाए रखना चाहती है। प्रभु सत्ता सम्पन्न वर्ग के विशेषाधिकार को चुनौती देने वाले के साथ अमानवीय व्यवहार करने में इसे संकोच नहीं होता। (भारतीय साहित्य : एक परिचय : पृष्ठ : 31)

उपर्युक्त कथन से पूरी तरह सहमत हुआ जा सकता है। वर्ण-व्यवस्था के कठोर दृष्टि-बिन्दुओं के कारण निम्न जाति के एकलव्य से महामहिम द्रोण का यह अन्याय एवं पक्षपात पूर्ण व्यवहार सर्वथा निन्दनीय है। मनुष्य के गुण को न देखकर जन्म की स्थिति के आधार पर ही निर्णय लेना किसी भी मायने में उचित नहीं है। किन्तु समाज में इस प्रकार का दुराग्रह युक्त आचरण देखने को मिलता है, न केवल महाभारत काल में बल्कि आज के विकसित-आधुनिक काल में भी, जहाँ योग्यता और प्रतिभा उपेक्षित पड़ी रह जाती हैं, कुछ अन्य तत्त्व हावी हो जाते हैं। होना तो यह चाहिए कि व्यक्ति के हुनर की, कला की कद्र हो। पर ऐसा नहीं होता।

एकलव्य प्रसंग का यह सबसे दुखद पहलु सोचने को विवश करता है कि जीवन में कभी किसी भी पल मानवीय संवेदना का पतन हमें किस ओर ले जाएगा? क्या महाभारत जैसे विनाश की ओर? एकलव्य के दुख का साक्षी केवल उसका मन है।

पाठ्य-क्रम का यह अंश वर्तमान दौर की अस्त्र-शस्त्रों की दौड़ के पागलपन पर भी एक टिप्पणी और तीखा कटाक्ष है। महाभारत काल में शस्त्र के दुरुपयोग के प्रति गुरु शिष्य को सजग करते हैं, गुरु द्रोणाचार्य अर्जुन को दिव्यास्त्र देते हुए सावधान करते हैं कि मनुष्यों के ऊपर कभी यह अस्त्र न चलाना, क्योंकि इस अस्त्र में सारे जगत को जला डालने की शक्ति है। किन्तु मानवीय प्रवृत्ति इसे बहुत कुछ अनदेखा कर देती है और परिणाम सबको भुगतना पड़ता है। महाभारत के दुखद प्रसंग प्रमाणित करते हैं कि मनुष्य अपने ही हाथों अपना बहुत नुकसान करता है। बाद में पछताता है, पर इस पछतावे से कुछ हासिल नहीं होता। यह अंश प्रमाणित करता है कि

महाभारत का रचयिता अपने समय के सच को व्यक्त करता है।

निष्कर्ष

संपूर्ण भारतीय साहित्य में संस्कृत भाषा का महत्त्वपूर्ण स्थान है, संस्कृत साहित्य में महाभारत अद्वितीय है। यह अंश इस अद्वितीय कृति का मर्मस्पर्शी प्रसंग है। एकलव्य की कथा भारतीय जनमानस के लिए एक जानी-पहचानी कथा है। एकलव्य की गुरुभक्ति का आदर्श इस कथा का प्रेरक रूप है। भारतीय साहित्य गुरु की महत्ता का अनेक शब्दों में अनेक प्रकार से वर्णन करता आया है, कबीर की सुप्रसिद्ध पंक्तियाँ सहज ही स्मरण हो आती हैं।

गुरु गोविन्द दोऊ खड़े, काके लागौं पाय,
बलिहारी गुरु आपने, जिन गोविन्द दियो बताय।

एकलव्य इसी निष्ठा और गुरु भक्ति का उदाहरण बनकर इस अंश में प्रस्तुत होता है। एकलव्य की गुरु भक्ति का यह उदाहरण सर्वथा प्रशंसनीय है।

निष्कर्ष: यह कहा जा सकता है कि महाभारत एक ऐसा लोकप्रिय ग्रंथ है। जो न केवल देश में बल्कि विदेश में भी विख्यात है। पंडित नेहरू ने लिखा है: The two great epics of ancient India-the Ramayan and the Mahabharata-probably took shape in the course of several hundred years, and even subsequently additions were made to them, they deal with the early days of the Indo Aryans, their conquests and civil wars ...but they were composed and compiled later...I do not know of any books anywhere which has exercised such continuous and pervasive influence on the mass mind as these two ...they are still a living force in the life of the Indian people. Not in the original Sanskrit ...but in the translations and adaptations, and in those innumerable ways in which tradition and legend spread and become a part of the texture of a people's life. (The discovery of India : page 99-100)

महाभारत का ही भाग 'श्रीमद्भागवतगीता' है, जो विष्टवन्दनीय ग्रंथ है, जिसके कई अनुवाद और टीकाएँ हुई हैं। महाभारत की कथा का दूरदर्शन पर प्रस्तुतीकरण बहुत लोकप्रिय हुआ। पीटर ब्रुक नामक फिल्म निर्माता ने महाभारत कथा पर अंग्रेजी फिल्म भी बनाई। भारत के बाहर देशों में भी महाभारत कथा प्रचलित है। महाभारत के अनुवाद अन्य भारतीय भाषाओं तथा विदेशी भाषाओं में भी हुए हैं। महाभारत की कई टीकाएँ उपलब्ध हैं। महाभारत के प्रमुख संकेत बुराइयों के त्याग और मानव जीवन को सफलता और सार्थकता प्रदान करने वाले तत्त्वों की ओर ले जाने में निहित हैं।

अभ्यास-प्रश्न

1. एकलव्य के जीवन में दुख का आरंभिक प्रसंग क्या है?
2. गुरु होने पर भी द्रोण का निर्णय क्या आपकी दृष्टि में गलत कहा जा सकता है?
3. प्रस्तुत प्रसंग की वर्तमान समय से संगति पर विचार करें।
4. आज के दौर में दलित विमर्श की पृष्ठभूमि में इस प्रसंग का विवेचन कीजिए।
5. महाभारत कथा के पात्रों में 'एकलव्य' के चरित्र पर तुलनात्मक टिप्पणी लिखिए।

संदर्भ ग्रंथ

संस्कृत वाङ्मय	बलदेव उपाध्याय
संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास	कपिलदेव द्विवेदी
डिस्कवरी ऑफ इण्डिया	जवाहरलाल नेहरू
हिन्दी साहित्य की भूमिका	हजारीप्रसाद द्विवेदी

भारतीय साहित्य का समेकित इतिहास
संस्कृत साहित्य का इतिहास
संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास

सम्पादक : डॉ. नगेन्द्र
ए. ए. मैक्डानल, अनुवाद : चारुदेव श्यास्त्री
रामजी उपाध्याय

3. मष्टच्छकटिक (ष्टूद्रक) (संधिच्छेद नामक तीसरा अंक)

डॉ. विजता सती

संस्कृत नाटक का उदय

विद्वानों ने काव्य के दो भेद किए हैं : दृष्टय काव्य तथा श्रव्य काव्य।

दृष्टयकाव्य को 'रूपक' तथा 'उपरूपक' दो भागों में बाँटा गया है। रूपक के पुनः दस भेद किए गए हैं, जिनमें से एक मुख्य भेद 'नाटक' तथा एक 'प्रकरण' भी है। सामान्यतः नाटक शब्द का प्रयोग समस्त दृष्टयकाव्य के लिए किया जाता है या कह सकते हैं कि नाटक को दृष्टय-काव्य का पर्याय मान लिया जाता है। 'काव्येजु नाटकं रम्यम्' कह कर संस्कृत साहित्य में नाटक की महत्ता प्रतिपादित की गई है। यह भी कहा जाता है कि नाटक पाँचवाँ वेद है जिसकी सृष्टि ब्रह्मा ने की और भरतमुनि ने जिसे धरती पर फैलाया। प्रोफेसर मैक्समूलर, पिणोल लेवी, मैकडॉनल और कीथ जैसे पाश्चात्य विद्वानों ने यह स्वीकार किया है कि नाटक का प्रारंभ सबसे पहले भारतवर्ष में हुआ।

संस्कृत साहित्य के कोमल अंग के रूप में नाट्य-साहित्य की विष्णु परंपरा प्राप्त होती है। भास संस्कृत के पहले नाटककार माने जाते हैं। कालिदास, अष्टवधोज, विष्णाखदत्त, भवभूति जैसे प्रसिद्ध प्राप्त नाटककारों की ही श्रेणी में 'मष्टच्छकटिक' के रचयिता शूद्रक का नाम आदर से लिया जाता है। 'मष्टच्छकटिक' उनकी बहुचर्चित कृति है जो अपनी रोचक कथावस्तु और घटना-क्रम के लिए विख्यात है। मष्टच्छकटिक संस्कृत नाट्य-साहित्य की एक ऐसी रचना है, जो अपने कल्पित कथानक के कारण 'प्रकरण' कही जाती है। प्रकरण की अन्य विशेषता यह होती है कि उसका नायक राजा के स्थान पर अमात्य, विप्र या वणिक होता है।

मष्टच्छकटिक शूद्रक की एकमात्र प्राप्त रचना है। शूद्रक से पहले भास ने चारुदत्त या दरिद्र चारुदत्त नाम का नाटक लिखा था, जिसमें चार अंक थे। यह जानना कम आश्चर्यजनक नहीं है कि मष्टच्छकटिक के अंग्रेजी अनुवाद की नाट्य प्रस्तुति 1924 में, न्यूयार्क में की गई। 1905 में (The little clay cart) नाम से मष्टच्छकटिक का अनुवाद अर्थर रड्डर ने किया। 1984 में गिरीष्ठा कर्नाड ने उत्सव नाम से जिस हिन्दी फिल्म का निर्माण किया, वह इसी नाटक पर आधृत थी।

शूद्रक : रचनाकाल और जीवनकाल

मृच्छकटिक नाटक जितना प्रसिद्ध है, इसके रचयिता की जितनी ख्याति है, उतना ही दोनों के विजय में असमंजस भी है। कृति का रचनाकाल और कृतिकार का जीवन-काल विवाद का विजय रहा है। शूद्रक का प्रामाणिक जीवन-परिचय प्राप्त नहीं होता, जबकि संस्कृति साहित्य में वे एक सुपरिचित नाम रहे हैं उनके जीवनकाल और रचनाकाल के विजय में कुछ कहानियाँ भी सुनी जाती हैं। कुछ विद्वान शूद्रक को कल्पित व्यक्तित्व मान लेते हैं। लेकिन शूद्रक का उल्लेख कादम्बरी, कथासरित्सागर, हर्जचरित और राजतरंगिणी जैसी रचनाओं में हुआ है, अतः इन्हें काल्पनिक नहीं माना जा सकता। दूसरा विचार इस तथ्य पर आधारित है कि मृच्छकटिक की प्रस्तावना में ऐसे तीन श्लोक दिए गए हैं, जिनमें नाट्यकार स्वयं अपना परिचय देते हुए अपने लिए भूतकाल का प्रयोग करता है और अपनी मृत्यु का वर्णन करता है।

इस संदर्भ में दो विचार हैं : **एक तो यह कहा जाता है** कि नाटक शूद्रक ने ही लिखा पर प्रस्तावना के श्लोक बाद में जोड़े गए, अतः प्रक्षिप्त है। **दूसरा विचार यह है** कि नाटक ही किसी अन्य ने लिखा और प्रसिद्धि के लिए शूद्रक का नाम जोड़ दिया। शूद्रक नाम के राजा भी हुए हैं। यह मान लिया गया कि भास ने जो चार अंकों का नाटक-चारुदत्त या दरिद्र चारुदत्त लिखा था, उसी को विकसित करके मृच्छकटिक नाम दिया गया और राजा शूद्रक के नाम से प्रचारित कर दिया गया। **इन दोनों कथनों में से पहला मत ही विद्वानों को अधिक मान्य है।**

इस प्रकार शूद्रक द्वारा रचित इस प्रमुख 'प्रकरण' और स्वयं शूद्रक के विजय में जो अनुमान लगाए गए हैं, अभी तक उन्हीं को माना जाता है।

कथासूत्र

शूद्रक द्वारा रचित संस्कृत प्रकरण 'मृच्छकटिक' में दस अंक हैं, प्रत्येक अंक में कई दृष्टय हैं। मृच्छकटिक से 'संधिच्छेद' नामक तीसरा अंक पाठयक्रम में निर्धारित किया गया है। यह अंश 'भारतीय साहित्य' नामक पाठ्य-पुस्तक में संकलित किया गया है। 'संधिच्छेद' पर ध्यान केन्द्रित करने से पहले इस कृति के पूरे कथासूत्र को जान लेना उचित होगा। अंक एक के प्रारंभ में सूत्रधार कहता है।

‘इन रचना में

अवन्तिपुरी के दरिद्र युवक चारुदत्त का वर्णन है

जो सदा द्विजों की पालना करता था;

और उसके साथ

वसन्त की सुजमा जैसी सुंदर

गणिका वसन्तसेना का

जो उसके गुणों पर अनुरक्त थी

इस रचना में राजा शूद्रक ने

उन दोनों के प्रेम का,

संसार की नीति का,

लोक-व्यवहार की दुष्टता का, दुष्टों के स्वभाव का

तथा व्यक्ति की नियति का

सुंदर चित्र प्रस्तुत किया है।

(मृच्छकटिक : रूपान्तरकार : मोहन राकेश : पृष्ठ : 3)

इस नाटक में एक सच्चरित्र किन्तु गरीब ब्राह्मण चारुदत्त की कहानी है जिसे सौंदर्यमयी गणिका वसन्तसेना प्रेम करती है। इसी के साथ आर्यक की राज्यप्राप्ति की राजनीतिक कथा भी गुँथी हुई है। कृतिकार ने दोनों कथाओं को कुशलता से जोड़ा है। पाठ-संकलन में भी इस बात को स्पष्ट किया गया है। 'यह नाटक मोटे तौर पर दो हिस्सों में है। पहला, वसन्तसेना और चारुदत्त का प्रेम-प्रसंग तथा दूसरा, राज्य विद्रोह के साथ आर्यक को राजपद की प्राप्ति।'

दस अंकों का परिचय

पहला अंक है—अलंकारन्यास। इस अंक में यह कथा है कि राजा का साला ष्टाकार उज्जयिनी की प्रसिद्ध गणिका वसन्तसेना को पाना चाहता है। अपने दो साथियों के साथ एक अँधेरी रात में वह वसन्तसेना का पीछा करता है। भयभीत वसन्तसेना चारुदत्त के घर में शरण लेती है। चोरों से बचने की बात कहकर वह अपने सारे स्वर्ण-आभूषण चारुदत्त के घर में धरोहर के रूप में छोड़ देती है।

दूसरे अंक का नाम द्यूतकार-संवाहक है। संवाहक, जो पहले चारुदत्त की सेवा में था, जुए की लत लगने पर बहुत सा धन हार जाता है। बचाव के लिए वह वसन्तसेना के घर शरण लेता है, जो अपना कंगन देकर उसे ऋणमुक्त करती है। वह बौद्ध-भिक्षु बन जाता है।

तीसरे अंक का नाम 'संधिच्छेद' है। शर्विलक नाम का ब्राह्मण वसन्तसेना की दासी मदनिका से प्रेम करता है। उसे दासत्व से छुड़ाने के लिए वह एक रात चारुदत्त के घर में सेंध लगाकर वसन्तसेना द्वारा धरोहर रखे गए सोने के सारे आभूषण चुरा लेता है। उधर चारुदत्त की पतिव्रता पत्नी धूता अपने पति को लोकनिन्दा से बचाने के लिए, चुराए गए आभूषणों के बदले में अपनी कीमती रत्नावली देती है, चारुदत्त वह रत्नावली देकर विदूजक मैत्रेय को वसन्तसेना के घर भेजता है।

चौथा अंक मदनिका-शर्विलक है। शर्विलक चुराए हुए आभूषण लेकर मदनिका को दासत्व से मुक्त कराने के लिए वसन्तसेना के घर पहुँचता है। चोरी की बात सुनकर मदनिका बहुत दुखी होती है। इस गलती को सुधारने की भावना से वह शर्विलक को यह समझाती है कि चोरी के आभूषण वसन्तसेना को सौंप देने से न वह चोर रहेगा, न चारुदत्त के सिर पर ऋण रहेगा और वसन्तसेना के आभूषण उसे वापिस मिल जाएँगे, शर्विलक ऐसा ही करता है। वह वसन्तसेना से कहता है कि चारुदत्त ने यह संदेष्टा भेजा है कि घर जर्जर होने से हम स्वर्णपात्र को सुरक्षित नहीं रख सकते, अतः आप इसे अपने पास रखें। वसन्तसेना संदेष्टा के बदले में कुछ ले जाने की बात कहकर मदनिका को शर्विलक को सौंप देती है।

इसी अंक में विदूजक वसन्तसेना से मिलकर कहता है कि स्वर्णपात्र जुए में हार गए हैं इसलिए यह रत्नावली स्वीकार करें। वसन्तसेना वास्तविकता जानती है, पर कुछ नहीं करती। वह ष्टाम को चारुदत्त के घर आने का निष्ठचय करती है।

नाटक के **पाँचवें अंक 'दुर्दिन'** में वर्जा-ऋतु वर्णन हुआ है। वसन्तसेना चारुदत्त से मिलती है और वर्जा की झड़ी के कारण रात उसी के घर रुक जाती है।

छठा अंक प्रवहणविपर्यय है। सुबह चारुदत्त पुञ्पकरण्डक उद्यान में घूमने जाता है, वसन्तसेना के लिए गाड़ी तैयार रखने का आदेश देकर ताकि वह उसमें उद्यान तक यात्रा कर सके। यहीं वसन्तसेना चारुदत्त के पुत्र रोहसेन को यह जिद करते देखती है कि वह मिट्टी की गाड़ी से नहीं स्वर्ण-ष्टाकटिका से खेलना चाहता है। वसन्तसेना सारे आभूषण मिट्टी की गाड़ी में रखकर कहती है कि इससे सोने की गाड़ी बना लेना। वसन्तसेना चारुदत्त से उद्यान में भेंट करने निकलती है, पर भूल से उसी स्थान पर खड़ी ष्टाकार की गाड़ी में बैठ जाती है। उधर कारागार तोड़कर, रक्षक को मारकर निकल भागा ग्वाले का बेटा आर्यक, बचाव के लिए चारुदत्त के वाहन में चढ़ जाता है। रास्ते में दो पुलिस के सिपाही-वीरक और चन्दनक वाहन देखते भी हैं, पर उनमें से एक आर्यक को रक्षा करने का वचन देकर जाने देता है।

सातवाँ अंक आर्यकापहरण है। राजा पालक ने सिद्धों की भविष्यवाणी पर विष्टवास करके जिस आर्यक नामक व्यक्ति को बन्दी बना लिया था, जब वह बंधन तोड़कर बचता हुआ चारुदत्त की गाड़ी में चढ़कर उद्यान में चारुदत्त के समक्ष आता है, और उनसे शरण माँगता है। चारुदत्त उसे सुरक्षित अपनी गाड़ी में बाहर निकलवा देता है।

आठवाँ अंक वसन्तसेना-मोटन है, जहाँ भूल से ष्टाकार की गाड़ी में बैठी वसन्तसेना जब उद्यान में पहुँचती है तो चारुदत्त के स्थान पर दुष्ट ष्टाकार से उसका सामना होता है। वसन्तसेना एक बार फिर ष्टाकार के चंगुल में फँस जाती है, ष्टाकार का आग्रह न मानने पर वह वसन्तसेना का गला घोट देता है और उसे मरा जानकर पत्तों से ढक कर

चला जाता है। तभी जुआरी से बौद्ध-भिक्षु बन चुका संवाहक मृतप्राय वसन्तसेना को विहार में लाकर पुनर्जीवन देता है।

नवें अंक का नाम व्यवहार है। ष्टाकार चारुदत्त को वसन्तसेना की हत्या का आरोपी बनाता है। कचहरी में विवाद चलता है, चारुदत्त स्वयं को निर्दोष साबित नहीं कर पाता। दुखी चारुदत्त अपने मित्र मैत्रेय की प्रतीक्षा करता है, जो वसन्तसेना के पास उन आभूषणों को लौटाने गया था जो वसन्तसेना ने रोहसेन की मिट्टी की गाड़ी के स्थान पर सोने की गाड़ी बना लेने को दे दिए थे। इसी क्षण वही आभूषण लेकर मैत्रेय आ जाता है। किन्तु बातचीत करते हुए मैत्रेय से बगल में संभाले हुए वे आभूषण सबके सामने गिर पड़ते हैं और यह मान लिया जाता है कि आभूषणों के लोभ में चारुदत्त ने ही वसन्तसेना की हत्या की है। उसे मृत्युदण्ड का आदेश देकर वधस्थल की ओर ले जाया जाता है।

संहार दसवाँ अंक है। इस अंक में एक तो ष्टाकार का सेवक स्थवरक चारुदत्त को निर्दोष बताता है, पर उसका कोई विश्वास नहीं करता। दूसरे ठीक इसी समय प्राण बचाने वाले बौद्ध-भिक्षु बने संवाहक के साथ आकर वसन्तसेना ष्टाकार की दुष्टता व्यक्त कर देती है और चारुदत्त झूठे आरोप से मुक्त हो जाता है। इधर राज्य में नए राजा आर्यक का आगमन होता है, वह न केवल आरोप मुक्त चारुदत्त को राज्य देता है, बल्कि झूठा आरोप लगाने के कारण ष्टाकार को मृत्यु-दण्ड भी देता है। किन्तु चारुदत्त के कहने पर ष्टाकार को भी क्षमा कर दिया जाता है। पतिव्रता धूता चारुदत्त के लिए मृत्यु-दण्ड का समाचार सुनकर अग्नि-प्रवेष्टा को तत्पर हो उठती है, चारुदत्त उपस्थित होकर इस दुखद घटना को रोकता है। राजा आर्यक प्रसन्न होकर वसन्तसेना को 'वधू' के पद से विभूषित करता है। भिक्षु संवाहक को सब विहारों का कुलपति बना दिया जाता है। दास स्थवरक को दासता से मुक्त किया जाता है, मृत्युदण्ड देने वाले चाण्डालों को चाण्डालों का प्रमुख बना दिया जाता है, यहाँ तक कि ष्टाकार को भी अभयदान दिया जाता है। इन सुखद घटनाओं के साथ नाटक समाप्त होता है। चारुदत्त के शब्दों में :

चरित्र से कलंक धुल गया

खरचरणों पर गिरे हुए शत्रु को बंधन-मुक्त कर दिया गया।

खप्रिया मुझसे आ मिली

ख्रदैव

मुनज्यों के भाग्य से खेलता है।

किसी को रिक्त और किसी को पूर्ण करता हुआ

वह

एक को उन्नति

दूसरे को अवनति

और तीसरे की बीच की व्याकुल दृष्टा की ओर ले जाता है।

इस तरह

विपरीत पक्षों में संतुलन लाकर

वह जीवन की वास्तविकता को प्रकट करता है।

पाठ्य-क्रम का अंश

पाठ्य-क्रम में निर्धारित अंश प्रकरण का तीसरा अंक 'संधिच्छेद' है। हिंदी के प्रसिद्ध नाटककार मोहन राकेश द्वारा किये गये नाट्य-रूपान्तर से इसे संकलित किया गया है। इस अंश में कथा आती है कि अपनी प्रिया मदनिका को मुक्त कराने के लिए ब्राह्मण होने के बावजूद शार्दूलक चोरी करने जाता है। वह चारुदत्त के घर में घुसने के लिए जो स्थान बनाता है, ईंटों को सलीके से हटाकर जो संध लगाता है, उस घटना को चारुदत्त सुबह होने पर जान जाता है। इस घटनाक्रम के बाद चारुदत्त के चरित्र की विष्णोजता को रेखांकित करते हुए शूद्रक दो बातें कहते हैं—एक तो यह कि चारुदत्त अपने स्वभाव के सीधेपन में चोर द्वारा लगाई गई संध की कला की प्रशंसा करता है। इससे उसके कलाप्रिय व्यक्तित्व से परिचय प्राप्त होता है।

'इस काम में भी किसी ने क्या कला दिखायी है!'

दूसरे यह जान लेने पर कि स्वर्ण आभूषण चोरी हो गए हैं, चारुदत्त यह संतोष प्रकट करता है कि चोर खाली हाथ नहीं गया। किन्तु यह बोध होते ही कि वह तो धरोहर थी, चारुदत्त व्याकुल हो उठता है, वह सोचता है :

सत्य पर कौन विष्णुवास करेगा?

सब लोग मुझ पर लांछन लगाएँगे।

इस परिस्थिति से उबरने के लिए तत्काल अपना मत प्रकट करता है :

भिक्षा माँगकर ही क्यों न हो,

धरोहर का मूल्य मैं अवश्य चुकाऊँगा।

इस तरह के वस्तु-विकास के कारण यह 'प्रकरण' मानवीय मूल्यों के प्रति समर्पित चरित्रों की गाथा बन गया है। यहीं चारुदत्त की समर्पित पत्नी धूता का उल्लेख करना भी उचित होगा। घर में चोरी की घटना को जानकर उसकी पहली प्रतिक्रिया चारुदत्त की कुशलता जानने की है, इसे जान लेने पर वह कुछ आश्चर्य अवश्य होती है, पर उसकी दूसरी चिन्ता भी उतनी ही मर्मभेदी है :

'छुरी पर चोट नहीं आई, परन्तु चरित्र तो बचा नहीं रहा।'

चारुदत्त की यह निष्ठावान पत्नी, पति को चिन्ता से मुक्त कर देने को प्रस्तुत हो जाती है, धरोहर के बदले अपनी रत्नजडित माला वसन्तसेना को लौटाने के लिए मैत्रेय को सौंप देती है। चारुदत्त को दुख है कि वसन्तसेना की धरोहर चुरा ली गई है, जब वह यह जान पाता है कि पत्नी अपने बहुमूल्य हार को बदले में देने को तत्पर हो गई है, तो यह पंक्तियाँ अनायास ही उसके मुँह से निकल पड़ती हैं :

पर आज मैं सचमुच ही निर्धन हो गया हूँ

भाग्य की मार से अपना धन खोकर

जब पुरुष स्त्री धन का उपहार पाता है,

तो यह परिस्थिति पुरुष को नारी

और नारी को पुरुष बना देती है।

परन्तु मैं निर्धन कैसे हूँ?

निर्धन व्यक्ति को कहाँ यह सुलभ है

कि पत्नी उसकी स्थिति के अनुसार चले,

तुम्हारे जैसा मित्र सुख-दुख में उसके साथ रहे

और वह अपने सत्य की रक्षा कर सके?'

उसकी निराशा और आशा, उसकी हार और जीत—दोनों एक साथ इस कथन में समाहित है। यह शूद्रक के रचनाकर्म की गहनता को सूचित करने वाला अंश है। चारुदत्त चोरी से दुखी है, पत्नी के त्याग ने भी उसके अन्तर्मन को आंदोलित किया, लेकिन इसी बहाने उसके कथन से तत्कालीन समाज की सच्ची झलक मिल जाती है—कौन पुरुष

स्त्री के धन से अपना मान बचाना चाहता होगा? पुरुज-प्रधान समाज-व्यवस्था में एक नारी का आगे बढ़कर पति के बोझ को कम करने को आना भी तो पुरुज के अहम् को कचोट जाता है, उसी पीड़ा का साक्षात्कार यहाँ होता है। पर चारुदत्त के आनन्दित होने का आधार भी युगीन परिस्थिति का ही एक दूसरे पहलू है। मित्र और पत्नी का मुसीबत में साथ देना चारुदत्त के जीवन की निधि है, यह उसके शब्दों से साफ जाहिर है। इस तरह यह अंष्टा उस युग की सामाजिक और पारिवारिक अवस्था की झलक दे जाता है और यहाँ यह कहना सार्थक प्रतीत होता है कि—

‘यथार्थ-चित्रण के साथ प्रेम की महिमा का बखान नाटककार का उद्देश्य है।’ (भारतीय साहित्य : पल्लव : 50)
पाठ्य-क्रम में निर्धारित अंक तीन की आरंभिक पंक्तियाँ ही देखें तो कृतिकार का आदर्श बहुत कुछ व्यक्त हो जाता है :

**‘सहृदय और दयावान स्वामी
धनहीन भी हो तो अच्छा है’**

ये पंक्तियाँ नायक चारुदत्त के चरित्र की महत्ता को व्यक्त करती हैं। धन सहृदयता और दयालुता से बढ़कर नहीं, शूद्रक का यह मंतव्य स्पष्ट हो जाता है। मानवीय चरित्र की अच्छाइयों की ओर ध्यान खींचना इस प्रकरण में शूद्रक का लक्ष्य है। प्रकरण में ऐसे कितने ही स्थल हैं, जहाँ शूद्रक छोटी-छोटी बातों से साधारण जीवन का सच रूपायित कर देते हैं, यथा :

‘बात फैलने में यूँ ही अपवाद होता है’

चारुदत्त कहता है कि चोर द्वारा लगाई गई संध को तुरन्त भर दो, वर्ना जितने लोग यह देखेंगे उतनी ही तरह की बातें होंगी, मानव स्वभाव के सच को कितना सही मूल्यांकन किया है नाटक की विष्टोन्नता युग की सामाजिक-पारिवारिक-राजनीतिक दृष्टा की परिचायक शैली है जो स्पष्ट, सहज और अकृत्रिम है।

शृर्विलक अपने निजी कारण से चोरी करता है, वह स्वयं अपने कर्म के विजय में रोचक और सटीक सच बताता है :

लोभ भले ही कहें
कि नींद में पड़े हुए, बेसुध व्यक्तियों को ठगकर
उनका अपमान करना
चोरी है, पराक्रम नहीं।
परन्तु निन्दनीय होने पर भी यह कर्म
स्वाधीन तो है!

एक स्थान पर शृर्विलक कहता है :

जिन्हें स्त्रियाँ कहते हैं
स्वभाव से वही पंडित हैं!
पुरुजों का पाण्डित्य
बस शस्त्रों की बात है।

उस समय नारी के प्रति एक विष्टिज्ञ सम्मानजनक दृष्टि का परिचय इन पंक्तियों से मिलता है। ऐसे कितने ही प्रसंग नारी के विजय में शूद्रक की मान्यता को सूचित करते हैं।

समापक अंष्टा में चारुदत्त का यह कथन ध्यान देने योग्य है :

मैं आज निर्धन नहीं हूँ मित्र!
निर्धन व्यक्ति को कहाँ सुलभ है

एक पत्नी उसकी स्थिति के अनुसार चले
तुम्हारे जैसा मित्र सुख-दुख में उसके साथ रहे
और वह अपने सत्य की रक्षा कर सके?

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि 'संधिच्छेद' ष्टीर्जक तीसरे अंक को शूद्रक चित्रण की बारीकियों के साथ समग्र 'मृच्छकटिक' प्रकरण में प्रशंसनीय बना पाए हैं।

श्रीर्जक की सार्थकता

‘मष्टच्छकटिक’ का अर्थ है—मिट्टी की गाड़ी। नायक चारुदत्त दानी प्रवृत्ति के कारण दरिद्र हो चुका है। उसका पुत्र मिट्टी की गाड़ी से खेलता है। वैभवशाली गणिका वसन्तसेना इस मिट्टी की गाड़ी को अपने स्वर्णाभूषणों से भर देती है और बालक से कहती है कि इससे सोने की गाड़ी बनवा लेना। नाटक में यह घटना बहुत ही महत्वपूर्ण है। आगे आने वाला नाटकीय उद्वेलन इसी प्रसंग की देन है। जब धूर्त शकार वसन्तसेना को बल से हासिल नहीं कर पाता तो क्रोधित हो कर गला दबा कर उसे मारने की कोशिश करता है। फिर उसे मरा जानकर पत्तों से ढककर चला भी जाता है और चारुदत्त पर इस हत्या का आरोप लगाता है। आरोप सिद्ध होने में कोई कसर नहीं रहती, क्योंकि चारुदत्त का मित्र मैत्रेय न्याय-स्थल पर वसन्तसेना के वे सारे सोने के आभूषण लेकर आ जाता है तो यह मान लिया जाता है कि हत्या आभूषणों के लिए ही की गई है। नाटक के नामकरण का आधार यही विष्टिाज्ठ घटना है, जो कि सर्वथा सार्थक है।

वस्तु-विन्यास

मष्टच्छकटिक की कहानी कल्पित है और यह घटनापूर्ण प्रकरण है। घटनाएँ सजीव और प्रभाव डालने वाली हैं। यहाँ दो प्रेम-कथाएँ हैं : चारुदत्त और वसन्तसेना की तथा श्रार्विलक और मदनिका की। इसके साथ ही एक राजनीतिक कथा भी है : राजा पालक का पतन और आर्यक का राज्यारोहण। ये सभी कहानियाँ परस्पर सम्बद्ध हैं। कथा में एक ऐसी गति और प्रवाह है, जो बाँधे रखता है, उत्सुकता जगाए रखता है। आगे क्या होगा? यह कौतुहल लगातार बना रहता है।

मष्टच्छकटिक की कहानी सामान्य जन की कहानी है। राजा है, पर मुख्य कथा राजा की नहीं है। मुख्य पात्र तो परिस्थितियों की मार से निर्धन बना चारुदत्त है। उसके गुणों पर मोहित होने वाली नायिका भी कोई रानी नहीं, नगर की अपूर्व सुन्दरी गणिका है। जुए में सब कुछ हारने वाला संवाहक भी सामान्यजन का प्रतिनिधि है, धूता चारुदत्त की समर्पिता पत्नी है, श्रार्विलक और मदनिका भी समाज के साधारण वर्ग से संबंध रखते हैं। इस प्रकार मष्टच्छकटिक परम्परागत नाटकों से भिन्न है क्योंकि यहाँ साधारण मनुज्य की कथा है। यहाँ धूर्त श्राकार, निस्वार्थ चारुदत्त, कुलवधू धूता, संवेदनशील वसन्तसेना, चोर श्रार्विलक, सहृदय मित्र विदूजक और राज्य के जुआरी-विविधतापूर्ण पात्र हैं। प्रत्येक की अपनी पहचान और सत्ता है और इसके माध्यम से जीवन की वास्तविकता का साक्षात्कार किया जा सकता है। वसन्तसेना गणिका होने के बावजूद पैसे का लोभ छोड़कर निर्धन चारुदत्त से प्रेम करती है। बाह्यण पुत्र श्रार्विलक प्रेम में पड़ कर चोर बनता है। संवाहक जुआरी से बौद्ध-भिक्षु का चोला धारण करता है। यह पात्रगत विविधता इस नाटक की विष्णोज्ञता है। नाटक के पात्र समाज के सभी वर्गों का प्रतिनिधित्व करते हैं। यह वैविध्य जीवन की बहुरंगी छवि देता है।

जनजीवन के रीति-रिवाज, रहन-सहन, सुख, हर्ज-विज्ञाद से कथा का ताना-बाना बुना गया है। राजनीति की हलचल का कुछ परिचय भी नाटक के माध्यम से मिलता है।

नाटक की प्रासंगिकता

यह नाटक मुख्य रूप से प्रेम के पवित्र रूप को सामने लाता है। चारुदत्त के प्रति वसन्तसेना का प्रेम गंभीर और एकनिष्ठ है। चारुदत्त के मन का भाव भी उदात्त है। चारुदत्त की पत्नी का समर्पित भाव भी हृदय को छू लेता है। धूता के लिए 'सर्वश्रेष्ठ आभूषण' चारुदत्त है, बहुमूल्य रत्नावली नहीं।

किन्तु नाटक की यह सहज-संवेदनशील कथा जीवन के व्यावहारिक पक्ष का लेखा-जोखा भी है। यह नाटक जीवन के इकहरेपन के स्थान पर संश्लिष्टता को आत्मसात करके चलता है। मनुज्य का जीवन कई स्तरों पर गतिमान होता है। वहाँ भले-से-भला और बुरे-से-बुरा व्यक्ति मौजूद है। यह कहना उचित होगा कि जैसा छूद्रक के समय का समाज था, वैसा ही आज का समाज भी है। आज भी तो सब तरह के पात्रों से पाला पड़ता है—न्यायपालिका का भ्रष्टाचार, उच्च वर्ग से साँठ-गाँठ के बल पर काम निकालने की प्रवृत्ति, जुए की लत लगने पर सब कुछ हार जाना, निरीह जनों को सताना, उच्चकुल का होने पर भी चोरी जैसे कामों में लगना—ये तमाम सत्य आज के जीवन में भी तो विद्यमान हैं। इस तरह यह नाटक काल निरपेक्ष, स्थान निरपेक्ष सत्य का उद्घाटन करता है। यहाँ जो घटित हो रहा है वह कहीं भी, कभी भी हो सकता है। यह यथार्थ चित्रण अपनी जगह है, किन्तु नाटक का संदेश कुछ और भी है।

नाटककार चोरी, झूठ, बेईमानी, धोखेबाजी, छल-कपट और अन्याय के खिलाफ सचाई, ईमानदारी सदाशयता का संघर्ष दिखाकर सद्गुणियों की जीत भी दिखाता है, शील की रक्षा करता है और सदाचारी को भी बचाता है। यही नाटकीय प्रासंगिकता का चरम बिन्दु है। जब चारुदत्त वधस्थल पर पहुँचकर मष्ट्यु के मुख में जाने ही वाला था, उसके जीवन में जब सब कुछ बिगड़ता मालूम होता है, तब एकाएक सब सँवर जाता है। नाटकीय प्रसंग में ऐसा दिखाना अच्छाई में विष्ठवास बनाए रखना है, आशा और भरोसे की ज्योति जलाए रखना है। यही नाटक का संदेश और प्रासंगिकता है। इसीलिए मष्ट्युकटिक सामाजिक चिन्ताओं से जुड़ी हुई एक प्रगतिशील कृति के रूप में आज भी अपना महत्त्व बनाए हुए है। 'कर भरा होगा भला'—जैसा स्वर नाटक की संरचना में गुँथा हुआ है। चारुदत्त अपने हित की परवाह न करते हुए सदैव सबका हित करता रहता है। जब वह परेष्ठानी से घिरता है तो सहृदय का अन्तर्मन रो उठता है। किन्तु अंत में जो प्राप्ति चारुदत्त को होती है, वह सचमुच उसका अधिकारी है, यह संतोष का भाव सहृदय के अन्तःकरण को निर्मल कर देता है। All is well that ends well—कहावत चरितार्थ करता हुआ नाटककार सत्कार्यों के प्रति मानव-मात्र को न केवल प्रेरित करता है, बल्कि उसकी निष्ठता बनाए रखता है।

नाटक की प्रासंगिकता रूढ़ियों के त्याग में भी है। प्रचलित परिपाटी को न अपनाकर वह अप्रत्याशित रूप से रूढ़ि तोड़ता हुआ दिखाई देता है। उदाहरण के लिए—गणिका का ब्राह्मण से विवाह, निम्न वर्ग से सेनापति का चयन नाटककार की इसी दृष्टि को दर्शाते हैं। मध्यवर्ग के आर्यक को राजा बनते दिखाना भी इसी तरह का रूढ़ि त्याग है।

शूद्रक के समय का समाज

शूद्रक अपने समय के समाज को उसकी वास्तविक छवियों के साथ साकार करते हैं। समाज में रहने वाले चारों वर्गों का सही चित्र देते हैं। समाज में नारी की क्या स्थिति है, निम्न-वर्ग की क्या स्थिति है, शोचण और अन्याय कहाँ कैसे पनपता है, सबका सही अंकन करते हैं।

इस कृति में जीवन के हर पक्ष की सच्चाई व्यक्त की गई है। आम आदमी के लिए यह कृति एक सबक की तरह है, यह व्यक्ति विद्योत्त पर निर्भर करता है कि वह क्या सीख लेता है। उदाहरण के लिए शूद्रक जुए के दोनों पक्ष उजागर करते हैं, पहला यह कि जुए में जीतने वाले को तो जुआ बिना सिंहासन राज्य दे सकता है। दूसरा यह कि यदि वहा हारे तो सब नष्ट हो जाता है। यह सभी काल का और सभी समाज का दो टूक सत्य है जिसे शूद्रक अभिव्यक्त करते हैं। कृति के नीतिपरक कथन भी इसकी प्रासंगिकता और सामाजिक-बोध का प्रमाण हैं, यथा जब वे कहते हैं: **साहसे श्री वसति और सर्व शून्यं दरिद्रस्य** तो यह एक सार्वभौमिक सत्य की अभिव्यक्ति है, सदा सदा का सत्य है। साहसी का साहस ही उसका वैभव है और दरिद्र के लिए इस संसार में है ही क्या? श्रायद कुछ भी नहीं, क्योंकि उपभोग तो सम्पन्नता से ही संभव है।

जीवन के उतार-चढ़ावों की यथार्थ व्यंजना के कारण मष्टच्छकटिक एक लोकप्रिय नाटक रहा है, देष्टा में ही नहीं विदेष्टा में भी। परस्पर विरोधी भावों को ठीक पकड़ पाने के कारण, अच्छाई और बुराई के भरपूर समावेष्टा के कारण नाटकीय प्रभावक्षमता बढ़ी है। यह जीवन का एकांगी चित्र नहीं देता, समग्रता का बोध देता है। मनुज्य कमजोरियों का पुतला है, पर अपने किए का बोध उसे सबल बनने को प्रेरित भी करता रहता है। इस सत्य के प्रमाण कृति के विस्तार में मौजूद हैं। श्राविलक चोरी करता है पर उसकी 'अपराधिनी अंतरात्मा श्रांकित हो उठती है', मनुज्य का मान जन्म या जाति के कारण नहीं, उसके गुणों और कर्म के कारण है, यह भी इस प्रकरण का निहितार्थ है।

‘कुलीन होने से कुछ नहीं होता

स्वभाव की श्रेष्ठता
अच्छी भूमि में उत्पन्न होने पर भी

बबूल का पेड़ काँटे ही उगाता है।

चारुदत्त शूद्रक के इस विचार को पूरी तरह वहन करता है। उसके गुणों के कारण ही अनन्य-सुंदरी वसन्तसेना उससे प्रेम करती है, पत्नी उसे दुखी देखना नहीं चाहती, मित्र उसके बचाव के लिए तत्पर रहते हैं। वह अपने दानी स्वभाव के कारण दरिद्र हो चुका है, किन्तु सबका प्रिय-पात्र है। अन्य पात्रों को भी इस दृष्टि से विवेचित किया जा सकता है। जैसे वसन्तसेना गणिका है पर उसके हृदय से प्रेम एक पवित्र मनोभाव बनकर व्यक्त होता है। पालक उच्चकुलीन राजा होकर भी महान् नहीं है। शर्विलक ऊँचे कुल में जन्म लेकर भी चोरी जैसा निकृष्ट काम करता है।

चरित्र की विष्णोजताएँ

मष्टच्छकटिक की पात्र-सष्टज्जि सष्टाक्त और सजीव है।

चारुदत्त धीर-गंभीर, स्वाभिमानी है। 'प्रकरण' के अन्य पात्र स्थान-स्थान पर उसकी चारित्रिक विष्णोजताओं को रेखांकित करते हुए जो कहते हैं, वह इस प्रकार है :

हमारे जैसे लोगों पर कृपा करने से
वह व्यक्ति धनहीन हो गया है—

याचकों की तक्षण मिटाकर अब वह ऐसे सूख गया है
जैसे भरा हुआ सरोवर ग्रीज़म की धूप से सूख जाता है।

निर्धनों की कामनाएँ पूरी करने वाला कल्पवृक्ष,
सज्जनों का कुटुम्बी, शिक्षितों का आदर्श,
सच्चरित्र की कसौटी तथा सदाचार का सागर।

'चंद्रमा कभी किसी को ताप नहीं देता' कहकर मदनिका चारुदत्त के चरित्र का वैष्णोज्जय उद्घाटित करती है। वह 'धर्मधन' है 'श्ररणागत वत्सल' है। वधस्थल की ओर चारुदत्त को ले जाते हुए चांडाल का कथन है :

राहु से ग्रस्त होकर भी चन्द्रमा
क्या लोक के लिए वंदनीय नहीं होता?

वह कलाप्रेमी है—इसका प्रमाण उसका यह कथन है :

वीणा चाहे समुद्र से नहीं निकली, फिर भी वह एक रत्न ही है।
उत्कण्ठित व्यक्ति के लिए वह एक मनोनुकूल मित्र है;
संकेत स्थान पर प्रिय के आने में विलम्ब होने पर
मनोविनोद का सुंदर साधन है।
विरह-व्याकुल व्यक्ति को धैर्य देने में प्रेयसी की तरह है

चारुदत्त हृदय की कोमलता और संवेदनशीलता का साकार रूप है, उसके मन को ठेस पहुँचाने वाली बहुत छोटी-छोटी सच्चाईयाँ हैं:

धन का आना और चले जाना भाग्य की बात है।
परन्तु धन के नष्ट हो जाने पर लोग मैत्री भी छोड़ देते हैं
यह बात मेरे हृदय को सालती रहती है।

वह किसी का मन नहीं दुखा सकता, इसलिए घर में चोरी हो जाने पर वह पहला प्रयत्न विष्णुवास की रक्षा के लिए करता है :

जिस विष्णुवास का आधार लेकर
उसने हमारे पास अपनी धरोहर रखी थी
उस महान् विष्णुवास का ही मूल्य
इस रत्नावली के रूप में दिया जा रहा है।

शूद्रक ने एक स्थान पर यह बताते हुए कि किसको कैसे वष्टा में किया जाता है, कहा है—'नारी को हृदय से वष्टा में किया जाता है'

तो चारुदत्त ने वसन्तसेना और धूता दोनों को ही हृदय से वष्ट्र में किया हुआ है।

नाटक की प्रमुख नारी-पात्र वसन्तसेना 'नगर का आभूषण' है, वह कोमल-हृदय, संवेदनशील नारी है, गणिका होने पर भी उसका चरित्र बहुत पावन है। नाटक में कहा गया है: **वेष्ट्रया होते हुए भी जिसका प्रेम कुल-ललनाओं को लजाता है'**

वसन्तसेना भावुक पर व्यावहारिक नारी है। आभूषणों की धरोहर चारुदत्त को सौंपने पर जब चारुदत्त कहता है कि यह घर धरोहर के लिए उपयुक्त स्थान नहीं है, समझदार वसन्तसेना कहती है:

धरोहर व्यक्ति को सौंपी जाती है, घर को नहीं। यहाँ वह एक पंक्ति मात्र में चारुदत्त के प्रति अपने मन के विष्ट्रवास को मूर्त कर देती है।

मदनिका के यह कहने पर कि आर्य चारुदत्त सर्वथा निर्धन हैं, वसन्तसेना का कहना—'निर्धन व्यक्ति पर आसक्ति रखने से वेष्ट्रया निन्दनीय नहीं समझी जाती'—उसकी चारित्रिक समझ को प्रकट करता है।

जब संवाहक एक अधूरा वाक्य बोल पाता है कि **'अब वे यानी चारुदत्त उदारतापूर्वक लोगों को दान दे दे कर'** खूब तब वसन्तसेना वाक्य पूरा करती है: **धनहीन हो गए हैं।** 'बिना कहे आपने कैसे जाना' यह पूछे जाने पर वह कहती है :

'इसमें जानने को क्या है? जहाँ गुण हैं, वहाँ धन नहीं रहता। पानी से वही सरोवर भरे रहते हैं, जहाँ कोई पीने वाला न आता हो।'

ये पंक्तियाँ वसन्तसेना की सूक्ष्म चिन्तनशील प्रवृष्टि का स्पष्ट संकेत करती हैं।

वसन्तसेना की अन्य चारित्रिक क्षमताओं का पता इस कृति में स्थान-स्थान पर मिलता है। चारुदत्त की पत्नी धूता के प्रति उसका व्यवहार बहुत ही शालीन है। वह चारुदत्त के पुत्र, सेवक, मित्र-सभी के प्रति समान रूप से सौम्य व्यवहार करती है। यह आचरण मन से उमड़कर आता है, इसमें कोई दिखावा नहीं।

धूता जैसी पत्नी को पाना चारुदत्त के जीवन की एक उपलब्धि है, जिसके लिए **'सर्वश्रेष्ठ आभूषण चारुदत्त'** ही है।

वह पति के जीवन, चरित्र और कुलीनता की रक्षा करने को कटिबद्ध आदर्श नारी है।

चारुदत्त का मित्र मैत्रेय दोस्ती का निबाह करने वाला, परिस्थिति के अनुरूप आचरण करने वाला, सजग-सटीक टिप्पणी करने वाला रोचक पात्र है।

कृति के इन सभी पात्रों के संदर्भ में यह कहना सही होगा कि किसी में भी पलायन-वृष्टि नहीं है। वे जीवन संघर्ष में पड़े हुए पात्र हैं। जीवन की हलचल के बीच सभी पात्र अपने-अपने कामों में संलग्न हैं। यहाँ तक की बौद्ध-भिक्षु बना संवाहक भी केवल उपदेष्टाक की भूमिका में न होकर वसन्तसेना के प्राण बचाने वाले कर्तव्यनिष्ठ नागरिक के रूप में अवतरित होता है। नाटक के सद्पात्र कर्तव्य-निष्ठ हैं, नीति का अनुसरण करते हैं, सत्य बोलते हैं, दीनों पर दया करते हैं—और इस तरह पात्र-योजना भाग्य पर मानवीय प्रयत्नों की जीत दिखाती है। जो बुरे हैं वे भी संघर्षमय वातावरण में साँस लेते, कुछ-न-कुछ जोड़-तोड़ करते रहते हैं, इस तरह जीवन की कर्मठता को ही सूचित करते हैं। शर्विलक ऊँचे कुल में जन्मा, पर कुछ पाने के लिए उसने चोरी की। जब जीवन में चारुदत्त और वसन्तसेना जैसे भले पात्रों से उसका परिचय हुआ तो वह कह उठा:

मनुष्य को चाहिए कि

अपने में गुणों के विकास का प्रयत्न करे।

गुणवान् निर्धन भी

गुणहीन धनाधीष्ठों से कहीं अच्छा है!

गुणों के रहते संसार में कुछ भी अप्राप्य नहीं।

गुणों का ही प्रभाव है कि चंद्रमा
छांकर के अलंघ्य मस्तक का लंघन कर पाया है।

6 शिल्प-संरचनागत विशेषताएँ

प्रस्तुत नाटक में शूद्रक की वर्णन-क्षमता स्थान-स्थान पर देखने को मिलती है। आरंभ में ही वह चारुदत्त के बहाने कहते हैं:

घर में पुत्र न हो, तो घर सूना है;
एक अच्छा मित्र न हो, तब तो वह और भी सूना है।
यदि व्यक्ति मूर्ख हो, तो उसके लिए दसों दिष्टाएँ सूनी हैं,
और यदि पास में धन न हो,
तो सब-कुछ सूना-ही-सूना है।

शूद्रक की इस वर्णन क्षमता का एक और उदाहरण चोर के स्वगत कथन में देखा जा सकता है जो अपने-आप को परिभाषित करते हुए इस प्रकार कहता है:

दबे-दबे चलने में बिलाव हूँ, भागने में हरिण और झटपने में बाज!
रेंगने में साँप, रूप और वेष्टा बदलने एवं विभिन्न भाजाएँ बोलने में माया रूप!

नाटक में वर्जा, दारिद्र्य, द्यूत न्यायालय, स्त्री-स्वभाव-सभी का प्रभावशाली वर्णन हुआ है। दारिद्र्य के संबंध में चारुदत्त का यह कथन मार्मिक है :

मष्ट्यु और दारिद्र्य, इन दोनों में
मष्ट्यु ही अधिक वांछनीय है।
मष्ट्यु का क्लेश अल्पकालिक है।
जबकि दारिद्र्य
अनन्त काल का दुख है।

दारिद्र्य के कारण अपनी विचित्र अवस्था को चारुदत्त कई तरह से व्यक्त करता है। एक स्थान पर वह कहता है:

‘पास में धन न हो, तो व्यक्ति के स्वजन भी उसकी बात नहीं मानते;
कहा जा सकता है कि निर्धनता संसार में छठा महापातक है!’

धृता की यह उक्ति धरोहर चुरा लिए जाने के बाद उसके संताप को साकार कर रही है:

कमलपत्र पर पड़ी हुई वर्जा की बूँद की तरह चंचल निर्धन व्यक्तियों के भाग्य से तुम इस तरह
खिलवाड़ किया करते हो, दैव!

नाटक का मुख्य रस शृंगार है, करुण, अद्भुत उसके सहयोगी हैं। संवाद छोटे और प्रभावशाली हैं। हास्य और व्यंग्य से भरपूर भाजा सरल, सुबोध है। जैसे मैत्रेय का यह कथन: हाय री अवस्था, तूने तो हमें रुई की तरह धुन दिया!

चोरी करते हुए शर्विलक का यह कथन उसके अन्तरदाह को सटीक व्यक्त कर रहा है:

धिक्कार है निर्धनता को
जो व्यक्ति के पौरुष के लिए अवकाश नहीं रहने देती

नाटक मंचीय प्रस्तुति के सर्वथा उपयुक्त है। कुछ वर्णनों को छोड़कर शृंगार सभी दृष्टय अनुकूल हैं। नाटक का

मंचन न केवल देष्टा बल्कि विदेष्टाओं में भी हुआ है।

अभ्यास के लिए कुछ प्रश्न

1. मष्टच्छकटिक की नाट्य-विष्टेज्जताएँ रेखांकित करें।
2. मष्टच्छकटिक ष्टीर्जक की सार्थकता पर विचार व्यक्त करें।
3. चारुदत्त के चरित्र की विष्टेज्जताएँ बताएँ।
4. संधिच्छेद अंक की नाटकीयता उदघाटित कीजिए।
5. मष्टच्छकटिक की ष्टिल्पगत विष्टेज्जताओं पर प्रकाष्टा डालें।
6. वसन्तसेना के चरित्र की गरिमा को रेखांकित करें।
7. मष्टच्छकटिक एक सामाजिक व्यंग्य है—उदाहरण सहित स्पष्टीकरण दें।
8. मष्टच्छकटिक में निहित हास्य और त्रासदी का अंकन करें।
9. ष्टूद्रक के पात्र सार्वदेष्टिक-सार्वकालिक हैं—मूल्यांकन कीजिए।

4. वियोग (अमीर खुसरो)

डॉ. राजेन्द्र प्रसाद गौतम
रीडर, हिंदी-विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय

खुसरो का युग—तेरहवीं-चौदहवीं ष्टाताब्दी का भारत गहरे सामाजिक, भाजिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक परिवर्तनों के दौर से गुजरता है। किसी युग का प्रतिनिधि साहित्यकार बैरोमीटर की तरह अपने समय के परिवर्तन दर्ज करता है। खुसरो ऐसे ही साहित्यकार हैं, जिनकी रचनाओं में उनके युग का स्पंदन स्पष्ट सुनाई देता है। उन्होंने फारसी और हिंदुस्तानी जुबान में विपुल साहित्य रचा है। हिंदुस्तानी जुबान में रचे उनके साहित्य का एक रंग खड़ी बोली का है, तो दूसरा उर्दू का। खुसरो में संस्कृतियों का मिलन है। सूफीवाद ने मध्यकालीन धर्मसाधना में महत्त्वपूर्ण उपस्थिति दर्ज कराई थी। मुल्ला दाउद से पूर्व ही खुसरो में सूफी जीवन-दर्शन की जीवन्त उपस्थिति है। वे जितने दरबार से जुड़े कवि थे, उतने ही जनता के कवि भी थे। अभिजात और जन-संस्कृति का जैसा संगम खुसरो में है, वैसा अन्यत्र कम ही मिलता है। उनकी कविता को समझना लोक-मन को समझना है। भाजा, संस्कृति और काव्यरूपों की विविधता खुसरो के व्यक्तित्व की पहचान है। इस विविधता ने हिंदी और उर्दू कविता को बहुत समृद्ध किया है।

सूफी संतों की दरगाहों और खानकाहों से जुड़ी परंपराएँ लोक-मन को एक संप्रदाय-मुक्त आराधना की ओर प्रवृत्त करती रही हैं। ऐसे संतों में निजामुद्दीन औलिया का नाम अति विष्टिज्ज है। खुसरो इसी लोक-प्रसिद्ध संत के ष्टिज्य थे। उनका जीवन उनके काव्य की तरह वैविध्यपूर्ण है इसीलिए उनके जीवन का अध्ययन उनके काव्य को अधिक मूर्त करता है।

खुसरो : जन्म, शिक्षा एवं जीवन-क्रम—स्वयं को 'हिंदी की तूती' कहने वाले बहुमुखी प्रतिभा के धनी खुसरो का पूरा नाम अबुल हसन यमीनुद्दीन खुसरो 'अमीर' था। उनका जन्म ऐटा के पास पटियाली नामक छोटे-से गाँव में सन् 1253 में हुआ था। उनके पिता अमीर सैफुद्दीन मोहमद तुर्किस्तान के लाचीन कबीले के सरदार थे और खुसरो के जन्म से थोड़ा पहले ही भारत आए थे। चंगेज़ खाँ की बर्बरता के किस्से तो दुनिया जानती है। मध्य एशिया में जन्मे सैफुद्दीन को भी चंगेज़ खाँ की बर्बरता के कारण ही देश छोड़ना पड़ा था। तब दिल्ली में ग्रामसुद्दीन अलतमशा गद्दी पर विराजमान था। युद्ध-कौशल के बल पर सैफुद्दीन की पहुँच अलतमशा के दरबार में हो गई। सुदर्शन चौपड़ा ने अपनी पुस्तक 'अमीर खुसरो' में खुसरो के मुख से कहलवाया है—“मेरी पैदाइश हिज़्री सन् 653 (ईसवी सन् 1253) में हुई। पैदा तो मैं पटियाली गाँव में हुआ था, लेकिन वहाँ रहा सिर्फ चार वर्ष तक। अब्बाजान मुझे अपने साथ दिल्ली ले आए थे। खुद तो पढ़े-लिखे न थे, लेकिन मुझमें उन्होंने जरूर ऐसा कुछ देखा होगा कि मैं कुछ बन सकता हूँ, इसलिए मेरी पढ़ाई-लिखाई का शुरु से ही उन्होंने खास ख्याल रखा। जो भी अच्छे-से-अच्छा इंतजाम वह कर सकते थे, उन्होंने किया। काज़ी असद-उद्-दीन मुहम्मद के मक़तब में मुझे पढ़ने डाल दिया। चार साल तक मैं इसी मक़तब में पढ़ा।”

खुसरो का हजरत निजामुद्दीन का शिष्य बनना—सैफुद्दीन मोहम्मद अपने बेटे खुसरो को बेहतर शिक्षा दिलाना चाहते थे। इसीलिए खुसरो को असदुद्दीन मुहम्मद के मक़तब में चार साल रखने के बाद उन्होंने इन्हें अपने समय के पहुँचे हुए संत निजामुद्दीन औलिया का मुरीद (शिष्य) बना दिया। कवित्व की प्रतिभा खुसरो में बचपन में ही थी। माना जाता है कि जब खुसरो के पिता उन्हें निजामुद्दीन से मिलवाने ले गए थे तो कुछ समय उन्हें बाहर प्रतीक्षा करनी पड़ी थी। तब वहाँ आने के मक़सद से अनाष्टवस्तु खुसरो ने विरक्त भाव से एक पद मन में सोचा जिसका अर्थ है 'तू ऐसा ग़ाह है कि तेरे कंगूरे पर यदि कबूतर आ बैठे तो बाज बन जाए। एक गरीब तेरे दर पर खड़ा है। वह अंदर आए कि बाहर से ही लौट जाए?'

कहते हैं कि खुसरो के ऐसा सोचते ही औलिया के सेवक ने आकर एक पद पढ़कर सुनाया था, जिसका अर्थ है 'ऐ हकीकत को जानने के इच्छुक अंदर आ जाओ ताकि हमारे रहस्यों से कुछ परिचित हो सको और यदि आंगतुक के मन में ज्ञान की खोज नहीं है, तो वह जिस राह से आया है, उसी राह से लौट जाए।' इसे सुनते ही खुसरो अंदर दौड़े गए और औलिया के कदमों से लिपट गए। इतिहास, लोक-विश्वास और खुसरो की ग़ायरी इस बात के साक्षी हैं कि औलिया से खुसरो का आजीवन प्रगाढ़ भावात्मक संबंध रहा। कविता का जो जज़्बा उनके भीतर था, वह गुरु की प्रेरणा से झरना बनकर बह निकला। **धर्म और संप्रदाय की कट्टरताओं से अलग खुसरो का ऐसा व्यक्तित्व बना जो प्रथमतः मनुष्य से प्यार करता था।** इस व्यक्तित्व के बनने में निजामुद्दीन औलिया का ही महत्वपूर्ण हाथ था। औलिया सभी धर्मों के रीतिरिवाजों का सम्मान करते थे। यही गुण खुसरो में विकसित हुए।

खुसरो का जीवन बहुत उतार-चढ़ाव भरा एवं घटनापूर्ण रहा। अपने जीवन काल में वे अनेक ग़ासकों, राजनीतिविदों, संतों, विद्वानों एवं बुद्धिजीवियों के संपर्क में आए। इन अनुभवों से उन्होंने बहुत कुछ सीखा। साथ ही उन्होंने जीवन में अनेक संघर्षों को भी झेला। इस क्रम में वे एक सैनिक, सलाहकार, अध्यापक, पुस्तकालय-कर्मी, संगीतकार और कवि की भूमिकाएँ निभाते रहे। वे लंबी राजनैतिक उथल-पथल के साक्षी रहे। पर इस समूचे घटनाक्रम में उनका कवि जाग्रत रहा। वे निरंतर लिखते रहे। यों उन्होंने अपने समय के सुलतानों की प्रशंसा में कसीदे भी कहे पर उससे उन्हें संतोष नहीं हुआ। बल्कि बाद में तो उन्हें इसका मलाल ही रहा कि उन्होंने ऐसा किया। उन्हें लगता रहा कि यह सब उन्होंने दौलत के लिए किया। खुसरो ने दौलत पाई भी पर सब जरूरतमंदों और खुदा के बंदों पर लुटा दी। **सुदर्शन चौपड़ा ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि खुसरो को सबसे ज़्यादा सुख हिंद की जबान में आम लोगों की रोजमर्रा की ज़िंदगी पर लिखकर मिला।**

मष्ट्यु—धीरे-धीरे खुसरो अध्यात्मोन्मुख होते चले गए। अब उन्हें लगने लगा था कि निज़ाम और वे दो शरीर, एक आत्मा हैं। इस एकरूपता का ही यह परिणाम था कि निजामुद्दीन की मष्ट्यु के बाद वे अधिक दिनों तक जीवित

न रह सके। निजामुद्दीन की मष्ट्यु के समय खुसरो ष्टाही काम से दिल्ली से बाहर थे। लौटने पर वे औलिया के देहांत का समाचार सुनकर सन्न रह गए। मर्माहत होकर उन्होंने एक दोहा पढ़ा—

गोरी सोवे सेज पर मुख पर डारे केस।
चल खुसरो घर आपने, रैन भई चहुँ देस॥

खुसरो का यह दोहा अमर है। इसमें पूरा सूफी दर्शन समाहित है। खुसरो की मजार पर हर वर्ज होने वाले उर्स के आयोजन का आरंभ इसी दोहे से होता है।

औलिया की मष्ट्यु के थोड़े दिन बाद ही सन् 1325 में खुसरो का भी देहांत हो गया था।

खुसरो की रचनाएँ

(क) फ़ारसी रचनाएँ—फ़ारसी और हिंदुस्तानी में खुसरो द्वारा रचित यों तो 99 ग्रंथ माने जाते हैं परंतु शोधकर्त्ताओं ने उनकी 22 पुस्तकों के ही उपलब्ध होने का उल्लेख किया है। इनमें कविता की पुस्तकों के अतिरिक्त तीन गद्य पुस्तकें भी हैं। खुसरो की पाँच 'मसनवियाँ' (एक ही छंद में रचित लंबी वर्णनात्मक कविताएँ) और पाँच 'दीवान' माने जाते हैं, जिनमें गज़लें, गीत और अन्य विधाओं की रचनाएँ संकलित हैं। मसनवियों में ऐतिहासिक और समकालीन गाथाओं और प्रेम-कथाओं को समाहित किया जाता है। खुसरो ने पाँच मिसरों वाली कविता के विष्टोज़ रूप 'खम्स' की रचना भी की। खुसरो ने 'दिबाचा' (उनके दीवान की भूमिका) के द्वारा उर्दू में आलोचना की शुरुआत भी की। नूह सिपहर, दीवनरानी, खिज़्रखान, हस्तबशीत, मजनू-लैला, तुगलकनामा, घुर्तुलकमाल, मिफ्ता-उल्-फुतूह, अफज़ल-उल्-फैवाम, मतला-उल्-अनवर और जवाहरे खुष्टानवी आदि उनकी फ़ारसी में रचित प्रसिद्ध पुस्तकें हैं।

(ख) हिंदवी अर्थात् हिंदी एवं उर्दू रचनाएँ : खुसरो की हिंदी एवं उर्दू की रचनाएँ, 'गीत', 'पहेली', 'मुकरियाँ', 'दो सुखना' एवं 'ढकोसला' के रूप में लोककंठ में अधिक जीवित रही हैं। इसलिए बहुत-सी रचनाओं के पाठ की प्रामाणिकता पर आलोचकों ने संदेह भी व्यक्त किया है। 194 छंदों में भाज़ा-शिक्षण के लिए लिखी गई उनकी प्रसिद्ध रचना 'खालीकबारी' की भी यही स्थिति है। इसमें प्रचलित अरबी-फ़ारसी शब्दों के हिंदी पर्याय कविता के रूप में लिखे गए। पर्याय-कथन की रोचक शैली के कारण ही यह अत्यधिक लोकप्रिय हुई है। एक उदाहरण देखिए:

दस्त बिरंजन कंगन कहिए, पायल है खलखाल,
पाय बिरंजन चूड़ा कहिए, खूबी हुस्न व जमाल।

खुसरो के हिंदवी काव्य के बारे में अतिशयोक्तिपरक वर्णन भी मिलता है। कुछ अलोचकों ने यहाँ तक लिख डाला है कि उन्होंने हिंदवी में तीन-चार लाख 'अष्टाआर' कहे हैं। शम्सुल्लाह कादरी ने बतलाया है कि अवध के 'श्टाही पुस्तकालय' में खुसरो की हिंदी कविताओं के दो संकलन थे जिनके आधार पर डॉ. शिष्ट्रंगर ने एक लेख 1854 में तथा एक और बाद में लिखा था। प्रो. गोपीचंद नारंग ने बहुत खोजबीन के बाद 'अमीर खुसरो का हिन्दवी काव्य' पुस्तक संपादित की है। खुसरो के साहित्य की विविधता उनकी उर्वर प्रतिभा की परिचायक कही जा सकती है।

खुसरो के हिंदी काव्य में प्रयुक्त काव्य-रूप

खुसरो के जीवन की विविधता अनेकरूपा है। वे दरबार से भी जुड़े हैं और जन से भी। उन्हें पाँच-पाँच सलतनतों के दरबारों के अनुभव मिले। मिश्र भाज़ा में जीना उनका स्वभाव रहा। काव्य-रूपों का भी खुसरो ने विविधतामय प्रयोग किया है। उनके द्वारा प्रयुक्त प्रमुख काव्य-रूप हैं : गीत (बाबुल गीत, झूला गीत, सावन गीत, बसंत गीत) पहेलियाँ (बूझ पहेली, अनबूझ पहेली) कह मुकरियाँ दो सुखना-हिंदी, फ़ारसी-हिंदी, अनमेलिया या

ढकोसला, निसबत, गज़ल, दोहा, फुटकर गद्य।

गीत—खुसरो भारतीय संगीत से बहुत प्रभावित थे और लोक से गहरे जुड़े थे इसलिए वे कविता की जन से जुड़ी राहों पर ही अधिक चले। गीत कविता की ऐसी ही राह है। खुसरो ने अपभ्रंश गीतों के लोकनष्ट्यपरक 'चांचरी' और 'फाग' जैसे गीत-रूपों की सामूहिकता को अपनाकर उन्हें ऐसा दार्शनिक रंग दे दिया, जिससे उनके गीत जनकण्ठ में अमर हो गए। वे आज भी जनता की जुबान पर हैं। नए मीडिया ने कभी फिल्मों आदि में तो खुसरो के गीतों का भरपूर प्रयोग किया ही, हबीब तनवीर, आबिदा परवीन और नुसरत फतहअली खां ने अपने गायन से खुसरो के गीतों को लोक में पुनर्जीवित कर दिया। खुसरो का नुसरत द्वारा गाया गया एक प्रसिद्ध गीत है :

सगन बिन फूल रही सरसों
अंबवा फूले, टेसू फूले,
कोयल बोले डार-डार,
और गोरी करत सिंगार
मलनियाँ गुंदवा ले आई कर सों
सगन बिन फूल रही सरसों

खुसरो के गीतों में सूफी अंदाज़ बखूबी देखा जा सकता है। सूफी जिस अलौकिक प्रेम (इष्टक हकीकी) की पीर गाते हैं, उसे लौकिक प्रेम (इष्टक मजाजी) के बिना अनुभव का विजय नहीं बनाया जा सकता। इसीलिए खुसरो के गीतों में साजन, नैहर, पिया का घर जैसे संदर्भ विष्टोज़ रूप से आए हैं और इन्होंने ही एक खास तरह के गीतों को जन्म दिया, जिन्हें 'बाबुल गीत' कहा गया। ये गीत भारतीय जनजीवन की गहरी छाप लिए हैं। ऐसी एक अद्भुत रचना इस प्रकार है—

काहे को बियाही परदेस,
सुन बाबुल मोरे।... आए बेगाने देस,
सुन बाबुल मोरे।

भारतीय स्त्री की वेदना-गाथा की झलक इस गीत में बहुत स्पष्ट है। आज स्त्री-विमर्श के संदर्भ में लड़के-लड़की के बीच भेद-भाव का जो मुद्दा उठा है, उसकी झलक इन पंक्तियों में है -

भइया को दीहे महला-दुमहला,
हम के दिहे परदेस।

पहेलियाँ—खुसरो अपने समय के लोकजीवन के मन तक उतरे हैं। लोकमन की राह भाज़ा है। उस समय उच्च मुस्लिम वर्ग फ़ारसी के प्रयोग के कारण भारतीय जनमानस से नहीं जुड़ पाया था। खुसरो ने ठेठ देष्टाज शब्दों का व्यवहार 'पहेलियों', 'मुकरियों' और 'दो सुखनों' में किया है। पहेली की रोचकता, जिज्ञासा और क्रीड़ापरकता की शक्ति को खुसरो ने पहचाना और इसके बलपर वे जन-साधारण से जुड़ सके। एक ओर हिंदुस्तानी जुबान के माध्यम से वे दरबार तक हिंदी को ले जा रहे थे, दूसरी ओर दरबार को इस जुबान के माध्यम से जनता से जोड़ रहे थे। इन सरल विधाओं से वे पाठकों को काव्य-रचना के अभ्यास के लिए भी प्रेरित करते थे।

खुसरो की पहेलियों के कुछ रोचक उदाहरण यहाँ प्रस्तुत हैं :

ष्ट्याम बरन और दाँत अनेक
लचकत जैसी नारी
दोनों हाथ से खुसरो खींचे
और कहे तू आ री

—आरी

खुसरो की पहलियों में अद्भुत कल्पनाशील चित्रात्मकता है। उदाहरण देखिए:

एक पुरुष ने ऐसी करी
खूँटी ऊपर खेती करी
खेती बारी दई जलाप
वाई के ऊपर बैठा खाय

—कुम्हार

कह मुकरियाँ—भारतीय काव्यशास्त्र में वर्णित अपन्हुति अलंकार में मूल बात छिपाकर दूसरी बात को सामने लाया जाता है। भाजा की ऐसी विष्टोजता खुसरो ने मुकरियों में उपस्थित की है। 'मुकरियाँ' शब्द मुकरना से बना है, जिसका अर्थ है—कही बात से मुकर जाना। खुसरो ने सौ से अधिक मुकरियों में भाजिक चमत्कार और कल्पना-शक्ति का अच्छा परिचय दिया है। अधिकांश मुकरियों का विज्ञय शृंगार है। ये मनोरंजन-प्रधान हैं। एक उदाहरण देखिए:

जब कोरे मंदिर में आवे
सोते मुझको आन जगावे
पढ़त फिरत वह बिरह के अच्छर
ऐ सखी साजन, ना सखी मच्छर

दो-सुखना—खुसरो हिंदू-मुस्लिम, ईरान-भारत, फ़ारसी-हिंदवी को निरन्तर निकट लाना चाहते थे। इसके लिए उन्होंने अपनी कविता को भाजा-शिक्षण का माध्यम बनाया। हिंदी को हिंदवी नाम उन्होंने ही दिया था। **भाजाओं को निकट लाने के लिए उन्होंने दो-सुखना का तो सहारा लिया ही, पहली बार ऐसी ग़ज़ल की भी रचना की जो फ़ारसी और हिंदुस्तानी दोनों भाजाओं में है।** दो-सुखना भाजा-चमत्कार पर आधारित खुसरो द्वारा विकसित एक खास विधा है। इसमें एकाधिक प्रश्नों का उत्तर श्लेजालकार के चमत्कार के रूप में एक ही शब्द में निहित रहता है। खुसरो ने हिंदी के अतिरिक्त, ऐसे दो-सुखने भी रचे, जिनमें एक प्रश्न फ़ारसी का तथा एक हिंदी का है पर दोनों का उत्तर एक ही हिंदी शब्द में निहित है। यह खुसरो का कोरा चमत्कार-मोह न होकर उनके द्वारा देखे गए उस सपने को पूरा करने का प्रयास है, जो दूर-दूर समझी जाने वाली भाजाओं को निकट लाने का उनका रहा है। यहाँ उनके हिंदी के और मिश्रित दो-सुखना का उदाहरण दिया जा रहा है।

हिंदी दो-सुखना—

खिचड़ी क्यों न पकाई?
कबूतरी क्यों न उड़ाई?

—छड़ी न थी।

इन 'दो सुखना' को समझने के लिए आम आदमी की भाजा की जानकारी होनी चाहिए। कबूतरी के संबंध में छड़ी का अर्थ बहुज्ञात है। पर खिचड़ी से उसका संबंध जानने के लिए लोकभाजा का ज्ञान अपेक्षित है। 'छड़ना' क्रिया का अर्थ छड़ी से पीटना होता है। बाजरे की खिचड़ी बनाने के लिए उसके ऊपर का बारीक छिलका उतारना ज़रूरी होता है। धान या बाजरे की ढेरी को जब छड़ी से पीटा जाता है तो उसे छड़ना कहते हैं। यह प्रयोग हरियाणवी में विष्टोज रूप से देखा जा सकता है। बाजरे की ढेरी क्योंकि छड़ी नहीं गई थी। इसलिए उसकी खिचड़ी न बन सकी।

फ़ारसी-हिंदी दो-सुखना—

सौदागर बचा: राचे मी बायद?
बूचे को क्या चाहिए?

—दो कान

यहाँ पहली पंक्ति फ़ारसी की है जिसका अर्थ है: 'सौदागर को क्या चाहिए?' इसका उत्तर हुआ दो कान अर्थात् दुकान। दूसरी पंक्ति हिंदी की है। 'बूचा' (बिना कान वाला व्यक्ति) क्या चाहे? इस हिंदी प्रश्न का भी उत्तर है: दो

कान।

अनमेलिया या ढकोसला—ऐसी कविता को जिसमें अर्थ की संगति या मेल नहीं है, अनमेलिया या ढकोसला कहा गया है। इस काव्य-रूप में भी शृद्ध मनोरंजन-तत्त्व प्रधान है। खुसरो की कविता में आशु-प्रयोग ही अनमेलिया या ढकोसले के रूप में प्रसिद्ध हुए हैं। उनका एक ढकोसला तो बहुत प्रसिद्ध है। वे एक बार कहीं जा रहे थे। रास्ते उन्हें बहुत प्यास लगी। चलते-चलते उन्हें एक कुआँ मिला जिसपर पनिहारिनें पानी भर रही थीं। प्यास से व्याकुल खुसरो ने पनिहारिनें से पानी माँगा। उन्होंने खुसरो को पहचान लिया और कविता सुनकर ही पानी पिलाने की शर्त रखी। सबने अपनी-अपनी पसंद के विज्ञयों पर कविता सुनने की फरमाइश की। तब खुसरो ने तुरंत यह ढकोसला कहा था :

**खीर पकाई जतन से और चरखा दिया जलाय
आया कुत्ता खा गया तू बैठी ढोल बजाय
—ला पानी पिला**

यह भी माना जाता कि इस ढकोसले की पहली पंक्ति पनिहारिनें ने कही थी और दूसरी पंक्ति तुरंत खुसरो ने गढ़ी थी।

ग़ज़ल—‘ग़ज़ल’ अरबी, फ़ारसी और उर्दू की सबसे लोकप्रिय विधा है। पिछले 30-40 वर्षों में हिंदी में भी खूब ग़ज़लें कही गई हैं। ग़ज़ल का शाब्दिक अर्थ है—प्रेयसी से बातचीत। दो-दो पंक्तियों के समन्वय से इसमें श्लोकों की संरचना होती है। ये पंक्तियाँ अथवा चरण ‘मिसरा’ कहलाते हैं। सैद्धांतिक रूप में ग़ज़ल में श्लोकों की संख्या विज्ञम होती है। पाठ्यक्रम में निर्धारित खुसरो की ‘वियोग’ ग़ज़ल में इस सिद्धांत का पालन हुआ है। खुसरो की इस ग़ज़ल में तकनीकी पूर्णता और भावोद्देश्य की धार साथ-साथ मौजूद हैं।

खुसरो ने फ़ारसी में बड़ी संख्या में ग़ज़लें कही हैं। हिंदी में उतनी ग़ज़लें उन्होंने नहीं कही हैं पर जैसा कि पहले कहा गया है, उन्होंने हिंदी और फ़ारसी में सम्मिलित रूप से ग़ज़ल कहने का अद्भुत प्रयास किया है। इस शैली की उनकी यह ग़ज़ल बहुत चर्चित है :

**जे हाले मिस्कीं मकुन तगाफुल दुराए नैनाँ बनाए बतियाँ
कि ताबे-हिजराँ न दारम ऐ जाँ, न लीहयो काहे लगाए छतियाँ**

इस द्विभाजिकता के द्वारा खुसरो ने एक अच्छा अनुवादक होने का भी परिचय दिया। फ़ारसी, उर्दू और हिंदी के अनुवाद का सिलसिला एक तरह से खुसरो से ही आरंभ होता है।

पाठ्यक्रम में निर्धारित कविता

वियोग : एक श्लोक गीत

कविता की विराट् काया तो एक ही है पर उसके अलग-अलग अभिव्यक्ति-रूप होते हैं। यह विविधता कभी विज्ञय के कारण जन्म लेती है, तो कभी कवियों की प्रयोगधर्मिता के कारण और कभी छंदों और प्रस्तुति-भंगिमाओं की विविधता के कारण। उर्दू के काव्यरूप में मूलतः फ़ारसी काव्यरूपों का ही विकास है। ‘मसनवी’, ‘ग़ज़ल’, ‘कसीदा’, ‘मर्सिया’ आदि काव्य-शैलियाँ फ़ारसी से होते हुए ही उर्दू में पहुँची हैं। उर्दू साहित्य में मर्सिया एक खास रुतबा रखता है। इसे हिंदी में श्लोकगीत कह सकते हैं। ‘श्लोक’ यदि इसकी कथ्यपरक विशेषता का उद्घाटन करता है तो गीत उसकी शिल्प-संरचना का बोधक है। वियोग आदि विज्ञय श्लोक के व्यंजक हैं। ‘गीत’ शब्द के उच्चारण मात्र से कई अर्थ एक साथ गूँज उठते हैं और उन अनुगूँजों से जिस तरह की कविता की तस्वीर बनती है, वह ऐसी संक्षिप्त और गेयता-प्रधान रचना की है, जिसमें आंतरिकता, अंतर्मुखता और भावावेग का स्वाभाविक जुड़ाव होता है।

खुसरो की 'वियोग' शीर्षक रचना प्रथमतः गीत है। इसका प्रतिपाद्य करुण है, इसलिए यह एक शोकगीत है। फ़ारसी उर्दू के अंदाजे-बयाँ के अनुसार यह श्लोकों में ढली रचना है। इसमें पाँच 'अष्टाआर' (श्लोक का बहुवचन) हैं। इस तरह की संरचना को ग़ज़ल कहा जाता है। ग़ज़ल का अपना तकनीकी स्वरूप होता है। अंतर्मुखता और वैयक्तिकता के आधार पर इसे गीत की एक शैली कहा जा सकता है। इसमें गीत जैसी संक्षिप्तता और आवेगमयता का समावेश रहता है। 'वियोग' इन विशेषताओं के कारण ऐसा शोकगीत है, जिसकी संरचना ग़ज़ल की है।

खुसरो की यह ग़ज़ल 'दो गूने' हजरत अमीर खुसरो की सौ ग़ज़लों का उर्दू 'मंजूम तर्जुमा' में संकलित है।

कविता का मूल कथ्य

इस शोक-गीत में 'यार' से जुदाई का दर्द अभिव्यक्त किया गया है। फ़ारसी और उर्दू शायरी में शायर स्त्री हो या पुरुष, प्रेमी को 'यार' से ही संबोधित करता है। पुल्लिंगवाचक इस संबोधन के दार्शनिक-सामाजिक आधार हैं। फ़ारसी में प्रेमी के लिए आष्टिक (इष्टक करने वाला-प्रेम करने वाला) और प्रेमिका के लिए माष्टक (इष्टक का आलंबन) शब्दों का प्रयोग हुआ है और ये दोनों ही शब्द पुल्लिंग हैं।

इस कविता में 'यार' से जुदाई के दर्द को अभिव्यक्त करने के लिए खुसरो ने एक विशेष पद्धति को चुना है। वह पद्धति है—प्रकृति को मनुष्य के दुःख में शामिल कर लेने की अथवा प्रकृति में वैसी ही दुःखानुभूति को व्यंजित करने की, जैसी दुःखानुभूति मानव-हृदय में हुआ करती है। कविता में इस पद्धति का प्रयोग प्रभाव को द्विगुणित करता है। सुख या दुःख के भाव का प्रकृति में यह 'आभास' विशेष अर्थ रखता है। 'आभास' भ्रांति है, यह वह स्थिति है जो वास्तविक न होकर भी वास्तविक लगती है। 'लगती है' पर 'है' नहीं इसलिए यह अ-वास्तव है—false है। यह लगना संवेदनात्मक है—वेदना-स्वरूप है इसलिए pathetic है। यूरोपीय साहित्यशास्त्र में ऐसी स्थिति को pathetic fallacy कहा गया है। हिंदी में इसे भावाभास कहा जाता है। स्वच्छंदतावादी कविता में इस प्रकार के भावाभास का व्यापक प्रयोग हुआ है।

वास्तव में विरह-वेदना की मार्मिक अभिव्यक्ति के लिए इस पद्धति को अरबी-फ़ारसी काव्य में अपनाया जाता रहा था और वहीं से खुसरो ने इसे ग्रहण किया है। यह पद्धति सूफी संतों की 'प्रेम की पीर' की अभिव्यक्ति के बहुत अनुकूल थी। सूफी साहित्य के संदर्भ में प्रेम के दो रूपों—'इष्टक मजाजी' और 'इष्टक हकीकी'—की चर्चा आम है। इन प्रेम-रूपों का संबंध इस कविता से भी है। परंतु 'दर्शन' बनना या प्रतीकात्मक भावों की अभिव्यक्ति करना कविता का दूसरा सोपान है। कविता की प्रथम अर्थवत्ता लौकिक होती है। किसी अलौकिक भाव को व्यक्त करने की क्षमता उसमें तभी आ पाती है जब प्रथमतः वह लौकिक धरातल पर गहरी संवेदना से संपन्न होती है। 'वियोग' कविता में जुदा होने वाला 'यार' क्या है? बल्कि कहें - "क्या-क्या है?" यह बाद में विचारणीय है। प्रथमतः कविता के पाठ का विष्टलेक्षण अपेक्षित है। 'यार' से मार्मिक जुदाई का यह चित्रण कितना प्रभावशाली है, यह इसके पाठ-विष्टलेक्षण से ही पहचाना जा सकेगा।

'वियोग' का पाठ-विष्टलेक्षण

'वियोग' के पहले ही श्लोक में खुसरो बरसात के मौसम की मादकता और उसमें उठने वाली हिलोरों के प्रभाव को दिखलाते हुए कहते हैं कि क्या कभी बरसात जैसी रुत में किसी का प्रिय जुदा हुआ करता है? निश्चित रूप से इस वाक्य का 'क्या' प्रश्नवाचक न होकर आश्चर्य-बोधक है और इस निष्कर्ष को प्रस्तुत करता है कि नहीं, बरसात की ऋतु में यार जुदा नहीं हुआ करते। यदि ऐसी जुदाई कहीं है तो वह स्वाभाविक नहीं है और कवि ऐसी अस्वाभाविक पीड़ा को व्यक्त करता है—'वह देखिए, मुझ से मेरा दिलदार जुदा हो रहा है।' इस श्लोक के दूसरे मिसरे

में 'वह देखिए' का प्रयोग एक नाटकीयता को जन्म देता है। कवि और पाठक को नजदीक लाता है क्योंकि यहाँ कवि द्वारा पाठक को संबोधित किया गया है। यहाँ नाटकीयता का एक दूसरा पक्ष यह भी है कि कवि दिलदार की जुदाई के दर्द की ओर तीव्रता से ध्यान आकर्षित करता है। कवि का यह प्रश्न 'क्या बरसात की रुत में भी कभी यार से जुदा हुआ जाता है?' का मूल आशय यही है कि प्रेमी तो अपने प्रिय को सदा सुखी देखना चाहता है पर यह कैसा प्रेम है? उमड़ती घटाओं के मदहोष्ठा कर देने वाले मौसम में 'यार' की जुदाई के बाद सुख कहाँ? बल्कि उसके बाद तो प्रिय का क्या हाल होगा, इसकी कल्पना भी असंभव है? इसलिए तीव्र वेदना को व्यक्त करते हुए कवि उठता है—

'देखिए, ऐसे मौसम में मेरा यार मुझसे जुदा हो रहा है।' विष्टव-साहित्य में वर्जा ऋतु के संदर्भ में विरह का चित्रण अनेक कवियों ने किया है। कालिदास का 'मेघदूत' तो सर्वविदित है ही। मेघदूत का यक्ष कहता है कि आजाद के घुमड़ते मेघों को देखकर तो बड़े-बड़े ऋजि-मुनियों का संयम डोलने लगता है, साधारण मनुज्यों की तो बात ही क्या है? खुसरो के चित्रण में भी वैसी ही भाव-सघनता (intensity of feelings) दिखाई देती है। 'वियोग' के दूसरे श्लोक में भाव-वर्णन का यही क्रम देखा जा सकता है। 'मेघदूत' के यक्ष ने जिस प्रकार क्रीड़ाशील मेघ का वर्णन किया है, उसी प्रकार खुसरो वातावरण का चित्रण करते हुए कहते हैं—

"यह बादल और बारिष्ठा की फिजाँ है। ऐसी फिजाँ में जुदाई अकल्पनीय तो है ही, कष्टकर भी है। इस वातावरण में एक ओर मैं प्रिय से अलग हुआ आँसू बहा रहा हूँ, दूसरी ओर बादल भी अकेला खड़ा रो रहा है। यहाँ बादल के रोने में उसी पूर्वोक्त भावाभास (pathetic fallacy) को देखा जा सकता है। खुसरो दिखलाते हैं कि वह और बादल ही अकेले नहीं हैं, उसका यार भी अकेला है।

'वियोग' कविता के तीसरे श्लोक में वर्जा ऋतु का बिंबपरक चित्रण किया गया है। कवि कहता है—'वर्जा ऋतु आती है तो सब ओर हरियाली छा जाती है। बाग हरे-भरे हो जाते हैं। गुले-लाला ('लाला' नामक फूल) खिल उठता है। सुबह के समय ठंडी-ठंडी हवा बहती है और यों प्रकृति में सौंदर्य की यह बहार—यह अद्भुत छटा—एक साथ ही आ उपस्थित होती है।'

इस दृष्टय-चित्रण को अंततः कवि अपनी यंत्रणा से जोड़ते हुए प्रश्न करता है कि जब प्रकृति में चारों ओर इतनी सुंदर छटा बिखरी है, इतना उल्लास है, तब बाग की यह रौनक मुझ से जुदा क्यों हो रही है? **प्रत्येक श्लोक में पूछा गया यह प्रश्न सघन विस्मयबोधकता में बदलता जाता है और प्रेम की पीड़ा को गहरा करता है।**

गजल का चौथा श्लोक एक नई रंगत लिए है। इसमें प्रेम-व्यापार का बहुत बारीक चित्रण है। प्रेम में आँखों की भूमिका सबसे अधिक होती है। प्रेमी के दिल तक आँखें ही पहुँचती हैं और प्रेमी के सामने अपना हाल भी आँखें ही बयान करती हैं लेकिन विरह की मार्मिकता यही है कि आँखें आँखों से जुदा हो जाती हैं। यह दर्दनाक अनुभव दिल को घायल करता है और तब खून आँखों से टपकने लगता है। कवि कहता है कि प्रिय और क्या है? वह तो 'मर्दुमे चष्टम' है—आँखों वाला आदमी है। खुसरो प्रिय को आँखों वाला आदमी इसलिए कह रहे हैं क्योंकि उसकी स्नेहिल दृष्टि से ही जीवन मिल जाता है। इसीलिए खुसरो हैरतगंज होकर कहते हैं कि ऐ आँख वाले, जरा देख! मेरी आँखों में खून के आँसू हैं, खून के आँसू बहाने वाली आँखें कैसे तुझसे जुदा हों। **यहाँ जुदाई की बाध्यता—विविष्टता—को विष्टेज रूप से रेखांकित किया गया है।** गजल का अंतिम श्लोक चौथे श्लोक के भाव को ही आगे विकसित करता है। कवि मानता है कि ये आँखें मनुज्य के लिए ईष्टवर की बहुत बड़ी अनुकम्पा हैं, बहुत बड़ा वरदान है। लेकिन इससे बड़ा जुल्म क्या हो सकता है कि यार की आँखों से ही जुदा होना पड़े। इस नेमत के दर्शन कराने वाला ही जब इन आँखों से जुदा हो जाए? यह तो वाकई एक सितम है।

'वियोग' की भाजा-संरचना

खुसरो की काव्य-शैली और इस कविता की संरचना में उर्दू-हिंदी की निकटता को समझने के लिए इसके शब्द-चयन का विष्टलेक्षण अपेक्षित है। हिंदी पाठक के लिए इसमें आए फ़ारसी शब्दों की व्याख्या भी अपेक्षित है। 'वियोग' कविता की भाजा हिंदी या उर्दू के बँटवारे को निहायत गैर ज़रूरी बताती है। इस कविता की क्रियाएँ

और इसके परसर्ग ऐसे ही प्रयोग हैं। कविता के कुछ टुकड़ों पर ध्यान दें। 'के होते हैं कभी', 'मुझसे होता है', 'मुझ से है किस लिए', 'कैसे तुझ से हो' 'मैंने माना है... ये आँखें' जैसे उद्धरण शुद्ध खड़ी बोली के हैं पर उर्दू में भी ये भाजा-प्रयोग हैं। इस कविता में 'रुत', 'यार', 'जुदा' 'रौनक' जैसे कुछ वे शब्द आए हैं जो हिंदी पाठक के लिए बहुत अपरिचित नहीं हैं और वे हिंदी में घुल-मिल भी गए हैं। इन शब्दों और फ़ारसी से ग्रहीत कई शब्दों के समान स्रोत का संकेत भी मिलता है। 'रुत' और ऋतु में उच्चारण भेद ही है, अर्थ का अंतर नहीं। 'अब्र' फ़ारसी में बादल को कहते हैं। संस्कृत में इसके लिए 'अभ्र' शब्द है। ये भी एक ही मूल के शब्द हैं। बारां का अर्थ बारिष्ठा है। वारि का अर्थ पानी होता ही है। उर्दू का सुबा और हिंदी का 'सुबह' साँझी संपदा हैं। कविता में आए कुछ फ़ारसी शब्दों के अर्थों को भी जान लेना चाहिए। फ़जा का रूप फिज़ा भी मिलता है जो वातावरण का पर्याय है। फिल्मी गीतों और ग़ज़लों ने हिंदी पाठक को 'अष्टक' से परिचित करा ही दिया है। इसका अर्थ आँसू हैं। दीदार (दर्शन) भले ही हिंदी से बाहर नज़र आता हो पर दीदे फाड़कर देखना हिंदी वाले भी जानते हैं इसलिए 'दीदा-ए-खूबार' से 'खून के आँसू बहाने वाली आँख' एकदम सामने आ जाती है।

इसी प्रकार 'गुल खिलाना' भी हिंदी वालों के लिए मुश्किल नहीं है, उसी के रास्ते पर चलकर 'गुलो लाला' और 'रौनके गुलजार' का अर्थ समझा जा सकता है। चिष्टम, चष्टम और चष्टमा भी पहचाने-से हैं। मर्दुम का अर्थ आदमी है और तब मर्दमे-चिष्टम का अर्थ 'आँख वाला आदमी' करने में कोई दिक्कत नहीं है। मर्दुम-शुमारी का जनगणना अर्थ तो गाँव-देहात में भी समझा जाता है। 'बाहम' का अर्थ है - एक साथ और 'हैफ़' से जुल्मो' सितम का तात्पर्य है।

इस प्रकार स्पष्ट होता है इस ग़ज़ल की भाजाई ज़मीन उर्दू ज़ुबान के उस 'हिंदुस्तानी' रूप को पेश करती है, जिसकी पैठ जनसाधारण में है। भाजा की यही शक्ति खुसरो की रचनाओं को लोकप्रिय बनाती है।

'वियोग' की काव्यरूपगत विशेषताएँ

पहले कहा गया है कि इस कविता की संरचना ग़ज़ल की है। 'ग़ज़ल' अरबी, फ़ारसी और उर्दू की सबसे लोकप्रिय विधा है। पिछले 30-40 वर्षों में हिंदी में भी खूब ग़ज़लों कही गई हैं। ग़ज़ल का शाब्दिक अर्थ है - प्रेयसी से बातचीत। दो-दो पंक्तियों के समन्वय से इसमें श्लोकों की संरचना होती है। ये पंक्तियाँ अथवा चरण 'मिसरा' कहलाते हैं। पहले मिसरे के बाद एक कंट्रास्ट-विरोध और तुलना- का भाव पैदा करने वाला - चमत्कार उत्पन्न करने वाला - दूसरा मिसरा 'सानी मिसरा' कहलाता है। इन मिसरों में प्रथम श्लोक में 'रदीफ़' और 'काफिया' मिलाया जाता है। रदीफ़ से तात्पर्य है समान अंत वाले शब्द अथवा पद तथा काफिया का अर्थ है तुक-साम्य। दोनों मिसरों में यह साम्य प्रथम श्लोक में होता है, उसे 'मतला' कहते हैं अंतिम श्लोक को 'मक्ता' कहते हैं।

हम खुसरो को ग़ज़ल पहले उद्घृत कर आए हैं। उसे सामने रखते हुए रदीफ़ और काफिया को समझा जा सकता है। इस ग़ज़ल में पाँच श्लोक हैं। सैद्धांतिक रूप में ग़ज़ल में श्लोकों की संख्या विज्ञम होती है। इस सिद्धांत का यहाँ पालन हुआ है। पहले श्लोक के दोनों मिसरों के अंत में 'जुदा' है। श्लोक में वह केवल दूसरे मिसरे में है। अंत में आने वाला यह समान शब्द रदीफ़ कहलाता है। रदीफ़ से ठीक पहले तुकान्त पद आता है। जैसे यार, दार, यार, जार, बार, दार का प्रयोग प्रत्येक श्लोक में जुदा से पहले हुआ है। सफल ग़ज़ल का आधार कोरा गणित नहीं होता, अपितु उसकी अपनी एक तरल शैली-दिल को छूने वाली शैली-होती है, एक अंदाजे-बयाँ होता है, वही उसको धार देता है। खुसरो की इस ग़ज़ल में तकनीकी पूर्णता और भावोद्देश की धार साथ-साथ मौजूद हैं।

'वियोग' कविता की प्रासंगिकता

'वियोग' ग़ज़ल कई शाब्दिकों पूर्व रची गई थी लेकिन इसमें मानव-मन के शाश्वत भावों को अभिव्यक्ति मिली है इसलिए इसकी प्रासंगिकता समय की सीमाओं में बंधी हुई नहीं है। महान् साहित्य की पहचान यही है कि

वह समयबद्ध नहीं होता। वह देष्टा और काल की सीमाओं को पार किया करता है। प्रेम जीवन का मूल तत्त्व है। इसका लौकिक अस्तित्व तो है ही, साथ ही इसकी सीमाएँ भी जाती हैं। 'वियोग' में छाष्टवत प्रेम को ही चित्रित किया गया है। प्रेम एक परीक्षा भी है क्योंकि विरह में जीवन तपता है। सच्चे प्रेम की परख विरह में ही होती है। महान् अंग्रेजी भाज्ञा के कवि ष्टोक्सपीयर ने ठीक ही लिखा है : 'Love is not love which alters when alteration finds.' 'वियोग' कविता खुसरो के प्रेम-दर्रान का प्रतिपादन करती है। उन्होंने अन्यत्र लिखा है:

**खुसरो दरिया प्रेम का उलटी वाकी धार
जो उतरा वो डूब गया, जो डूबा सो पार**

विरह की मार्मिकता को व्यक्त करने कारण तो यह कविता प्रासंगिक है ही, इसकी प्रासंगिकता का दूसरा पक्ष प्रवृष्टति के साथ मानव अनुभवों को जोड़ना है। हमारे अचेतन में प्रवृष्टति एक छाष्टवत अनुभव के रूप में विद्यमान है। जब कविता में प्रवृष्टति प्रतीकों तथा अप्रस्तुतों के रूप में आती है तो मन पर उसका प्रभाव चिरस्थायी होता है। इस कविता में कथ्य की अभिव्यक्ति प्रवृष्टति के माध्यम से ही की गई है इसलिए इसकी प्रासंगिकता असंदिग्ध है।

खुसरो की प्रासंगिकता

खुसरो का व्यक्तित्व दो संस्कृतियों के बीच पुल बनाने वाला ही नहीं बल्कि वह तो ऐसी चादर बुनने वाला है, जिसका ताना यदि मुस्लिम संस्कृति का है तो बाना हिंदू संस्कृति का और यह आंतरिक संयोजन उनके रक्त में ही है। ए.एस. एम. अजीजुद्दीन हुसैन के अनुसार 'अमीर खुसरो (1253-1325) एक भारतीय माँ और तुर्की पिता की संतान थे। उनमें दो संस्कृतियों का सम्मिलन था और दोनों के उत्तमांष्टा को उन्होंने संजोया था। उन्हें भारतीय होने का बहुत गर्व था और वे हिंदवी से गहरा अनुराग रखते थे। भारत के जनसाधारण के प्रति प्रेम के कारण मनुज्यता के आध्यात्मिक ज्ञानदाताओं में उनका श्रेष्ठ स्थान है। आम आदमी की जुबान को खुसरो ने साहित्यिक भाज्ञा हिंदवी में ढाल दिया और इसे वे न अरबी से कमतर मानते थे, न फ़ारसी से। खुसरो ने भारतीय और ईरानी संगीत का समन्वय किया।'

खुसरो द्वारा किए गए दो संस्कृतियों के समन्वय के प्रयास के दूरगामी परिणाम हुए। उनके परवर्ती सूफी संत मुल्ला दाउद ने 'चान्दायन' की रचना से ऐसी सूफी मसनवी का चलन आरंभ किया, जिसकी परंपरा में 'पद्मावत', 'चित्रावली' और 'मष्टगावती' जैसी कृतियाँ हिंदी में आईं। खुसरो की फुटकर कविताओं में भारतीय हिंदू संस्कृति के बिंब भरे पड़े हैं। परवर्ती सूफी आख्यानों पर उन्हीं का प्रभाव है। खुसरो हिंदू उपासना, हिंदू दर्रान और हिंदू जीवन-पद्धति को पूर्ण सम्मान देते थे। जिस भयंकर उथल-पुथल और मारकाट के बीच दसवीं से पंद्रहवीं ष्टाताब्दी का भारत गुजरा है, उसमें ऐसी दृष्टि आलोक-स्तंभ जैसी ही कही जा सकती है। हामिद हुसैन ने लिखा है कि नानक से एक ष्टाताब्दी पहले ही निजामुद्दीन औलिया के ष्टिाज्य खुसरो ने कहा था कि हिंदुओं की मूर्ति पूजा को हेय दृष्टि से मत देखो। उनकी पूजा पद्धति से भी कुछ सीखो।

खुसरो के लिए हिंद की यह श्रेष्ठता किसी फासिस्ट दृष्टि की परिचायक नहीं है अपितु उनके मन में सभी संस्कृतियों के प्रति सम्मान का भाव है। वे प्रत्येक जीवन-पद्धति का सम्मान करते हुए अपने वैष्टिाज्य को बनाए रखना चाहते हैं।

खुसरो के संदर्भ में संस्कृतियों के समन्वय का एक दूसरा प्रष्टन भी है। खुसरो ने एक ओर जहाँ हिंदू-मुस्लिम संस्कृति का समन्वय किया वहीं उच्च दरबारी संस्कृति का लोक-संस्कृति से भी उन्होंने समन्वय किया और ऐसा वे इसलिए कर पाए क्योंकि वे स्वयं दरबार और जनसाधारण दोनों से जुड़े थे।

खुसरो मूलतः प्रेम के गायक कवि हैं। उनकी कविताओं में सूफी प्रेम का भावपूर्ण प्रतिबिंबन है। उनके हिंदी गीतों और उर्दू गज़लों में प्रेम की हृद दर्जे की दीवानगी मिलती है। प्रेम का यह खेल हार और जीत दोनों स्थितियों

में मिलन में समाप्त होता है। पहेलियाँ, मुकरियाँ और दो सुखना जैसे मनोरंजनपरक हलके-फुलके काव्य रूपों को रचने वाले इस कवि के सूफी कलाम में एक अलग ही तस्वीर दिखलाई देती है। यहाँ उनका द्रवित हृदय ही विद्यमान है। अपने गुरु निजामुद्दीन के प्रति भी उनका उत्कट रागात्मक समर्पण है। यह समर्पण ही ऐसे गीतों की रचना करवा सका है—

**खुसरो बाजी प्रेम की
खेली पिय के संग
जो जीत गए तो पिया मरे
जो हारी पी के संग**

इस कविता को पाकिस्तान के गायक नुसरत फ़तह अली ख़ान ने अपने विष्टोज़ अंदाज़ में गाया है। ब्रज की चाछानी में पगा खुसरो का आगे उद्धृत गीत विष्टोज़ रूप से ध्यानाकर्षक है। इसमें सूर से पूर्व विद्यमान हिंदी कविता की राग-परंपरा का उद्घाटन है। अपनी संपूर्ण लौकिकता में तो यह मार्मिक है ही, प्रतीक रूप में भी इसका वैष्टिज्द अद्भुत है। ये प्रेम के दीवाने कवि मौत को भी उत्सव बना देते हैं। लौकिक विदाई का अलौकिक बिंब मष्ट्यु ही है। उसे प्रेम का अद्भुत रूप खुसरो ने यों दिया है :

**बहोत रही बाबुल पर दुलहन, चल तोरे पी ने बुलाई
बहोत खेल खेली सखियण से, अंत करी लरकाई**

खुसरो ने प्रेम की पीर को फ़ारसी ग़ज़लों में अति सहज भाव से उतारा है। एक ही कथ्य की इतनी भिन्न-रूपा अभिव्यक्ति विरल होती है। खुसरो की ग़ज़ल में विरह की तड़प है और सहज मानवीय संवेदना की अभिव्यक्ति भी।

खुसरो की कविता एक ऐसा दर्पण है, जिसमें उनके समय का हिंदुस्तान तो प्रतिबिंबित है। इसमें उनका प्रेम भरा हृदय झलक रहा है। हिंदी उनकी जुबान है। वे कहते हैं:

**चू मन तूतिए-हिन्दम, अर रास्त पुसी।
जे मन हिंदुई पुर्स, तर नगज़ गोयम”**

(मैं हिंदुस्तानी की तूती हूँ, अगर तुम वास्तव में मुझसे कुछ पूछना चाहते हो तो हिंदी में पूछो, जिसमें मैं तुमको अनुपम बातें बता सकूँ।)

निष्कर्ष

अमीर खुसरो हिंदू-मुस्लिम एकता के अग्रदूत हैं। वे सांस्कृतिक समन्वय के प्रसारक हैं, सांप्रदायिक सौहार्द के रचयिता हैं। राज्तीयता का भाव उनमें कूट-कूट कर भरा है। हिंदी जुबान और हिंद देश का प्रेमी यह कवि इतिहास के एक नाजुक मोड़ पर उदित होकर नयी राह दिखाता है। जिस समय संस्कृतियाँ, जातियाँ और भाजाएँ एक दूसरे से टकरा रही थीं, उस समय खुसरो ने अपनी कविता से इन्हें एक दूसरे के नजदीक लाने का प्रयास किया। यह दौर आधुनिक भारतीय भाजाओं के निर्माण का था। प्रावष्टतों एवं अपभ्रंष्टा के तनों से नई भाजाओं के कल्ले फूट रहे थे। दिल्ली उस समय सत्ता का बड़ा केंद्र थी। इसके निकटवर्ती क्षेत्रों की भाजा का भी विष्टोज़ महत्त्व था। इन्हीं क्षेत्रों में खड़ी बोली और उर्दू का उदय हुआ। खुसरो ने अपने पूर्वजों से प्राप्त भाजा-संपदा और काव्य-संस्कार से एक ओर समष्ट्यु काव्य की रचना की, दूसरी ओर समय की नज़ाकत को पहचान कर खड़ी बोली और उर्दू में साहित्य-रचना कर जन-सामान्य को एक नई दिष्टा दी। खुसरो ने अपनी रचनाओं में अपने समय की हलचल तो दर्ज की ही, अपने दिल के बलवले भी उसमें उंडेल दिए। युद्ध के मैदान में तलवार पकड़ने वाले इस कवि ने प्रेम की पीर को भी गाया। चिष्टती संप्रदाय के महान संत निजामुद्दीन औलिया से उन्होंने मानवता का पाठ पढ़ा और हिंदुस्तान की मिष्टी की खुष्टाबू से भी अपनी कविता को महकाया। पनघट, चक्की, ष्टादी, विदाई, ससुराल, नैहर, बाबुल, मढ़ा, सजन, मेहंदी, होली, बसंत, बर्खा, झूला, फागुन, चैत, त्योहार, ऋतु कितने ही ऐसे संदर्भ हैं जो खुसरो की कविता को हिंदुस्तानी पहचान देते हैं। भारतीय संस्कृति से गहरी अनुरक्ति रखने

वाले इस कवि ने कव्वाली का नया रंग बनाया है। कितने ही रागों और तरानों की खोज की है। सितार, ढोलक और तबला के आविष्कारक के रूप में भी खुसरो का नाम आता है। तूतीए हिंद होकर भी खुसरो विष्णु के महान कवि हैं। मनुज्य के इस प्रेमी ने ईष्टवर के अनुराग के सुंदर गीत गाए हैं। मनुज्यता से प्रेम उनकी सबसे बड़ी इबादत भी है। खुसरो उस प्रेम के दीवाने कवि हैं, जिसमें 'यार' के दर्शन से ही सारी चिंताएँ काफूर हो जाती हैं। वे कहते हैं :

“जब यार देखा नैन भर
दिल की गयी चिन्ता उतर
ऐसा नहीं कोई अजब,
राखे उसे समझाय कर
तु मुझे देखे या न देखे
मुझे कोई गम नहीं।
तेरा न देखना भी
देखने से कम नहीं

5. (i) स्वतंत्रता का पल्लू (कविता)
(ii) पत्र: परलि सु. नैल्लैयप्प पिल्लै को (पत्र)
(सुब्रह्मण्य भारती)

डॉ. हर्षबाला शर्मा
प्रवक्ता, हिन्दी-विभाग
इन्द्रप्रस्थ महाविद्यालय
दिल्ली विष्णुविद्यालय

सुब्रह्मण्य भारती तमिल साहित्य के प्रमुख रचनाकार हैं। राष्ट्रीय चेतना को धारण करने वाले तथा संस्कृति और समाज के प्रति वृष्टहद दृष्टिकोण रखने वाले भारती का जन्म दिसम्बर 1882 ई. में हुआ। स्वतंत्रता, समानता को आधार मानकर सभी जातियों को 'भारत माता की संतान' मानने वाले भारती के काव्य का मुखर स्वर सामूहिक अस्मिता को प्रोत्साहन देने का रहा है। व्यक्तिगत अस्मिताओं की तुलना में सामूहिक स्तर पर भारत माता की संतान के रूप में विकास करने की बात इनके साहित्य में प्रत्येक स्थान पर दिखाई देती है।

सुब्रह्मण्य भारती एक कवि हैं। कवित्व की दृष्टि से उनकी तुलना तमिल के ही दूसरे प्रसिद्ध कवि 'वल्लुवर' एवम् 'कंबन' से की जाती है। यद्यपि उन्होंने गद्य लेखन भी पर्याप्त मात्रा में किया तथापि उनका वैशिष्ट्य कविता में ही दिखाई देता है। उनकी प्रमुख रचनाएँ हैं—कण्णन पाट्टु, पांचाली श्रापथम्, कुयुलि पाट्टु, वंदे मातरम्, भारतनाडु, भारतदेविधिन्-अडिमै, भारत समुदायम् आदि। तमिल में पाट्टु का अर्थ है—'गीत'। 'कोयलगीत' एवम् 'कृष्ण गीत' में उनके दार्शनिक भाव भी सहज भाषा में प्रस्तुत किए गए हैं।

'भारती' के काव्य के आलोचक डॉ. रवीन्द्रकुमार सेठ के अनुसार सुब्रह्मण्य भारती के काव्य में राष्ट्रीयता

का स्वर सबसे तीव्र रूप में उपलब्ध होता है। उनके अनुसार राष्ट्रगीतों में छः प्रकार की कविताएँ प्राप्त होती हैं—

- (i) भारत भूमि विजयक
- (ii) तमिल भूमि विजयक
- (iii) स्वतंत्रता विजयक
- (iv) स्वतंत्रता आन्दोलन विजयक
- (v) राष्ट्र नेताओं से सम्बन्धित
- (vi) अन्य देशों के स्वतंत्रता संघर्ष से प्रेरित

हिंदी साहित्य के प्रमुख समालोचक डॉ. नगेन्द्र द्वारा संपादित 'भारतीय साहित्य का समेकित इतिहास' में डॉ. छांतिस्वरूप गुप्त लिखते हैं—“तमिल कवि सुब्रह्मण्य भारती ने प्राचीन रूढ़ियों, अंधविश्वासों तथा अन्यायपूर्ण सामाजिक नियमों के विरुद्ध विद्रोह किया। स्वतंत्रता, समानता और भाईचारे का मंत्र अपनाकर उन्होंने जीवनभर स्वतंत्रता और समता पर आधारित समाज का निर्माण करने का प्रयास किया। विद्येज रूप से स्त्री-अधिकारों और स्त्री को पुरुष एवम् परिवार की दासता से मुक्त करने का आह्वान किया।”

उनकी प्रमुख रचनाओं में 'कण्णन पाट्टु' (1917 ई.) कृष्ण को समर्पित है। उन्होंने 23 लघु एवम् दीर्घ गीतों में आलवार संत पेरियाल्वार के कृष्ण लीला से सम्बद्ध अंशों को प्रेरणा सामग्री के रूप में प्रयुक्त किया है। अपनी बिम्बविधायिनी शक्ति द्वारा भक्ति एवम् दर्शन के चित्र प्रस्तुत किए हैं। 'पांचाली श्रुपथम्' दो खण्डों में प्रकाशित है। स्वयं रचनाकार के अनुसार यह 'व्यासकृत महाभारत का पुनःसृजन' है परन्तु वास्तव में भारती के युग बोध, उनके हृदय में अवस्थित भाव तरंगों को समाहित करता यह काव्य नारी जाति पर होने वाले अत्याचारों का विरोध करता है, कर्तव्य पर बल देता है, विदेशी श्रासकों के अत्याचार की चर्चा करता है।

'कुयुलि पाट्टु' अर्थात् कोयलगीत श्रांत, सुरम्य वातावरण में कोयल एवं कवि के मध्य उपजे प्रेम के माध्यम से पूर्वजन्म की कथा सुनाता है तथा उसके अनेक आयामों में सर्वप्रमुख दार्शनिक चिंतन को भी अभिव्यक्ति देता है।

सुब्रह्मण्य भारती की मष्ट्यु सन् 1921 में हुई। एट्टयपुरम के राजा के दरबार में उनकी आशुकविता तथा काव्य-प्रतिभा के दर्शन कर एक वयोवृद्ध ने उन्हें 'भारती' की उपाधि प्रदान की। कुछ समय (लगभग तीन माह) शिक्षक के रूप में कार्य करने के बाद भारती ने स्वदेश मित्रम् समाचार पत्र में कार्य किया। बाद में इन्होंने 'इंडिया' एवं 'कर्मयोगी' पत्रिका का सम्पादन भी किया।

युग परिवेष्ट

गुलामी की जंजीरों में जकड़े भारतीय अंग्रेजों की श्रेष्ठता को स्वीकार करके स्वयं को दीन-हीन मान चुके थे परन्तु भारती का समस्त काव्य स्वतंत्रता-समानता की पुकार है। इस स्वतंत्रता की चिंगारी पूरे देश में फैल रही थी। भारती का युग लगातार बढ़ रही बेचैनी और आजादी की मांग का युग है। सन् 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना, 1885 से 1892 के मध्य राष्ट्रवादियों की संवैधानिक सुधारों की मांग, 1892 में भारतीय परिषद् अधिनियम का निर्माण, ब्रिटिश सरकार द्वारा कांग्रेस विरोधी रुख अख्तियार करना, फलस्वरूप 1905 तक उग्र-राष्ट्रवादी विचारधारा का उदय, गरम एवं नरम दल के मध्य विरोध, अनेक स्वतंत्रता संग्राम के नायकों के उग्र दल का सदस्य बनना (जैसे-लाला लाजपत राय, बाल गंगाधर तिलक, दादा भाई नौरोजी, विपिन चन्द्र पाल आदि), 1905 में बंग-विभाजन की त्रासदी, 1906 में कलकत्ता में आयोजित अधिवेष्टान में कांग्रेस की स्वशासन की मांग, 1906 में ही नेष्टानल काउंसिल ऑफ एजुकेशन की स्थापना, 1911 में उग्र विचारधारा के प्रयत्नों के फलस्वरूप बंगाल

विभाजन रद्द होना, भारत की राजधानी दिल्ली में बनना, 1908 में भारतीय समाचारपत्र एक्ट बनना तथा 1910 में भारतीय प्रेस एक्ट बनना आदि घटनाएँ भारतीय परिप्रेक्ष्य में देखी व समझी जा सकती हैं। 1909 के मार्ले-मिन्टों सुधार से भी कोई अन्तर नहीं पड़ा। 1914-1918 के मध्य प्रथम विष्टव युद्ध में भारतीयों के ब्रिटिष्ठा शासन सम्बन्धी अनेक भ्रम टूटे। 1896 में थियोसोफिकल सोसायटी की एनी बेसेंट भारत आई। विष्टवयुद्ध के बाद उन्होंने भी भारत में आन्दोलन आरम्भ किया। महात्मा गाँधी 1915 में भारत लौटे। 1919 में रौलैट एक्ट के विरुद्ध उन्होंने सत्याग्रह का आरंभ किया। 1919 में ही जालियाँवाला बाग हत्याकाण्ड हुआ।

सुब्रह्मण्य भारती पर इन समस्त घटनाओं ने अपना प्रभाव डाला। उग्रपन्थी विचारधारा द्वारा स्वराज्य की घोषणा ने उनके हृदय को भी प्रभावित किया। उन्होंने कलकत्ता अधिवेष्टान में भी भाग लिया तथा स्वतंत्रता, समानता के नारे का उद्घोष किया। गाँधी जी के प्रति सम्मान प्रकट करने के लिए उन्होंने 'गांधी पंचकम्' नामक पांच लघु कविताओं का सृजन किया। 'इंडिया' एवम् 'कर्मयोगी' में विचारोत्तेजक निबन्धों/लेखों के प्रकाशन पर अंग्रेज सरकार द्वारा रोक लगा दी गई।

विचारधारा चिंतन

सुब्रह्मण्य भारती की विचारधारा समानता एवम् स्वतंत्रता का उद्घोष करने वाले व्यक्तियों, संस्थाओं से संबद्ध रही, भले ही यह उद्घोष कभी उपग्रंथी विचारों से हुआ हो तो कभी ममतामयी वाणी में। कवि का उद्देश्य है—जन्मभूमि की स्वतंत्रता तथा मानव मात्र की समता का प्रतिपादन। उनके एक गीत 'वन्दे मातरम्' के भाव इसी प्रकार के हैं—

सब हैं महान्
भारत मां की संतान
सब हों सम्पन्न, सब हों सज्जन
अन्तः में उल्लसित, सब एक समान॥

भारती की विचारधारा पर सर्वाधिक प्रभाव सिस्टर निवेदिता का पड़ा। सिस्टर निवेदिता विवेकानन्द जी की प्रथम अंग्रेज छात्रा थी। 1906 में कांग्रेस की उग्रपन्थी विचारधारा से प्रभावित भारती जब इसी वर्ज सिस्टर निवेदिता से मिले तो जातिवंश के आधार पर भेदभाव का विरोध, स्त्री सम्मान की प्रतिज्ञा, अज्ञान-पिछड़ेपन-अंधविष्टवास का विरोध करने की प्रेरणा इन्हें जिस ममतामयी वाणी में प्राप्त हुई, मानो वह वाणी इनके भीतर उतरती चली गई।

'स्वदेष्टा गीताञ्जली' नामक पुस्तक कवि ने सिस्टर निवेदिता को ही समर्पित की है। डॉ. रवीन्द्रकुमार सेठ ने यह वृत्तांत पूर्ण श्रद्धा के साथ व्यक्त किया है—

“भारती अत्यन्त श्रद्धाभाव से निवेदिता जी से मिले। उन्होंने आष्टीर्वाद वचन के रूप में कहा—मेरे पुत्रों, जाति, वंश अथवा जन्म के कारण मानव-मानव के अंतर को भुला दो। हृदय में प्यार को स्थान दो, ईष्टवर की दृष्टि में सब बराबर है। अपनी पत्नी को अपना वंश मानकर उसे अपने समान मानकर सम्मान दो। यदि देष्टा का आधा भाग श्रेष्ठ आधे को गुलाम बनाए रखेगा तो स्वतंत्रता कैसे प्राप्त हो सकती है। अज्ञान, पिछड़ेपन और अंधविष्टवास से युक्त इस आधे भाग को अपने समकक्ष मानो, उसके लिए हृदय में आदर भाव रखो।”

यही भारती के जीवन का महत्वपूर्ण क्षण था जिसने उनके विचारों को नए चिंतन से परिपूर्ण कर दिया।

भारती जी ने पांडिचेरी प्रवास के दौरान श्री अरविन्द, सुब्रह्मण्य अय्यर का सानिध्य प्राप्त किया। अरविन्द का यह काल आत्मिक उन्नति का काल था। वेद, उपनिषदों की चर्चा ने भारती के काव्य में भी आध्यात्मिकता का समावेश किया। भगवद्गीतानुवाद, पांचाली शापथम्, कुयुलि पाट्टु, कण्णनपाट्टु में जड़ता को दूर करके चेतनता के संदेश की जो प्रतिज्ञा की गई है उससे भारती की आस्थावादी अध्यात्मवादी विचारधारा का पता चलता है।

शैली शिल्प

यद्यपि भारती की कविता शिल्प की प्रतिष्ठा के उद्देश्य से नहीं लिखी गई परन्तु उनकी रचनाओं में 'मैं' और 'तुम' की शैली का प्रयोग सर्वत्र मिलता है। उनकी अधिकांश रचनाओं में उनका कवि मन साथ-साथ चलता रहा है। भारती का समस्त साहित्य सर्वधर्म समानता का उद्घोष करता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए कहीं प्रकृति सहायक हुई है तो कहीं संगीत की स्वर लहरी। इनके काव्य में सर्वत्र नाद सौन्दर्य प्राप्त होता है।

उनके शिल्प पर विचार करते हुए एक विद्वान आलोचक डॉ.पी. जयरामन कहते हैं—“भारती का चित्त नाद एवं प्रकाशा में लीन है, विष्टव्याप्त नाद-सागर में उन्हें दैवी संगीत सुनाई पड़ता है, चारों दिशाओं में, चराचर जगत के प्रत्येक अणु में दैवी अनुभूति होती है और अग्नि के मध्य भी शीतल दैवी करुणा का ही अनुभव होता है।”

भारती के काव्य में आरंभिक एक दो कविताओं को छोड़कर सर्वत्र सहज, सरल, प्रवाहमयी शैली का प्रयोग मिलता है। अभिव्यक्ति की सहजता को रेखांकित करते हुए ए.एस.राघवन ने उनके संबंध में लिखा—“**He has substituted experience for formulae, expression for ornamentation, vision for catch-phrases and iridescent song-contours for dull word piles and the spirit of poetry, alert and aware, was reborn in Tamil Land**”.

उनकी कविताओं की विजयवस्तु को चार विषयों में बाँटा जा सकता है—संस्कृति, प्रकृति, समाज, राष्ट्र। इन चारों विषयों में कलात्मक परन्तु सहज अभिव्यक्ति, कवि का जीवनानुभव, गीतात्मकता, लय व नाद सौन्दर्य सहज रूप में दिखाई देते हैं।

भाजा का विकास उनके जीवन का प्राथमिक उद्देश्य है। तमिल भाजा को सर्वजन की भाजा बनाना तथा भारतीय भाजाओं को उनका सम्मान दिलाना उनके काव्य का एक उद्देश्य माना जा सकता है। यदि वास्तव में प्रत्येक भाजा-भाजी विष्टोत्तर रचनाशील वर्ग अपनी भाजा के सम्मान को लेकर सजग हों, तो भाजाओं की उन्नति सदैव होगी।

रचना का सार

पाठ्यक्रम के अन्तर्गत सुब्रह्मण्य भारती की दो रचनाएँ हैं—पहली 'स्वतंत्रता का पल्लु' (कविता) तथा दूसरी 'पत्र: परलि सु, नैल्लैयप्प पिल्लै को' (गद्य)। काव्य एवं गद्य दोनों में सशक्त लेखनी की उदाहरण ये रचनाएँ अपने भीतर अनेक विमर्शों को समेटती हुई किसी विष्टोत्तर विमर्श का झण्डा नहीं उठाती बल्कि आम आदमी के दर्द और उसके प्रतिकार की झलक दिखाती हैं।

(i) 'स्वतंत्रता का पल्लु' एक छोटी-सी कविता है। इसमें समस्त जातियों की समानता तथा जातियों की वर्चस्ववादी मानसिकता के खोखलेपन का विरोध है। इस कविता में कवि मात्र स्वतंत्रता-समानता की बात ही नहीं करता बल्कि उसका उत्सव मनाता है। कवि 'पल्लु' गीत गाना चाहता है जो 'पल्ला' नामक तमिल दलित जाति का एक लोक गीत है।

कवि एक ऐसे युग की कल्पना करता है जहाँ दलितों को सदैव दास नहीं रहना होगा। ब्राह्मणों को सदैव मालिक (जातिगत भी तथा संस्कारगत भी) मानने से वे इंकार कर सकेंगे। मालिक सदैव नौकर को हीन जाति का होने के कारण तिरस्कृत करते हैं परन्तु अब इस नये युग में कवि को विष्टवास है कि तिरस्कार और अवमानता से मुक्ति मिल सकेगी। प्रत्येक सबल जाति निर्बल जाति पर वर्चस्व कायम करती है परन्तु अब देष्टा स्वाधीन है अतः गोरी चमड़ी परन्तु काले मन वाले, धोखेबाजों की सेवा से मुक्ति अवश्य मिल सकेगी।

स्वाधीन भारत की संकल्पना की नींव इसी विष्टवास पर टिकी है कि सभी भारतवासी स्वतन्त्र भी हैं और समान भी। संविधान प्रदत्त अधिकारों में समानता का अधिकार सभी भारतवासियों को प्राप्त है। कवि पल्ला जाति के दलितों में ही नहीं सभी व्यक्तियों में विष्टोत्तर बरसों से दबी-कुचली जातियों में यह विष्टवास करना चाहता है कि वे सभी श्रांख बजाकर विजयनाद करने के अधिकारी हैं।

स्वतंत्रता प्राप्त हुई तो सभी को ऐसा लगा मानो सतयुग लौट कर आ गया हो। देवताओं द्वारा दानवों पर विजय की घटनाएँ मानो साकार हो गई हों। ऐसे में कवि को भी लगा कि अब कहीं छल-प्रपंच नहीं होगा। सज्जनों का सम्मान होगा, कृषकों को महत्त्व प्राप्त होगा। भूमि बंजर नहीं रहेगी, श्रम का सम्मान होगा। उच्च एवम् निम्न जाति का अंतर समाप्त होगा तथा जिस प्रकार अब तक दलित सेवा करते आए थे, अब दूसरी जातियाँ भी उसी प्रकार दलितों की सेवा करेंगी।

आशा एवं विश्वास का संदेष्टा प्रदान करती यह कविता नए युग में नव गति, नव लय का नव स्वर सुनाती है।

(ii) सुब्रह्मण्य भारती की दूसरी रचना 'पत्र: परलि सु, नैल्लैयप्प पिल्लै को' एक पत्र के माध्यम से मुंह बोले छोटे भाई के लिए संदेष्टा है। इस संदेष्टा के आरम्भ में नितान्त निजी संबोधन के बावजूद आगे जिस जीवनी-शक्ति के संचरण की बात कही गई है, वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

रचनाकार ने अपने जीवन के समान दूसरों को भी प्रेरणा दी है कि वे अपने से दीन-हीन व्यक्तियों को सक्षम बनाने का कार्य करें गद्यकार जानता है कि मात्र दया से जीवन की दशा और दिशा में परिवर्तन नहीं आ सकता। इसके लिए सक्षमता का अहसास करना अत्यन्त आवश्यक है और इसी का परिणाम होगा—समस्त जातियों और प्राणियों में साम्य।

भारती तमिल भाषा के विकास के लिए स्वयं भी सजग हैं तथा दूसरों को प्रेरित भी करते हैं परन्तु इसके लिए एकांतिक विकास की परिकल्पना नहीं संजोते बल्कि उत्तर भारतीय भाषाओं विशेषकर हिन्दी, मराठी से संबंध जोड़ने के लिए प्रेरित करते हैं। उद्योग धन्धों का विकास, स्त्री-पुरुष समानता, संगीत, मूर्तिकला—आदि प्रत्येक क्षेत्र में वह अपने राज्य को जोड़कर देखते हैं। 'राज्य' की परिधि को यहाँ विस्तार में देखना होगा। कोई भी रचनाकार मात्र प्रदेष्टा विशेषज्ञ की थाती नहीं होता अतः भारती के इस स्वप्न को देष्टा में उन्नति के रूप में देखना होगा।

रचना का प्रतिपाद्य/संवेदना

सुब्रह्मण्य भारती की दोनों रचनाएँ उन सभी विज्ञियों पर चर्चा करती हैं जिन्हें उतर आधुनिक युग में 'विमर्ष-शब्द' के रूप में जाना व समझा जाता है। निम्न वर्ग और स्त्री वर्ग सदैव ही उच्च वर्ग द्वारा शोषित रहे हैं। इन वर्गों को अधिकार दिलाने के लिए भारती का समस्त काव्य प्रयत्नरत रहा है।

दोनों ही रचनाएँ कृषक के महत्त्व की स्थापना करती हैं। जिस देश में कृषि को दैवीय कर्म की संज्ञा दी जाती रही है वहीं कृषकों की दशा शोचनीय होती जा रही है। ऐसे में कृषि को पूजन कर्म की संज्ञा देकर भारती कृषक के महत्त्व से परिचित कराते हैं। आने वाले युग को सतयुग के समान मानते हैं जिसमें सभी विशेषज्ञ स्त्री के सम्मान की पुनर्प्रतिष्ठा हो सकेगी।

पुरुष और स्त्री की सम्मानपूर्ण समता का उद्घोष भारती काव्य की मूल संवेदना है। स्त्री का अपमान करने वाले पुरुष भारती की दृष्टि में कदापि क्षम्य नहीं हैं। स्त्री का विकास परिवार से होते हुए देश के विकास में सहायक होता है। ऐसे में स्त्री का अपमान प्रकारान्तर से देश का अपमान बन जाता है।

सिस्टर निवेदिता ने भारती को जिस ममतामयी वाणी में स्त्री के विकास में सहायक होने का निर्देश दिया था, भारती ने इस निर्देश को जीवन का ध्येय बना लिया। अन्यत्र भी 'पांचाली शपथम्' में उन्होंने पांचाली की ओजपूर्ण परन्तु व्यथा से भरी वाणी को स्वर प्रदान किया है। पांचाली अपने पतियों सहित भरी सभा में उपस्थित विभिन्न विद्वजनों की भर्त्सना करते हुए कहती है—

क्या नहीं तुम्हारे भार्याएं, भगिनियां नहीं?

कल्याण न होगा; —नारी का अभिष्ठाप न लो,

कर जोड़ रही हूँ —दया करो कुछ कृपा करो।

इसी प्रकार की प्रतिध्वनि भारती द्वारा लिखित 'पत्र' में दिखाई देती है—

“लिखो कि जिसने स्त्री का अपमान किया है, उसने अपनी आँख को फोड़ लिया है।”

अतः स्पष्ट है कि प्रत्येक क्षेत्र में देष्टा उन्नति कर सके, यह कामना उनकी दोनों रचनाओं में देखी जा सकती है।

भारती ने 'पल्लु गीत' को स्वतंत्रता गीत का पर्याय बना दिया है। आजादी किसी वर्ग विष्टोज की थाती नहीं होती बल्कि आजादी का अर्थ ही है—खुली हवा में सांस लेने, विकास करने की आजादी। कवि कल्पना करता है कि यह स्वतंत्रता सिर्फ विदेष्टी सत्ता से ही नहीं बल्कि परंपरागत बंधनों, जातिगत अवमानना, रूढ़िवादी सोच से भी मिलेगी।

भविष्य के प्रति रचनाकार के अनेक स्वप्न हैं जो वह सर्वप्रथम दलित जाति के साथ बाँटना चाहता है। राज्य के विकास के लिए आवश्यक है कि सभी जातियाँ समान रूप से विकसित हो। इस अवधारणा पर ही राज्य का विकास भी टिका है परंतु भारत जैसे बड़े राज्य में जातिगत द्वंद्वों ने हमेशा शोषित को और अधिक दबाया है, विकास के अवसर नहीं दिए। रचनाकार उस वर्ग को भी समान अवसर दिलाने की चाह रखता है।

अपने पत्र में भी रचनाकार अपने किसी विष्टिज बंधु मात्र को सम्बोधित न करके समस्त देष्टावासियों को देष्टा के विकास का भागीदार बनाने के लिए प्रेरित करता है इस रचना में भूमि की उर्वरा शक्ति के उपयोग से लेकर तकनीकी विकास तक रचनाकार की दृष्टि जाती है। मात्र साहित्य और कलाओं के मानसिक विकास से देष्टा की उन्नति नहीं होगी बल्कि औद्योगिक, तकनीक, कृषि के विकास से ही देष्टा विकास की ओर अग्रसर होगा। शिष्टित-अशिष्टित सभी वर्गों की इस विकास में भागीदारी होगी। यह कल्पना और प्रगतिशील दृष्टिकोण रचनाकार को और अधिक महनीय बना देती है।

प्रासंगिकता/सार्थकता

आज के समय में सार्थकता उसी रचना की है जो निम्न जाति, समाज के साथ खड़े होकर उच्च वर्गीय मानसिकता के विरुद्ध स्वर बुलंद कर सके। आज के समय में 'अनुभव की प्रामाणिकता' की विष्टोज दुहाई दी जा रही है। ऐसे में भारती का काव्य किसी भी व्यक्ति के लिए प्रेरणास्रोत बन सकता है जिन्होंने वर्ग की पीड़ा का न केवल सार्थक चित्र प्रस्तुत किया बल्कि उनको सक्षम बनाने में अपना योगदान भी किया।

उद्योगों के विकास के बिना देष्टा की उन्नति नहीं हो सकती, रचनाकार को इस बात का पूरा-पूरा ज्ञान है अतः औद्योगिक विकास के लिए वह सदैव प्रयत्नशील है। संगीत, मूर्तिकला, इंजीनियरी, भूमिशास्त्र, खगोलशास्त्र, प्रकृतिशास्त्र का विकास समाज की दिष्टा को निर्देष्टित करके नए आयामों के लिए मार्ग प्रष्टास्त करेगा अतः अपने पत्र के माध्यम से भारती अपने मित्रों को भी इस पुनीत कार्य के लिये प्रेरित करते हैं। साहित्य मात्र हमें सजग ही नहीं करता बल्कि प्रेरित भी करता है। भारती का काव्य इस दृष्टि से प्रासंगिक भी है व सार्थक भी।

युग और समाज को सुशिष्टित करने और बेहतर बनाने का प्रयास करने वाली रचना मात्र-समसामयिक ही नहीं होती बल्कि प्रत्येक युग को लाभान्वित करती है। भारती का समस्त काव्य प्रेरणार्थक है—कभी राष्ट्रियता के स्तर पर तो कभी दार्ष्टानिकता के माध्यम से। अतीत से आज की तुलना करते हुए वर्तमान के आधार पर भविष्य के निर्माण का स्वप्न इनकी दोनों रचनाओं में विद्यमान है। इस निर्माण में सभी की भागीदारी को वह बराबरी के स्तर पर स्वीकार करते हैं, सभी की उन्नति में देष्टा की उन्नति मानते हैं अतः इन रचनाओं का पाठ किसी भी युग की दिष्टा तय करने में महत्त्वपूर्ण होगा।

समीक्षा: भाजा श्रैली

भारती के काव्य में 'मैं और तुम' श्रैली का प्रयोग सर्वत्र मिलता है। भारती अपने काव्य एवं गद्य दोनों में

स्वयं उपस्थित हैं और यह उपस्थिति कहीं व्यवधान उत्पन्न नहीं करती बल्कि काव्य का वैशिष्ट्य बढ़ा देती है। 'पत्र' स्वयं भारती द्वारा अपने छोटे भाई को प्रेरणा देते हुए लिखा गया है।

कवि के काव्य की परख प्राचीन बने उपमानों और प्रतीकों के आधार पर नहीं की जा सकती। उन्होंने काव्य के कल्पना पक्ष को सामाजिक-दायित्व से जोड़कर देखा है। युग धर्म बदलने के साथ-साथ प्राचीन संकेतों का बदलाव भी आवश्यक हो जाता है। नए संकेतों व नए प्रतीकों से भारती ने सज्जनों की महिमा का मान व दुर्जनों के विनाश का संकल्प किया है।

भारती की पाठ्यक्रम में प्रस्तावित दोनों रचनाएँ युगधर्म का निर्वाह करते हुए सहज-सरल भाषा में भावाभिव्यक्ति करने में सक्षम हैं। सम्पूर्ण संदेश अभिधात्मक शैली में व्यक्त किया गया है। राजसी और तामसी वृत्तियों के विरोध में सत्त्व की स्थापना पर बल दिया गया है। भाव, ज्ञान और क्षमता के अद्भुत सौन्दर्य से जन जागृति के संदेश की प्रतिज्ञा की गई है। अन्तर्निहित संगीत व लय काव्य का ही नहीं गद्य का सौन्दर्य भी बढ़ाते हैं। गद्य रचना में सदुपदेश देने के लिए काव्यात्मक परंतु सरल भाषा का प्रयोग किया गया है।

भारतीय साहित्य में रचना एवम् रचनाकार का महत्त्व

रवीन्द्रकुमार सेठ ने 1909 में प्रकाशित भारती के लेख का उल्लेख किया है जिसमें भारती ने लिखा है—“गाँव-गाँव में भारत-माता के मंदिर का निर्माण कर, प्रतिदिन पूजा आदि कार्यो द्वारा जन-जागरण करना चाहिए जिससे जनता के मन में अलगाव का भाव दूर हो। सारे भारत की ही संतान हैं, यह विचार उदय हो।”

ऐसे विचारों को धारण करने वाले सुब्रह्मण्य भारती का व्यक्ति तो विशिष्ट था ही, कृतित्व में सर्वत्र सर्वधर्म समानता का भाव स्पष्ट दिखाई देता है। भारती की रचनाओं के उद्देश्य हैं—बाल विवाह विरोध, विधवा विवाह समर्थन, स्त्री जाति की उन्नति, शिक्षा पर बल, धार्मिक मतभेदों का विरोध, स्वतंत्रता की महती आवश्यकता का रेखांकन, राष्ट्र एकता, दलितों और अछूतों को सशक्त बनाने का प्रयास, एक क्षेत्र की भाषा को दूसरे की भाषा से जोड़ना तथा सर्वत्र भाषाओं की उन्नति के माध्यम से राष्ट्र की उन्नति को जोड़ना।

ये सभी उद्देश्य जीवन के महत्त्व का रेखांकन करते हैं जिसमें आम आदमी की भागीदारी आवश्यक है। पाठ्यक्रम में निर्धारित दोनों रचनाएँ स्वतंत्रता, शिक्षा, स्त्री जाति के महत्त्व, अछूतों दलितों की सशक्तता पर बल देती हैं। सम्पूर्ण भारतीय साहित्य में इन तत्त्वों का अंकन ही साहित्य को श्रेष्ठ बनाता है और इन्हीं तत्त्वों का समावेश इन रचनाओं की सफलता और प्रभावशीलता का रहस्य है।

6. स्त्री-पुरुष तुलना : नारी मुक्ति विमर्ष

(ताराबाई शिंदे)

डॉ० हर्षबाला शर्मा
प्रवक्ता, हिन्दी-विभाग,
इन्द्रप्रस्थ महाविद्यालय,
दिल्ली विश्वविद्यालय

ताराबाई शिंदे ने अपना प्रथम लेख सन् 1882 में लिखा। वह 19वीं शताब्दी की प्रमुख स्त्री कार्यकर्ता थी जिन्होंने अपनी लेखनी के माध्यम से पितृसत्ता और जातिवाद का विरोध किया। उच्चजाति तथा पितृसत्तात्मक व्यवस्था ने भारतीय समाज में सदैव अनेक समस्याओं का सृजन किया तथा भीतर-ही-भीतर अपनी अन्तर्विरोधी मानसिकता के माध्यम से असंतोष उत्पन्न करने का कार्य किया। ताराबाई शिंदे निम्न वर्ग से ताल्लुक रखती थीं। ऐसे में जब 21वीं सदी में भी स्त्री को स्वर उठाने के लिए सोचना पड़ता है, 19वीं सदी में उन्होंने जातिवाद, पुरुषवादी व्यवस्था तथा हिन्दू धर्मग्रन्थों में स्त्री के लिए तय नियमों के प्रति विरोध का स्वर उठाया।

उनकी एकमात्र रचना पितृसत्तात्मक व्यवस्था की आलोचना के प्रथम आधुनिक स्त्रीवादी टेक्सट के रूप में देखी जाती है। ताराबाई शिंदे एक सामाजिक-जागरूक कार्यकर्ता थीं। उन्होंने ज्योतिबा एवं सावित्रीबाई फुले के साथ उनके 'सत्य शोधक समाज' के सदस्य के रूप में निरन्तर कार्य किया। ज्योतिबा फुले व सावित्रीबाई फुले ने अछूत लड़कियों के लिए सन् 1848 में प्रथम स्कूल की स्थापना की साथ ही उच्चवर्गीय विधवा स्त्रियों के लिए 1854 में रहने के लिए स्थान की व्यवस्था भी की। ताराबाई शिंदे के समक्ष उदाहरण के रूप में ये व्यवस्थाएँ कायम थीं। ऐसे में उन्होंने उपर्युक्त दोनों के साथ मिलकर जाति और लिंग के आधार पर किए जाने वाले भेदभाव के विरोध में नए हथियारों की खोज की।

विरोध जताने और नए मार्ग तैयार करने का सबसे सशक्त व रचनात्मक माध्यम है-साहित्य। वाणी को संग्रहीत करने तथा युगों-युगों तक समाज को इकट्ठोरने और संवारने का कार्य साहित्य के अतिरिक्त किसी अन्य कला द्वारा संभव नहीं। ताराबाई शिंदे ने भी साहित्य को ही बदलाव के लिए आधार बनाया।

युग परिवेष्ट

ताराबाई की एकमात्र रचना 'स्त्री-पुरुष तुलना' का प्रकाशन सन् 1882 में हुआ। युग व काल की दृष्टि से यह समय पुनर्जागरण काल के रूप में पहचाना जाता है। यह युग सुधार आन्दोलनों की तैयारी के रूप में जाना जाता है। विभिन्न सामाजिक धार्मिक आन्दोलनों का उद्देश्य मध्य वर्ग की परंपरागत सोच में परिवर्तन लाना था।

भारतीय समाज में ऐसी अनेक परंपराएँ थी जो अंधविश्वास, अज्ञान तथा पितृसत्तात्मक व्यवस्था की प्रतिफल थीं जैसे-बाल विवाह, सती प्रथा, विधवा जीवन से जुड़ी त्रासदी आदि। आधुनिक दृष्टिकोण के फलस्वरूप प्रेस का विकास हुआ, ईसाई मिशनरियों ने भी भारतीय समाज की अमानवीय प्रथाओं का विरोध किया। ज्योतिबा फुले, डी.के. कर्वे, श्री नारायण गुरु, रामास्वामी नायकर, बी.आर. अम्बेडकर प्रमुख आरम्भिक समाज सुधारक थे।

पर्दा प्रथा, सती प्रथा, बाल विवाह जैसी कृप्रथाओं के विरोध में अनेक सुधारकों ने कार्य किए। राजा राममोहन राय ने ब्रह्म समाज की स्थापना की। 1828-29 में सतीप्रथा के विरुद्ध कानून पास हुआ। ईश्वर चंद्र विद्यासागर के प्रयत्नों से 1856 में 'हिन्दू विधवा पुनर्विवाह अधिनियम' बना। हर विलास शारदा के प्रयत्न स्वरूप 1830 में 'शारदा एक्ट' के माध्यम से लड़कियों की विवाह योग्य आयु 18 वर्ष व युवकों की 21 वर्ष आयु निश्चित हुई।

ज्योतिबाफुले माली जाति में उत्पन्न हुए थे। उन्होंने अपनी पत्नी के साथ सत्यशोधक समाज की स्थापना की, जिसका उद्देश्य एक ओर सामाजिक सेवा करना था तो दूसरी ओर निम्न जाति विभेदकर स्त्रियों की शिक्षा का प्रचार करना था। इन्होंने 'राम' के प्रतीक चिह्न को न अपनाकर 'राजा बालि' को प्रतीक चिह्न माना। ब्राह्मणों की वर्चस्ववादिता का विरोध करके दलितों के लिए न केवल स्कूल की स्थापना की बल्कि विधवा विवाह पर भी बल दिया।

विचारधारा चिन्तन

ताराबाई छिंदे के लेखन के समक्ष उपर्युक्त अनेक विचार-आन्दोलन मौजूद थे। सामाजिक जागृति की इस लहर के मध्य ताराबाई छिंदे का लेख अपनी पूरी आक्रामकता एवं तीखे तेवर के साथ उपस्थित हुआ।

अपनी विचारधारा के रूप में स्त्री सशक्तिकरण एवं स्त्री विमर्षा को यह लेख आद्यन्त लेकर चलता है। भारत में स्त्री संबंधी मुद्दों पर विचार विमर्षा आरम्भ हो चुका था परन्तु ये विचार अभी तक पुरुषों के माध्यम से सुधारात्मक उपायों के रूप में अभिव्यक्त हुए थे। इन विचारों से तत्कालीन समाज की मानसिकता पर पड़े परे पर प्रहार नहीं हुआ था। ताराबाई छिंदे अपनी आक्रामक भाषा के माध्यम से पुरुषवादी मानसिकता पर प्रहार करती हैं।

'अभिव्यक्ति की अनिवार्यता' के साथ 'अनुभव की प्रामाणिकता' किसी भी विमर्षा की आवश्यक शर्त मानी जाती है। स्त्री की पीड़ा के प्रति समझ का दावा करने वाला पुरुष उससे सहानुभूति तो कर सकता है पर उसकी मानसिक यंत्रणा, जहोजहद अपने भीतर लगातार जूझने और लड़ते रहने का संकट अभिव्यक्त नहीं कर सकता। ताराबाई छिंदे ने इस पीड़ा, त्रासदी का जीवन्त दस्तावेज़ प्रस्तुत किया है।

ताराबाई छिंदे की विचारधारा के निर्माण में ज्योतिबा फुले का विभेदक योगदान रहा। फुले दंपति के माध्यम से ही इन्होंने स्त्री की पीड़ा को समझने की शक्ति प्राप्त की। विधवा स्त्री के प्रति सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि का विरोध करते हुए इन्होंने सजग चेतन वैचारिक सोच के माध्यम से उसके भीतर की भावनाओं के विकास को आवश्यक माना। उनकी समस्त विचारधारा स्त्री की आशाओं-आकांक्षाओं के समर्थन से ही निर्मित हुई है।

शैली चिन्तन

ताराबाई छिंदे ने अपनी एकमात्र रचना में शोषण के विविध आयामों पर विचार किया है। प्रायः स्त्री विमर्षा की भाषा पर विचार करते हुए 'वाद-विवाद से गुजरते हुए संवाद' शैली को ही स्वीकार किया जाता है। परन्तु ताराबाई छिंदे, 'संवाद' की संभावना को सिरे से नकारती हैं। अभी तक पुरुष एकालाप करते रहे व स्त्रियाँ सुनती रहीं। मर्यादा, सम्मान, लाज, देहरी, जैसे शब्दों से स्त्री की अस्मिता को जोड़कर देखा जाता रहा परन्तु छिंदे इस रचना में स्वयं एकालाप की शैली अपनाकर पुरुष वर्ग को सुनने के लिए विवश करती हैं।

उनकी शैली आक्रामक है, व्यवस्था पर चोट करती है, नैतिक मूल्यों के नाम पर बंधी-बंधाई दृष्टि का अतिक्रमण करती है साथ ही सदियों से चली आ रही कंडीशनिंग की प्रक्रिया को तोड़ने के लिए कदम भी उठाती है। सिमोन द बोउवा के एक कथन का उल्लेख प्रायः मिलता है—“स्त्री पैदा नहीं होती बना दी जाती है” लेखिका ने स्त्री बनाए जाने के पीछे स्थापित व्यवस्था पर विचार किया तथा स्त्री के बनने से लेकर स्त्री के टूटने तक की प्रक्रिया के लिए समाज को दोषी माना है।

स्त्री-पुरुष को तुलनात्मक दृष्टि से देखते हुए स्त्री और पुरुष, विधवा और विधुर, भावना और तर्क, युवा स्त्री शरीर और बूढ़े तोते रूपी पुरुष, वैधव्य का भार ढोती स्त्री व स्वांग रचाते पुरुष के मध्य तुलना करते हुए इन्होंने जिस व्यंग्यात्मक शैली का प्रयोग किया है, वह अत्यन्त मारक एवं तीखी है। आज के समय में भी जिस शैली का प्रयोग हमें स्त्रीवादी लेखन में नहीं मिलता, उस तीक्ष्ण शैली में समस्त पुरुष वर्ग को, सामन्तवादी नजरिए को 'अरे मूर्खों' शब्द से सम्बोधित करते हुए वह उस वर्ग की जड़ें हिलाने में समर्थ सिद्ध होती हैं।

लेखिका ने मुख्य रूप से प्रश्नवाचक एवं उदाहरण शैली का प्रयोग किया है। आरम्भ से ही वह पुरुष समाज के समक्ष प्रश्न रखती रहीं ताकि समाज अपने भीतर इन प्रश्नों के उत्तर ढूँढने के लिए तैयार हो सके। रचनाकर्म का उद्देश्य प्रश्नों के उत्तर देना नहीं है बल्कि अपने भीतर से सार्थक उत्तरों की तलाश के लिए

प्रेरित करना है। लेखिका इस कार्य में पूरी तरह सफल हुई है यथा-

“माता का दुःखामष्टत क्या तुम पुरुष नहीं प्राणान (ग्रहण करना) करते? दोष क्या केवल नारी में रहते हैं? दुनियादारी की समझ कहाँ से सीखती वह?”

प्रत्येक प्रश्न अग्नि-बाण के समान भीतर उतरते हुए एक बार पुनः आचरण की श्रुद्धता, मर्यादा, सम्बन्ध, समाज जैसे विषयों पर गम्भीर विमर्श के लिए प्रेरित करता है।

रचना का सार

‘स्त्री-पुरुष तुलना’ नामक रचना में पुरुष एवम् स्त्री की तुलना की गई है। पुरुषता पुरुष की बपौती नहीं बल्कि कर्मशीलता ही पुरुष का निर्धारण करती है। परन्तु पुरुष कर्म व उद्योग न करके जन्मतः शारीरिक शक्ति के अधिकार स्वरूप ही स्वयं को श्रेष्ठ मान लेता है और स्त्री को निर्बल। नारी के गुणों को उसका वैशिष्ट्य न मानकर पुरुष इन गुणों को ही उसकी दुर्बलता बना लेता है। लेखिका को सर्वाधिक असहनीय तब लगता है जब स्त्रियाँ भी न जाने क्यों अपने गुणों को अपनी कमजोरी मान लेती हैं। इसके पीछे छिंदे दो कारण मानती हैं-

1. शिक्षा प्राप्ति का अधिकार न होना
2. दुनियादारी की समझ न होना

शिक्षा हमें समाज का साक्षात्कार करना सिखाती है। शिक्षित मनुष्य उचित-अनुचित का निर्णय लेने में सक्षम होता है। परन्तु स्त्री समाज को अज्ञानी रखने में ही पुरुष अपनी स्वार्थपूर्ति मानता है। शिक्षित होकर स्त्री उन सभी अधिकारों की माँग कर सकेगी जिनसे उसे वंचित रखा गया है।

जन्म एवम् मष्ट्यु मनुष्य के हाथों से संभव नहीं। यदि मनुष्य जन्म-मृत्यु का मूल कारक होता तो श्रायद स्त्रियाँ अपने भाग्य से ‘विधवा’ शब्द को सदैव के लिए हटा देती और वैधव्य की भीक्षण यातना से मुक्ति पा लेती। विधवा स्त्री का जीवन जब 21वीं शताब्दी में भी यातनापूर्ण है तब 19वीं सदी की विधवा के सम्बन्ध में परिकल्पना करना भी अत्यन्त भयावह लगता है।

प्रस्तुत रचना एक विधवा स्त्री की दृष्टा को आधार बनाकर ही लिखी गयी है। सन् 1880 में दक्षिणी गुजरात में सूरत के निकट एक छोटे से ग्राम ‘ओल्पाड़’ में विजयलक्ष्मी नामक एक ब्राह्मण विधवा के गर्भवती होने की सूचना एक पुलिस वाले को मिली। उसने यह सूचना जिलाधीश को पहुँचाई ताकि वह सामाजिक निगाहों से बचकर एकान्त में बच्चे को जन्म न दे सके। विजयलक्ष्मी ने समाज के डर से अपने नवजात शिशु की हत्या कर दी। इसके फलस्वरूप उसे 1881 में फाँसी की सजा सुनाई गई।

ताराबाई छिंदे उच्चवर्गीय विधवाओं के साथ पहले भी कार्य कर चुकी थी। वह यह अच्छी तरह जानती थी कि उच्च वर्ग की विधवा स्त्रियों को पुनर्विवाह भी नहीं करने दिया जाता तथा अपने परिवार के पुरुषों द्वारा ही उनका शोचण किया जाता था। यह लेख स्त्रियों पर लगाई गई ‘रोक’ का विरोध करता है। ताराबाई छिंदे इस बात की स्थापना करती है कि स्त्रियाँ केवल ‘अच्छी’ या ‘बुरी’ नहीं होती बल्कि उसके मध्य भी एक वर्ग है जिसे मात्र ‘स्त्री’ ही कहा जाना चाहिए, किसी विशेषज्ञ की उसे कोई आवश्यकता नहीं। ‘विजयलक्ष्मी’ के साथ घटित घटना को बहुत बड़े परिप्रेक्ष्य में देखते हुए ताराबाई छिंदे ने अपने लेख में समस्त पुरुष वर्ग के समक्ष प्रश्न उपस्थित किए।

प्रतिपाद्य

प्रायः रचनाकारों ने विधवा स्त्री की दृष्टा को सहानुभूति पूर्ण नजरिये से देखा तथा “कौन करेजो नहीं कसकत सुनि विपत बाल विधवन की” कहकर स्त्री दृष्टा पर आँसू भी बहाए परन्तु ताराबाई छिंदे इस लेख के माध्यम से सहानुभूति नहीं दर्शाती बल्कि क्रान्तिकारी तेवरों से पुरुष समाज को झकझोरती हैं।

आरम्भिक ‘भूमिका’ में ही ताराबाई छिंदे लिखती हैं-“...मैं एक साधारण सी गरीब स्त्री हूँ जिसे न तो कोई विशेषज्ञ ज्ञान है, जिसे लम्बे समय तक बेड़ियों में बाँधकर रखा गया है...लेकिन आज हम चारों ओर देखें तो हमें अनेक धूर्त और बेधर्म पुरुष दिखाई देते हैं जो अनेक चतुराइयों के माध्यम से अपना काम निकालते रहते हैं जबकि लोग सारा दोषारोपण स्त्रियों पर करते हैं मानों जो भी गलत होता है उसमें स्त्रियों का ही दोष हो। जब मैं यह देखती हूँ तो मेरा मस्तिष्क मानों हिलने और चिल्लाने लगता है। धीरे-धीरे मैंने इस समाज से डरना छोड़ दिया, मैं खुद को इस बारे में

लिखने से रोक न सकी खासकर इस तेज, तीखी और चीर देने वाली भाज़ा में...(about it in this biting language)

‘विजयलक्ष्मी’ के साथ घटित घटना ने ताराबाई शिंदे के मन-मस्तिष्क को झकझोर दिया और उन्होंने औपनिवेशिक भारत में एक उपनिवेश के रूप में अपने जीवन को ढोने के लिए मजबूर स्त्री की पक्षधर होकर साम्राज्यवादी ताकतों का विरोध करने का साहस किया।

लेखिका अनेक उदाहरणों के माध्यम से स्वयं स्त्री व पुरुष के मध्य तुलना करती है। पुरुष प्रायः बलाबल के आधार पर शक्ति का निर्णय करते हैं। जिसके पास शारीरिक शक्ति की अधिकता है-वह सबल और जिसके पास शारीरिक शक्ति सीमित हो-वह अबला स्त्रियों की शारीरिक संरचना पुरुष की तुलना में कोमल होती है अतः पुरुष जाति ने उसे ‘अबला’ की संज्ञा प्रदान की परन्तु यही ‘अबला’ न जाने कितने कष्टों को सहते-सहते समाप्त हो जाती है परन्तु पुरुषों को उस पर दया नहीं आती।

साम्राज्यवादी ताकतें उपनिवेश पर अपने अधिकार को बनाए रखने में ही अपना वैशिष्ट्य मानती हैं। यही स्थिति पुरुष व स्त्री के मध्य है। जर, जोरू और जमीन पर जिस वर्चस्व को बनाए रखने के लिए पुरुष वर्ग सदियों से आपस में ही संघर्षरत रहा है उसे सरलता से छोड़ना असंभव है।

जिस स्त्री को ‘अबला’ कहकर निरन्तर उसका अपमान पुरुष वर्ग करता रहा है, उसे दी गई प्रताड़ना की कोई सीमा नहीं। सौभाग्यहीना होने पर कैदी के समान भीक्षण अपराधी मानकर उसके साथ किया जाने वाला दुर्व्यवहार अक्षम्य है। सावित्री तो फिर भी काल से वैर लेकर अपने पति को मष्ट्यमुख से बचा लाई, झाँसी की रानी पुत्र को पीठ पर बांधकर अन्तिम क्षण तक संघर्षरत रही परन्तु पुरुष वर्ग में ऐसा एक भी उदाहरण नहीं मिलता जिसने अपनी पत्नी की मष्ट्यु के पष्ठचात् स्वयं को समस्त सुख-साधनों से वंचित कर लिया हो।

वृद्ध पुरुष भी युवा पत्नी पाने की लालसा करता है। लालसा ही नहीं करता बल्कि धन-सम्पदा के बलपर अपनी इस इच्छा को पूरा भी कर देता है। आज भी हमारे देश के अनेक भागों में ऐसी कुप्रथाएँ विद्यमान हैं। ताराबाई शिंदे का यह लेख स्त्री-पुरुष के मध्य तुलना करते हुए दोनों की समानता की बात करता है।

समीक्षा (भाज़ा शैली)

रचनाकार द्वारा रचित एकमात्र रचना ‘स्त्री पुरुष तुलना’ है जिसकी शैली के सम्बन्ध में आरम्भ में ही विवेचन किया जा चुका है। यहाँ इस शैली के महत्त्व तथा आज के सम्बन्ध में उसकी उपयोगिता का विवेचन किया जा सकता है।

ताराबाई शिंदे द्वारा रचित मूल लेख मराठी भाज़ा में उपलब्ध है परन्तु पाठ्यक्रम के अन्तर्गत उसका हिंदी अनुवाद स्त्री-विमर्श के अनेक आयामों को संस्पर्श करते हुए मूल लेख की अन्तरात्मा को ही प्रतिध्वनित करता है। लेखिका की भाज़ा अत्यन्त कठोर है तथा पुरुषवादी मानसिकता को तोड़ने की कोशिका इस भाज़ा में लगातार दिखाई देती है परन्तु लेखिका की भाज़ा का महत्त्व यह है कि अत्यन्त वक्र एवं कठोर होने पर भी उसमें विध्वंस की प्रवृत्ति विद्यमान नहीं है। अत्यन्त सरल और सहज उदाहरणों के माध्यम से उदाहरणात्मक शैली का प्रयोग करते हुए समाज के मध्य विद्यमान स्थितियों का विवेचन किया गया है यथा-झाँसी की रानी अथवा सावित्री द्वारा सत्यवान के प्राणों की रक्षा का उदाहरण।

लेखिका ने अनेक मुहावरों व लोकोक्तियों का प्रयोग इस लेख में किया है। मुहावरों के माध्यम से अनेक अर्थों को सम्प्रेषित किया जा सकता है। लेखिका का उद्देश्य किसी विशिष्ट समाज के लिए रचना करना न होकर आम आदमी के भीतर परिवर्तन लाने का प्रयास करना है। अतः जन-मानस में प्रचलित मुहावरों का प्रयोग इस कार्य में सहायक ही हुआ है। यथा-

“जिसके हाथ में लाठी वही बलवान, बाकी सब निर्बल, धौंस जमाना, घिग्गी बंध जाना, कमल बहादुर होना, स्तुति पाठक”ख आदि।

व्यंग्यात्मक शैली का प्रयोग करते हुए स्त्री-पुरुष की तुलना की गई है। स्वयं लेखिका अपनी भाज़ा के लिए ‘Biting Language’ शब्द का प्रयोग करती है। कोई भी भाज़ा जब साहित्य में प्रवेश करती है तो अपनी संस्कृति की आहटों को अपने भीतर स्थान देते हुए समाज के वृहदत्तर रूप से जुड़ती है। इसलिए प्रत्येक विमर्श के अपने कुछ विशिष्ट शब्द, विशिष्ट अर्थच्छवियाँ होती हैं जो अपने भीतर छिपे पूरे संसार को प्रतिबिम्बित करती हैं। लेखिका ने भी ऐसे कुछ छोटे-छोटे सहज दिखने वाले परन्तु अत्यन्त गंभीर शब्दों का प्रयोग किया है जो

स्त्री की पीड़ा को मूर्त कर देते हैं यथा-

‘भावनाहीन पत्थर, महाखूनी के समान अधियारी जगह पर जीवन बिताना’, ‘स्त्री का केश-वपन करना’, ‘बाघ के सामने मेमने को डाला जाना’, ‘वैधव्य की गठरी’ आदि।

स्त्री, जिसकी भावना, सद्भावना, प्रेम, सौभाग्य, केश, रूप की प्रशंसा की जाती है, वैधव्य आते ही उसके इन सभी गुणों को ही उसका अवगुण मान लिया जाता है। उपर्युक्त शब्दों से लेखिका ने स्त्री-समाज के भीतर वैधव्य के नाम पर गहराते अंधकार को मूर्त कर दिया है।

व्यंग्यात्मक श्रैली का सबसे बड़ा उपयोग या महत्त्व इस बात में है कि व्यंग्य जिस पर किया जाए, वह भीतर तक न केवल तिलमिला जाए बल्कि एक बार विज्ञय पर सोचने के लिए विवश भी हो। इस लेख की भाँजा हमें बार-बार अपना विवेचन करने के लिए प्रेरित करती है और यही उसका महत्त्व है।

प्रासंगिकता

रचना का महत्त्व उसकी प्रासंगिकता का निर्धारक है। ताराबाई शिंदे 19वीं शताब्दी में 21 शताब्दी के स्वर में स्त्री-समर्थन का इतिहास रच सकीं, इस दृष्टिकोण से इस रचना की प्रासंगिकता आने वाले प्रत्येक युग में सदैव बनी ही रहेगी परन्तु इस रचना का महत्त्व मात्र इतना ही नहीं कि यह स्त्री-विमर्श का भारतीय परिप्रेक्ष्य में प्रथम टेक्स्ट मानी जाती है, बल्कि यह भी है कि स्त्री-पुरुष के मध्य तुलना करते हुए यह समाज को तोड़ने की नहीं बल्कि उसके निर्माण की बात करती है।

यह रचना स्त्री एवं पुरुष की शारीरिकता-मानसिकता की तुलना करते हुए पुरुष को स्त्री का विरोधी सिद्ध नहीं करती बल्कि साथी, सहयोगी बनने के लिए प्रेरित करती है। वह दोनों की समानता की पक्षधर है अतः दोनों को विद्या प्राप्ति का अधिकार देना चाहती है ताकि शिक्षित होकर समाज की बुनियादी व्यवस्था को सुधारा जा सके। यह रचना पुरुष के नहीं पुरुषवादी मानसिकता के विरोध में लिखी गई है। पुरुषवादी मानसिकता यदि स्त्री के भीतर होगी तो वह भी शोचण करेगी। यह रचना ऐसे किसी भी शोचण का विरोध करती है और समाधान के रूप में शिक्षा की आवश्यकता पर बल देती है।

किसी भी रचना की प्रासंगिकता इस बात से तय होती है कि रचना राजनीति, धर्म, समाज, संस्कृति के प्रति कितनी सजग है तथा अपने समय के किस मुद्दे अथवा विमर्श को लेकर चर्चा करती है। यह रचना अपने समाज में फैली विसंगतियों के प्रति सचेत होकर चिंतन करती है। समाज की विसंगतियों के मूल में एक ही कारण है— समानता का अभाव। मार्क्स ने असमानता के मूल में शोचक-शोचित का सम्बन्ध ढूँढा तथा शोचितों के अधिकारों को आवश्यक माना। ताराबाई शिंदे स्त्री-पुरुष के मध्य समानता से ही विसंगतियों का अन्त संभव मानती है। उत्तरदायित्व का निर्वहण दोनों पक्षों की साझेदारी व समझदारी से ही संभव है।

यह रचना ‘धर्म’ को ‘धारण करने की प्रवृत्ति’ के रूप में व्याख्यायित करती है। धर्म वही है जो विभेद को प्रोत्साहन न दे। ऐसा धर्म किस काम का जो ईश्वर द्वारा बनाई गई कृतियों में ही भेद करें। लेखिका इस प्रश्न पर बार-बार विचार करती है और कहती हैं—“तुम कहते हो जैसे अपनी जात होती है, वैसे ही दूसरे की भीखफिर स्त्री के साथ तुम्हारा ऐसा भेदभाव क्योंख?”

जिस धर्म के नाम पर मनुवादी-व्यवस्था कायम करके स्त्री को समस्त अधिकारों से वंचित कर दिया गया और पुरुषों को असीमित सुख-सुविधाएँ प्रदान कर दी गई, उस धर्म के प्रति यह रचना विरोध दर्ज कराती है। ऐसा धर्म प्रत्येक युग में प्रष्टनात्मकता उत्पन्न करता है। 19वीं शताब्दी में धर्म पर लगाए गए प्रष्टनचिह्न 21वीं शताब्दी में भी उतने ही सार्थक हैं।

‘यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताख’ कहने वाले देश में स्त्री का शोचण शारीरिक और मानसिक दोनों स्तरों पर हमेशा ही किया गया है। यह रचना वैधव्य के कारण स्त्री को सौभाग्यहीना मानकर मंगल कार्यों में उसकी अनुपस्थिति जैसे कारकों पर प्रष्टनचिह्न लगाती है, स्त्री को छोटी-से-छोटी गलती के लिए जातिभ्रष्ट, बहिष्कृत किए जाने का विरोध करती है, स्त्री के समस्त गुणों-अवगुणों को मात्र शारीरिकता से जोड़कर देखने की प्रवृत्ति का निज्ञेध

करती है। आज भी स्त्री के शरीर को ही उसके विकास का मानदण्ड मानकर उसके प्रति जो अन्याय किया जाता है, उन सभी दृष्टियों का निजोध करके यह रचना सर्व मानवतावाद की दृष्टि की स्थापना करती है।

भारतीय साहित्य में रचना व रचनाकार का महत्त्व

भारतीय साहित्य के केन्द्र में सदैव ही उन वर्गों को रखा गया है जो शोषित अथवा वंचित हैं अथवा जिनके अधिकारों के संघर्ष में साथ देना साहित्य अपना कर्तव्य मानता रहा है। स्त्रियाँ युगों-युगों से शोषित एवम् वंचित तो हैं ही साथ ही समय-समय पर उनके संघर्ष को पुरुष वर्ग नजरअंदाज करके उनकी शक्ति को समाप्त करने की साजिष्ठा करता रहा है। सम्पूर्ण भारतीय साहित्य पीड़ित वर्गों के संघर्ष का साहित्य है। इस दृष्टि से ताराबाई शिंदे द्वारा रचित एकमात्र लेख 'स्त्री-पुरुष तुलना' महनीय प्रयास है।

समाज-सुधार और परिवर्तन के लिए तैयार हो रहे युग के मध्य पुरुष रचनाकारों द्वारा सहानुभूति पूर्ण तरीके से स्त्री की पीड़ा पर विचार किया जा रहा था, ऐसे में स्त्री रचनाकार द्वारा स्त्रियों का पक्ष और पुरुषों की भर्त्सना करते हुए सन् 1880 में लिखा गया क्रान्तिकारी लेख महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

ताराबाई शिंदे के लेखन के आसपास ही ज्योतिबा फुले की पाठशाला की शिष्या 'मुक्ताबाई' ने 'भंगमहारात्या दुख बिसियों' शीर्षक से दलित महिलाओं की पीड़ा को स्वर दिया। इसी समय पंडिता रमाबाई ने ब्राह्मण स्त्री होने के बावजूद शूद्र युवक से विवाह किया तथा ब्राह्मण समाज को करारा झटका दिया। रमाबाई ने भी क्रान्तिकारी स्वर में 'स्त्री धर्म नीति' पुस्तक की रचना की।

ताराबाई शिंदे ने इसी समय समाज की पुराणपंथी विचारधारा का विरोध करते हुए नारी-उत्पीड़न की गाथा को उकेरते हुए पुरुष सत्तात्मक समाज के विरुद्ध नारी की ऊर्जा और अदम्य साहस को रूपायित किया। इस दृष्टि से इस रचना का भारतीय साहित्य में सदैव महत्त्व रहेगा।

7. (i) काबुलीवाला (कहानी)

(ii) शाहजहाँ (कविता)

(रवींद्रनाथ ठाकुर)

डॉ. रेणु अरोड़ा
हिंदी-विभाग,
मिराण्डा हाउस
दिल्ली विश्वविद्यालय

रवींद्रनाथ ठाकुर की गिनती विश्व के महान साहित्यकारों में होती है। उन्होंने अपने विचारों से भारतवासियों को ही नहीं बल्कि पश्चिम के लोगों को भी प्रभावित किया। यही वजह है कि उनकी रचनाओं का अनुवाद भारतीय भाषाओं के साथ-साथ प्रमुख विदेशी भाषाओं में भी हुआ। वे भारत के एकमात्र ऐसे लेखक हैं जिन्हें विश्व के सर्वोच्च सम्मान नोबेल पुरस्कार से सम्मानित किया गया।

टैगोर की प्रतिभा बहु आयामी थी। वे एक साथ कवि, उपन्यासकार, नाटककार, गीतकार, दार्शनिक, शिक्षक और चित्रकार थे। वे प्रकृति के सच्चे प्रेमी थे। 1901 में उन्होंने प्रकृति के नैसर्गिक वातावरण में शांतिनिकेतन की स्थापना की। इस विद्यालय की आशातीत सफलता 'विष्टवभारती' की स्थापना का कारण बनी। इसे 1921 में विष्टवविद्यालय की मान्यता मिली। इस संस्था की स्थापना का उद्देश्य था—'वसुधैव कुटुंबकम्' अर्थात् जहाँ विष्टव एक नीड़ के समान बस सके। टैगोर मानवधर्म के प्रतिपादक तथा जीवन देवता के उपासक थे। वे महान राष्ट्रप्रेमी तथा स्वतंत्रता संग्राम में सक्रिय ढंग से शामिल थे। वे राष्ट्र की अवधारणा के दुष्परिणामों के प्रति आघातित भी थे 'नेष्टानलिज्म' नामक चार व्याख्यानों के संग्रह में उनकी ये आशांका व्यक्त हुई है।

रवींद्रनाथ टैगोर सर्वाधिक ख्याति 'गीतांजली' के कारण मिली। इस कृति ने पश्चिम को भी अभिभूत किया। 1913 में 'गीतांजली' के लिए उन्हें साहित्य का नोबेल पुरस्कार दिया गया। 1915 में उन्हें 'सर' की उपाधि से विभूजित किया गया लेकिन 1919 में हुए जलियांवाला नरसंहार के कारण उन्होंने इस उपाधि को लौटा दिया। कनाडा में भारतीयों के प्रवेष्टा को निजिद्ध करने के लिए बनाये गये अपमानजनक नियमों के कारण उन्होंने कनाडा से मिले आदरयुक्त निमंत्रण को भी अस्वीकार कर दिया। टैगोर का यह आचरण उनकी भारतीय अस्मिता का पुष्ट प्रमाण है।

टैगोर ने एक हजार से अधिक कविताएँ लिखीं। सोनारतरी (1894), नैवेद्य (1901), गीतांजली (1910), बलाका (1916) आदि उनके प्रमुख काव्य संग्रह हैं। उनकी दर्जनों कहानियाँ 'गल्प गुच्छ' में संगृहीत हैं। चोखेर बाली (1903), नौका डूबी (1906), गोरा (1909) तथा घरे-बाहिरे (1916), विसर्जन (1890) तथा चित्रांगदा (1892) में उनकी नाट्य प्रतिभा अपनी पूरी शक्ति के साथ प्रकट हुई है। रक्तकरबी (1926) श्रेष्ठ सांकेतिक नाटक है।

टैगोर का समग्र साहित्य उनके राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक और दार्शनिक विचारों को जानने और समझने का महत्वपूर्ण माध्यम है। अपने कृतित्व के द्वारा उन्होंने बांग्ला ही नहीं बल्कि समस्त भारतीय साहित्यकारों को विजय और श्रित्य की नवीन दिष्टा दी। लिखने का अत्यंत सरल ढंग अपनाते हुए उन्होंने समाज के विभिन्न वर्गों जैसे-किसानों और जमींदारों के विजय में लिखा। जातिवाद, भ्रष्टाचार और निर्धनता जैसी सामाजिक बुराईयाँ उनकी रचनाओं का अभिन्न अंग बनी। उनके व्यक्तित्व और कृतित्व में निहित वैष्टिक चेतना ही उन्हें अविस्मरणीय बनाती है।

काबुलीवाला : सार

काबुलीवाला टैगोर की सर्वाधिक चर्चित कहानियों में से एक है। इस कहानी में कहानीकार ने एक छोटी-सी बालिका 'मिनी' के मनोभावों को, उसकी चंचलता और उसके भोलेपन को उकेरने के साथ-साथ काबुलीवाले के वात्सल्य भाव को बड़ी गहराई और मार्मिकता से उजागर किया है। पाँच वर्जीय मिनी एक संभ्रांत बंगाली परिवार की चंचल-चपल बालिका है। अपने पिता के साथ खूब उत्साहित होकर बातचीत करती है और उत्तर की प्रतिक्रिया किए बिना एक के बाद दूसरा सवाल करती रहती है। पिता द्वारा भोला के साथ खेलने को कहने पर वह उन्हीं की मेज के किनारे पैरों के पास बैठकर आगडूम-वागडूम कहते हुए खेलने लगती है। अचानक मैले से ढीले-ढाले कपड़े पहने, सिर पर पगड़ी बांधे, पीठ पर झोली लिए, हाथों में अंगूर के दो-चार बक्स लिए एक लंबे काबुलीवाले को सड़क पर जाते देख वह उसे जोर-जोर से पुकारने लगी, काबुलीवाले, ओ काबुलीवाले। लेकिन जैसे ही काबुलीवाले ने हंसकर मुँह फेरा और घर की ओर आने लगा वह भयभीत हो अंतःपुर में भाग गई। पिता द्वारा बुलाए जाने पर भी वह उनकी देह से सटकर काबुली के चेहरे और झोली को संदेह की दृष्टि से देखती रही और जब काबुली ने झोली से

किष्णामिष्ठा, खुबानी निकालकर दिए तो वह लेने के लिए किसी तरह राजी नहीं हुई बल्कि दुगुने संदेह से पिता के घुटनों के साथ चिपक गई। भय और संदेह का यह पहला परिचय जल्द ही गहरी मित्रता में बदल गया और मिनी को काबुली के रूप में अपने पिता के समान दूसरा धैर्यवान श्रोता मिल गया।

काबुली स्नेह से उसके छोटे से आंचल को पिस्ता बादाम किष्णामिष्ठा से भर देता। काबुली के प्यार और सूखे मेवों की सौगात ने मिनी के हृदय पर बहुत कुछ अधिकार कर लिया था। दोनों के बीच मित्रता का संबंधसूत्र दृष्ट हो गया था। उन दोनों असमान आय वाले मित्रों के बीच कुछ बंधी हुई बातें और परिहास प्रचलित था जैसे-मिनी के पूछने पर काबुलीवाले! ओ काबुलीवाले! तुम्हारी झोली में क्या है? और वह उत्तर देता, हांति। अर्थात् मेरी झोली में हाथी है। इस परिहास में दोनों खूब विनोद का अनुभव करते। इसी प्रकार रहमत (काबुलीवाला) मिनी से कहता, मुन्नी, तुम क्या ससुराल कभी नहीं जाओगी। ससुराल शब्द से अपरिचित मुन्नी उसके अनुरोध को ठीक से समझ नहीं पाती और उलटकर पूछती, तुम ससुराल जाओगे। जवाब में रहमत काल्पनिक ससुर के प्रति खूब मोटा घूंसा तानकर कहता, मैं ससुर को मारूंगा। तो मिनी खूब हंसती।

मिनी की मां काबुलीवाले के प्रति बड़ी सष्णाकित रहती पर मिनी के पिता को उसकी निष्ठछल मुस्कराहट और वात्सल्य पर विष्ठवास था इसीलिए वह पत्नी के बार-बार अनुरोध करने पर भी निर्दोष रहमत को अपने घर आने से मना नहीं कर पाते।

इस मित्रता में व्यवधान तब होता है जब काबुलीवाले को घातक प्रहार के अपराध में कई वर्जों की जेल हो जाती है। समय बीतने के साथ-साथ मिनी भी बड़ी होने लगती है। चंचलता का स्थान लज्जा ले लेती है और सखा के बदले एक-एक करके सखियाँ जुटने लगती हैं। उसके मानसपटल पर काबुलीवाले से जुड़ी स्मृतियाँ धुंधली हो जाती हैं। कहानी में सबसे महत्वपूर्ण मोड़ तब आता है जब मिनी के विवाह वाले दिन जेल से छूटने पर रहमत उससे मिलने आता है। उसकी मनस्मृतियों में मिनी आज भी वही छोटी-सी चंचल बालिका थी जो उत्सुकतापूर्वक उसकी प्रतीक्षा करती है, हंसी-विनोद की बातें करती है। लेखक द्वारा यह कहने पर कि आज घर में काम है, आज और किसी से भेंट नहीं हो सकेगी, वह जाता है और जाते-जाते फिर लौटकर उसके पास आकर थोड़े-से किष्णामिष्ठा-बादाम मुन्नी के लिए देता है। दाम देने पर वह उसका हाथ कसकर पकड़कर कहता है-बाबू जिस तरह तुम्हारे एक लड़की है उसी तरह देष्ठा में मेरे भी एक लड़की है। मैं उसी का चेहरा याद करके तुम्हारी मुन्नी के लिए थोड़ा बहुत मेवा लेकर आया हूँ, सौदा करने नहीं। यह कहकर वह अपने ढीले-ढाले कुर्ते में हाथ डालकर कहीं छाती के पास से मैले कागज का टुकड़ा निकालता है जिस पर नन्हें हाथों की छाप थी। श्लिष्णु-हस्त की इसी छाप के सहारे कलकत्ता प्रवास के दौरान वह अपने विरही वक्ष में सुधा-संचार करता था। पितृ-वात्सल्य की इस भावभूमि पर समाज के दो अलग-अलग वर्ग के व्यक्ति एक ही भूमि पर आ खड़े हुए जहाँ वे दोनों ही एक बालिका के पिता थे और कुछ नहीं।

वधू वेष्ठा में मिनी को देखकर काबुलीवाला सकपका जाता है और उसे अहसास हुआ कि उसकी बेटी भी विवाह योग्य हो गई होगी। कलकत्ता की गली में बैठकर उसका हृदय अफगानिस्तान की मरू-भूमि में विचरण करने लगता है। यहीं कहानी का अन्त होता है।

प्रतिपाद्य एवं प्रासंगिकता

रवींद्रनाथ ठाकूर की कहानी 'काबुलीवाला' मानवीय संवेदनाओं और हृदय की सूक्ष्म भावनाओं को उकेरने वाली कहानी है। इस कहानी का केन्द्रीय पात्र है-काबुलीवाला, जो काबुल से सूखे मेवे लेकर कलकत्ता बेचने के लिए आता है और प्रतिवर्ष माघ महीने के बीचोंबीच अपने देष्ठा चला जाता है। उसे अपनी बेटी की छवि लेखक की पुत्री मिनी में दिखाई देती है। वह मिनी पर अपना सारा स्नेह उडेलता रहता है। बच्चे का अबोध और स्वच्छ मन समाज के बनाए जाति, धर्म, वर्ग आदि के भेदभाव को नहीं जानता, बस वह प्यार को पहचानता है। यही

कारण है कि प्रथम परिचय में काबुली से भयभीत और सञ्चालित होने वाली मिनी जल्द ही उसकी मित्र बन गई और उसे देखते ही प्रसन्न हो उसके पास दौड़ी चली आती है।

इस कहानी के माध्यम से रचनाकार अपने पाठकों को यह अहसास करना चाहता है कि वात्सल्य और ममत्व किसी वर्ग विभेद की बर्णना नहीं है। मानवीय संवेदनशीलों और भावनाओं के धरातल पर अमीर-गरीब, शिक्षित-अशिक्षित, अभिजात-सामान्य सब एक समान हैं। कहानी के अंत में जब मिनी के पिता काबुली की बेटी की हस्तछाप को देखते हैं तो उनकी आंखें छलछला जाती हैं और उस क्षण उन्हें लगता है कि “वह एक काबुली मेवा वाला है और मैं एक संभ्रांतवर्गीय बंगाली-उस समय मैंने समझा कि जो वह है, वही मैं हूँ। वह भी पिता है, मैं भी पिता हूँ।” मानवीय भावनाओं की यही समानता तथा एकरूपता किसी कृति को सार्वदेशिक और सार्वकालिक बनाती है।

आत्मकथात्मक शैली में लिखी गई यह कहानी टैगोर की सूक्ष्म और पैनी दृष्टि की परिचायक है। उन्होंने अपने समय और समाज को करीब से देखा, उसके भीतर की खामियों के साथ-साथ उसकी शक्तियों को पहचान उसका पूरी यथार्थता के साथ विमर्श किया। समाज में व्याप्त वर्ग-भेद, जाति-भेद, निर्धनता उनकी दृष्टि से ओझल नहीं हुए। मिनी की माँ का काबुली को संदेह के नजर से देखना, मिनी के मन में काबुली के प्रति आरंभिक भय, वधूवेष्टिनी मिनी को काबुली से भेंट के लिए बुलाने पर अंतःपुर की आपत्तियाँ आदि ऐसे सूत्र संकेत कहानी में अंतर्निहित हैं जो निर्धन वर्ग के प्रति संभ्रांत वर्ग के दृष्टिकोण को दर्शाता है। लेखक मिनी की माँ के शकालु स्वभाव के विषय में बताते हुए कहता है—“रास्ते में कोई आवाज़ सुनते ही उन्हें लगता, धरती के सारे शराबी उन्हीं के घर की ओर लक्ष्य बनाकर दौड़े चले आ रहे हैं। यह पृथ्वी सर्वत्र चोर, डकैत, शराबी, साँप, बाघ, मलेरिया, शूककीट, तिलचट्टों और गोरों से परिपूर्ण है।”

आज भी इस दृष्टिकोण में बहुत ज्यादा बदलाव नहीं आया है। हम आए दिन गरीबों, वंचितों और असहायों के पीड़न, शोषण और विस्थापन की बातें सुनते पढ़ते हैं। समाज में अफवाहें कितनी जल्दी विष्वसनीय बनकर लोगों के हृदय में घर कर जाती हैं इसका अनुभव विज्ञान परिस्थितियों में हम सब कर सकते हैं। स्वतंत्रता के बाद हुए हिंदू-मुस्लिम उन्माद ने मुसलमानों के प्रति संघाय का वातावरण बना दिया था। हिन्दी के एक प्रसिद्ध लेखक मोहन राकेश की कहानी ‘मलबे का मालिक’ में जब अब्दुलगनी वर्जों बाद लाहौर से अमृतसर अपने घर को देखने जाता है और पुराने दिनों की ही तरह गली में खेलते बच्चों को कुछ देने के लिए जेब में हाथ डालता है तो गली में बैठी औरत इस भय से कि उसके बच्चे को उठा ले जाएगा, उसे घसीटती हुई घर के अंदर ले जाती है तब वह सकपका जाता है। आज भी इस नजरिये में कुछ खास फर्क नहीं आया है।

टैगोर मानव मन के सफल चितरे हैं। उनकी बालमन पर सूक्ष्म पकड़ थी। यह मिनी की चपल क्रियाओं के अंकन से स्पष्ट है। वे सरल-सहज चित्रात्मक भाषा में अत्यंत रोचकता व मार्मिकता के साथ संवेदनाओं को गूँथते हैं। प्रकृति के प्रति विभेद लगाव भी कहानी में दिखाई देता है।

वैश्विक संवेदना और शिल्प की सादगी तथा रोचकता के गुणों को अपने में समेटे यह कहानी विष्व साहित्य की अनुपम निधि है जो काल और स्थान की सीमाओं का अतिक्रमण कर के हर युग, हर काल में अपनी प्रासंगिकता बनाए हुए है।

(ii) शाहजहाँ (कविता)

(रवींद्रनाथ टैगोर)

सार

1916 में रचित 'बलाका' काव्य संग्रह से संकलित 'शाहजहाँ' कविता कवि रवीन्द्रनाथ टैगोर की ताजमहल के निर्माण के कारणों, महत्वाकांक्षाओं और प्रेरणा जानने की जिज्ञासा से आरंभ होती है और कवि शाहजहाँ से प्रश्न पूछता-सा कहता है कि 'हे भारतेष्टवर शाहजहाँ क्या तुम जानते थे कि जीवन, यौवन, प्रतिज्ञा और धन सब एक दिन नष्ट हो जाएगा, लेकिन तुम्हारे प्रेम की पीड़ा सदैव विद्यमान रहे इसीलिए तुमने ताजमहल का निर्माण करवाया? जब तुम्हारा फैला हुआ विद्याल साम्राज्य एक दिन समाप्त हो जाएगा, विस्मृति के गर्त में खो जाएगा तब तुम्हारी करुणा चिरस्मरणीय बनी रहे, क्या तुम्हारी इस निर्माण में यही आशा छिपी थी? मुक्ता, माणिक्य और हीरे इंद्रधनुज की भांति आभासीय भौतिक द्रव्य हैं यह तुम जानते थे इसीलिए तुमने कालातीत होने के लिए प्रेम के प्रतीक ताजमहल को बनवाया?'

उसके बाद कवि मानव जीवन के सत्य और स्वभाव को उद्घाटित करते हुए कहता है कि मनुज्य प्रखर जीवन प्रवाह में निरंतर भौतिक संपदा को संचित करने में लगा रहता है किंतु इस संचयन में वह कुछ पाता है तो दूसरे मुकाम पर उससे कुछ छूटता-सा चला जाता है। जीवन और मरण जीवन के शाश्वत सत्य हैं। इनसे बचा नहीं जा सकता फिर भी मनुज्य शाश्वतता की कामना करता है। कवि शाहजहाँ से पूछता है कि क्या काल का मन हरने के लिए तुमने उसे ताजमहल के रूप में सौंदर्य का भुलावा देने की कोशिश की है? रूपहीन मृत्यु को अपूर्व सौंदर्य प्रदान किया है? प्रेयसी की विरह-वेदना को तुमने चिर-मूकता के कठिन बंधन में बांध दिया? तुम्हारे प्रेम की अनंत श्रुतियाँ, उसकी करुणा और कोमलता ने इस पाजाणा को भी जीवंत बना दिया। तुम्हारा यह ताजमहल तुम्हारा मेघदूत है, जो युग-युग से काल-प्रहरी की आँख बचाकर तुम्हारा संदेष्टा तुम्हारी प्रेयसी तक पहुँचाता है। आज जब, तुम्हारा सारा वैभव, सारा साम्राज्य, सारी शक्ति और यश समाप्त हो गया है तब भी तुम्हारा यह दूत अपनी उज्ज्वलता के साथ, अविरत तुम्हारे चिरंतन विरह की वाणी लेकर कहता जा रहा है—“प्रेये, मैं भूला नहीं हूँ, भूला नहीं हूँ।” शाहजहाँ तुमने इसी उद्देश्य से वास्तुकला के इस अद्भुत शिल्प का निर्माण करवाया था। तुम्हारे विरह की वे स्मृतियाँ अब लुप्त हो गई हैं इस अचल ताजमहल ने उन स्मृतियों के आवरण में मृत्यु को ढक रखा है लेकिन जीवन को कोई बाँधा नहीं सकता। जीवन अपनी निरंतरता में स्वयं को पुनर्नव करता चलता है।

प्रतिपाद्य

इस कविता में ताजमहल को देखने का कवि का अपना एक नया दृष्टिकोण है। उसके लिए ताजमहल एक ओर प्रेम और सौंदर्य के उत्सव का सृष्टजन है तो दूसरी ओर इस सत्य की भी गहरी अनुभूति है कि मष्ट्यु या विनाश के विरुद्ध स्वयं को शाश्वत रखने का संघर्ष चाहे स्थापत्य के माध्यम से हो या साहित्य के माध्यम से—अंततः पराजय की ओर होता है। अगर कोई वस्तु शोच रह जाती है तो वह है आंतरिक भावनात्मक प्रत्युत्तर, जो काल और स्थान के परे अनुभूत होते रहते हैं।

टैगोर ने यह कविता प्रथम युद्ध के दौरान उद्विग्नता से भरे समय में लिखी थी। उनके विचार से युद्ध मानवता के सीने पर जख्म की तरह है जिसकी पीड़ा सब मानवतावादियों को भुगतनी होगी, चाहे वह दुनिया में कहीं भी हो रहा हो। युद्ध अपनी शक्ति का प्रदर्शन और भौतिक संपत्तियों के अर्जन तथा अधिकार के लिये किये

जाते हैं किंतु ये सब कुछ नज़्दप्रायः हैं। “काल के प्रवाह में जीवन, यौवन, प्रतिज्ञा और धन सब बह जाता है।” छोड़ जो रह जाता है वह है हमारी आंतरिकता और भावनात्मकता जो पुनः नये-नये रूपों में जीवंत हो उठती है।

प्रासंगिकता

आज के संदर्भ में भी यह कविता प्रासंगिक लगती है। आज जब देखा अपने शक्ति प्रदर्शन के लिए परमाणु अस्त्र-घास्रों की होड़ में लगे हैं, शक्ति संपन्न देखा विकासशील देखाओं में अपनी पैठ बना रहे हैं, संसाधनों की प्राप्ति के लिए दूसरे देखाओं पर आक्रमण किए जा रहे हैं, आम आदमी भौतिक सुखों की होड़ में लगा हुआ है तब यह कविता संदेखा देती है कि ये शक्ति, सत्ता, अधिकार, वैभव, भौतिक संपदाएँ सब काल के गाल में समा जाएँगे। आज जब सुविधाओं के लिये लालायित और उसकी अंधी दौड़ में ग्रामिल समाज वंचितों और गरीबों के प्रति संवेदनशून्य हो रहा है तब ये पंक्तियाँ उसे सचेत करती हैं—

“हाय रे मानव-हृदय।

तुझे किसी की ओर

बार-बार पलटकर देखने का समय नहीं मिलता,

नहीं मिलता, नहीं मिलता।

जीवन के प्रखर प्रवाह में तू सदा ही

जगत के घाट-घाट पर बहता रहता है।

एक हाट से भार लादता है,

दूसरी हाट में उसे खाली कर देता है।”

श्रिल्य-सौंदर्य

‘ग्राहजहाँ’ कविता ताजमहल के सर्वाधिक गीतात्मक वर्णन के लिए भी जानी जाती है। विचार को मूर्त करने के लिए प्रकृति के बिंबों का सहारा लिया है जो कवि की पैनी निरीक्षण शक्ति और गहरे प्रेम का परिचायक है तथा साथ ही उच्च कल्पना का गहरा रंग भी उसमें शामिल है।

दक्षिण पवन के मंत्र-गुंजन (से युक्त)

तेरे कुंज-वन में

ज्यों ही वसंत की माधवी-मंजरी

वाटिका के चंचल अंचल को पूर्ण करती है,

त्यो ही विदा की गोधुलि आकर

उसे छिन्न-भिन्न कर मिट्टी में मिला देती है

समय जो नहीं है।

इसलिए, हेमंत की अश्रुपूर्ण डाली को सजाने के लिए

ओस-भरी रात में
फिर से निकुंज में नई कुंद की पंक्तियाँ
प्रस्फटिक होती हैं।

जड़ पदार्थों और अमूर्त भावों में मानवीय गुणों का आरोपण टैगोर के काव्य की अपनी निजी प्रवृत्ति है जो उन्हें उनके समकालीनों में विशिष्ट बनाती है। इस प्रवृत्ति को उनके परवर्ती रचनाकारों ने भी अपनाया और हिंदी साहित्य के छायावादी कवियों पर टैगोर का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। प्रकृति के प्रति अनुराग, कल्पना की उड़ान, भाजा का लालित्य, गीतात्मकता और अमूर्त को मूर्त करने के लिए मानवीकरण की प्रवृत्ति छायावाद की प्रमुख विशेषताएँ हैं। इस प्रकार टैगोर ने अपने विचार तथा अभिव्यक्ति से केवल बांग्ला के ही नहीं हिंदी और अन्य भारतीय भाजाओं के रचनाकारों को भी प्रभावित किया। उनकी रचनाओं का अनुवाद इस बात का प्रमाण है और उनकी यह कविता इसका अच्छा उदाहरण है।

8. शतरंज के खिलाड़ी (प्रेमचंद)

डॉ० मनोजकुमार सिंह
प्रवक्ता, हिन्दी-विभाग,
देवबन्धु कॉलेज,
दिल्ली विश्वविद्यालय

साहित्यिक परिचय

हिंदी साहित्य के आधुनिक युग में खड़ी बोली हिंदी विचारों की अभिव्यक्ति के लिए गढ़ी गई थी। 19वीं शताब्दी की खड़ी बोली अनेक विधा के साथ प्रयोग करती हुई जब 20वीं शताब्दी में प्रवेश करती है, तो वहाँ कहानी-विधा में मुंशी प्रेमचंद जैसा कथाकार मिलता है। यह कथाकार 19वीं शताब्दी की कहानियों की विशेषताओं को संभाले हुए, कहानी-विधा को जिस ऊँचाई पर ले जाता है, वह दुनिया में किसी भी भाजा के लिए दुर्लभ उपलब्धि है। इस उपलब्धि के पीछे प्रेमचंद की उर्दू-फ़ारसी की पृष्ठभूमि का होना है। उन दिनों हिंदी कहानी 'शिल्प' और 'विज्ञय' जिस भाजा से चुन रही थी, वह भाजा उर्दू थी। प्रेमचंद उर्दू से हिंदी में आये थे। वह भली भाँति जानते थे कि पाठकों की रुचि और साहित्य की सामाजिक भूमिका क्या होनी चाहिए।

“जिस साहित्य से हमारी सुरुचि न जागे, आध्यात्मिक और मानसिक तृप्ति न मिले, हममें शक्ति और गति न पैदा हो, हमारा सौंदर्य-प्रेम न जाग्रत हो - जो हममें सच्चा संकल्प और कठिनाइयों पर विजय पाने की सच्ची दृढ़ता न उत्पन्न करे, वह हमारे लिए बेकार है, वह साहित्य कहाने का अधिकारी नहीं।” (साहित्य का उद्देश्य-लेखक-प्रेमचंद, पृष्ठ-13)

प्रेमचंद का संपूर्ण लेखन इस प्रतिज्ञा से बंधा हुआ है। इस कथाकार ने इतिहास, परंपरा, पौराणिक आख्यान सभी स्रोतों के भीतर से वर्तमान में जाने लायक मूल्यों को कथा में पिरोकर समाज के सम्मुख प्रस्तुत किया है। यही कारण है कि इस रचनाकार पर हिंदी पाठकों की सभी पीढ़ियाँ समान भाव से मुग्ध हैं।

इस महान कथाशिल्पी का जन्म उत्तरप्रदेश प्रांत के बनारस शहर के निकट 'लमही' नामक गाँव में सन् 1880

ई० में हुआ था। इनकी शुरुआती शिक्षा उर्दू-फ़ारसी के माध्यम से हुई और आगे चलकर बड़ी मुष्किल से इन्होंने हाई-स्कूल तक की शिक्षा प्राप्त की। बाद के दिनों में नौकरी करते हुए इन्होंने बी०ए० तक की पढ़ाई पूरी की। रचना के प्रारंभिक दिनों में ये 'नवाबराय' के नाम से उर्दू की पत्र-पत्रिकाओं में लिखते थे।

सन् 1910 में 'सोजेवतन' नाम से उर्दू कहानियों का संग्रह प्रकाशित हुआ। 'दुनिया का सबसे अनमोल रतन' नामक कहानी के कारण ब्रिटिश सरकार ने इस संग्रह को जब्त करा लिया। इस घटना के बाद वे प्रेमचंद नाम से रचनाएँ भेजने लगे। यह वही दौर है जब प्रेमचंद हिंदी में भी लिखने लगे थे। इनके प्रारंभिक कथा-संग्रहों में 'सप्त सरोज', 'नवनिधि', 'प्रेम-पूर्णमा', 'प्रेम-पचीसी' आदि हैं जो बाद में 'मानसरोवर' नाम से आठ खण्डों में प्रकाशित हुईं। कुछ कहानियाँ विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में बची रह गई थीं उनको 'गुप्त-धन' नाम से दो खण्डों में प्रकाशित किया गया। इनके प्रमुख उपन्यास हैं—'सेवा सदन', 'वरदान', 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि', 'कायाकल्प', 'निर्मला', 'प्रतिज्ञा', 'गबन', 'कर्मभूमि', 'गोदान' तथा 'मंगलसूत्र'। इनमें 'मंगलसूत्र' अधूरा उपन्यास है। इसके अतिरिक्त इनके कुछ नाटक भी हैं जैसे - 'कर्बला', 'प्रेम की वेदी' तथा 'संग्राम'। इनके वैचारिक लेखों का संकलन 'साहित्य का उद्देश्य' तथा 'कुछ विचार और विविध प्रसंग' में संकलित हैं।

शतरंज के खिलाड़ी (कथा-सार)

इस कहानी में प्रेमचंद ने वाजिदअली ग़ाह के वक्त के लखनऊ को चित्रित किया है। भोग-विलास में डूबा हुआ यह शहर राजनीतिक-सामाजिक चेतना से शून्य है। पूरा समाज इस भोग-लिप्सा में शामिल है। इस कहानी के प्रमुख पात्र हैं—मिरज़ा सज्जादअली और मीर रौशनअली। दोनों वाजिदअली ग़ाह के जागीरदार हैं। जीवन की बुनियादी ज़रूरतों के लिए उन्हें कोई फ़िक्र नहीं है। दोनों गहरे मित्र हैं, और शतरंज खेलना उनका मुख्य काराबेरा है। दोनों की बेगमें हैं, नौकर-चाकर हैं; समय से नाष्टा-खाना, पान-तम्बाकू आदि उपलब्ध होता रहता है।

एक दिन की घटना है—मिरज़ा सज्जादअली की बीवी बीमार हो जाती है। वह बार-बार नौकर को भेजती है कि मिरज़ा हकीम के यहाँ से कोई दवा लायें, किंतु मिरज़ा तो शतरंज में डूबे हुए हैं। हर घड़ी उन्हें लगता है कि बस अगली बाजी उनकी है। अंत में तंग आकर मिरज़ा की बेगम उन दोनों को खरी-खोटी सुनाती हैं। खेल का सारा ताम-झाम ड्योढी के बाहर फेंक देती है। नतीजा यह निकलता है कि शतरंज की बाजी अब मिरज़ा के यहाँ से उठकर मीर के दरवाजे जा बैठती है। मीर साहब की बीवी शुरु में तो कुछ नहीं कहतीं लेकिन जब बात हद से आगे बढ़ने लगती है तब इन दोनों खिलाड़ियों को मात देने के लिए वह एक नायाब तरकीब निकालती है। जैसा कि हमेशा होता था, दोनों मित्र शतरंज की बाजियों में खोये हुए थे कि उसी वक्त बादशाही फौज का एक अफ़सर मीर साहब का नाम पूछता हुआ आ खड़ा होता है। उसे देखते ही मीर साहब के होष्टा उड़ गये। वह ग़ाही अफ़सर मीर साहब के नौकरों पर खूब रोब ग़ालिब करता है और मीर के न होने की बात सुनकर अगले दिन आने की बात करता है। इस प्रकार यह तमाष्टा खत्म होता है। दोनों मित्र चिंतित हैं, इसका क्या समाधान निकाला जाय।

मीर और मिरज़ा भी छोटे खिलाड़ी नहीं थे। उन्होंने भी गज़ब की तोड़ निकाली। दोनों मित्रों ने एक बार पुनः स्थान-परिवर्तन करके ही अपना अगला पड़ाव माना। न होंगे, न मुलाकात होगी। इधर बेगम आज़ाद हुईं उधर मीर बेपरवाह। नया स्थान था शहर से दूर, गोमती के किनारे एक विरान मस्जिद। वहाँ लोगों का आना-जाना बिल्कुल नहीं था। साथ में ज़रूरी सामान, मसलन हुक्का, चिलम दरी आदि ले लिये। कुछ दिनों ऐसा ही चलता रहा। एक दिन अचानक मीर साहब ने देखा कि अंग्रेज़ी फ़ौज गोमती के किनारे-किनारे चली आ रही है। उन्होंने मिरज़ा से हड़बड़ी में यह बात बताई। मिरज़ा ने कहा—तुम अपनी चाल बचाओ। अंग्रेज आ रहे हैं आने दो। मीर ने कहा साथ में तोपखाना भी है। मिरज़ा साहब ने कहा—यह चकमा किसी और को देना। इस प्रकार पुनः दोनों खेल में गुम हो गए।

कुछ समय में नवाब वाजिद अली ग़ाह कैद कर लिए गए। उसी रास्ते अंग्रेज़ी फ़ौज विजयी-भाव से लौट रही थी। पूरा शहर बेष्टार्मी के साथ तमाष्टा देख रहा था। अवध का इतना बड़ा नवाब चुपचाप सर झुकाए चला जा

रहा था। सज्जाद और रौष्ठान दोनों इस नवाब के जागीरदार थे। नवाब की रक्षा में इन्हें अपनी जान की बाजी लगा देनी चाहिए। परंतु दुर्भाग्य कि जान की बाजी तो इन्होंने लगाई ज़रूर पर छ़ातरंज की बाजी पर।

थोड़ी ही देर बाद खेल की बाजी में ये दोनों मित्र उलझ पड़े। बात खानदान और रईसी तक आ पहुँची। गाली-गलौज होने लगी। दोनों कटार और तलवार रखते थे। दोनों ने तलवारें निकालीं और एक दूसरे को दे मारीं। दोनों का अंत हो गया। काष्ठा! यह मौत नवाब वाजिदअली के पक्ष में और ब्रिटिष्ठा फौज के प्रतिपक्ष में हुई होती! लेकिन ऐसा हुआ नहीं।

कहानी की समीक्षा

यह कहानी समय और स्थान की सूचना के साथ आरंभ होती है। समय है, (1856 ई०) वाजिदअली शाह का स्थान है, अवध की राजधानी लखनऊ, जिसे लोग नवाबों का शहर भी कहते हैं। स्थान और समय की सूचना के बाद प्रेमचंद वहाँ की सामाजिक विषोऽताओं का वर्णन करते हैं जो इस प्रकार है—लखनऊ विलासिता के रंग में डूबा हुआ था। छोटे-बड़े, अमीर-गरीब सभी विलासिता में डूबे हुए थे। ख़ जीवन के प्रत्येक विभाग में आमोद-प्रमोद का प्राधान्य था। शासन-विभाग में साहित्य-क्षेत्र में, सामाजिक अवस्था में, कला-कौशल में, उद्योग-धंधों में आचार-व्यवहार में सर्वत्र विलासिता व्याप्त हो रही थी। राजकर्मचारी विजय-वासना में, कविगण प्रेम और विरह में, कारीगर कलाबत्तू और चिकन बनाने में, व्यवसायी सुरमें, इत्र और उबटन का रोजगार करने में लिप्त थे। सभी की आँखों में विलासिता छायी हुई थी। संसार में क्या हो रहा है, इसकी किसी को ख़बर न थी। ख़ यहाँ तक कि फकीरों को पैसे मिलते तो वे रोटियाँ न लेकर अफ़ीम खाते या मादक पीते।”

यथार्थवादी कहानी अपने स्थान, समय और चरित्र को सामने रखकर अपने उद्देश्य को गढ़ती है। प्रेमचंद ने इस कहानी के प्रारंभिक भाग में ही यह स्पष्ट कर दिया है कि इस कहानी से उनकी मंशा क्या है। इसी परिदृश्य के भीतर मिरज़ा सज्जादअली और मीर रौष्ठानअली इस कहानी में मुख्य पात्र की हैसियत से प्रवेष्टा करते हैं। दोनों चरित्र अपने शहर के मुख्य चरित्र के उचित प्रतिनिधि हैं। वे दोनों विलासिता, कामचोरी, कायरता के साक्षात् उदाहरण हैं। उनके जीवन का उद्देश्य सिर्फ़ और सिर्फ़ छ़ातरंज खेलना है। इस उद्देश्य के प्रति कोई भटकव उन्हें स्वीकार्य नहीं। इन पात्रों के दौर में ऐसी एक सामाजिक मान्यता थी कि छ़ातरंज, ताष्ठा, गंजीका खेलने से बुद्धि तीव्र होती है; विचार- शक्ति का विकास होता है, पेचीदा मसलों को सुलझाने की आदत पड़ती है। ये दलीले जोरों के साथ पेष्ठा की जाती थीं।” इसी कथन के बाद ‘इतिहास’ में ‘वर्तमान’ का हस्तक्षेप होता है—‘इस संप्रदाय के लोगों से दुनिया अब भी खाली नहीं है।” यह एक वाक्य पूरे विवरण के कटु यथार्थ को उभारकर रख देता है। यह एक वाक्य कहानी को समकालीन बना लेता है। इस तरह का समाज जिस परिणति तक पहुँचता है या पहुँचना चाहिए छ़ातरंज के खिलाड़ियों का समाज भी उसी पतन को प्राप्त होता है। इस कहानी के दोनों मुख्य पात्र जागीरदार हैं। जीवन की बुनियादी ज़रूरतों के लिए उन्हें परिश्रम करने की कोई ज़रूरत नहीं है। ऐसे लोग जो दूसरे के शोऽण पर टिके हों वह शोऽितों को तो दुःख देते ही हैं अपना भी नाष्ठा कर लेते हैं। अकर्मण्यता से बड़ा शत्रु व्यक्ति का और क्या है? जो समाज के भीतर अपने श्रम से दूसरों का दुःख दूर कर सकता है वह खुद दूसरों पर बोझ बन बैठे इससे बुरी बात और क्या हो सकती है? मिरज़ा और मीर की बातें वाक्य चातुर्य के अद्भूत नमूने हैं। मसलन जब मिरज़ा की बेगम उन्हें हकीम के पास जाने की ख़बर देती हैं और मीर औरतों के नाजुक मिज़ाज होने की बात कहकर अपने मित्र को उनकी बात सुनने का आग्रह करते हैं उस वक्त दोनों का संवाद देखने लायक है

मीर : अरे तो जाकर सुन ही आइए न। औरतें नाजुक-मिज़ाज होती हैं।

मिरज़ा : जी हाँ, चला क्या जाऊँ! दो किस्तों में आपकी मात होती है।

मीर : जनाब, इस भरोसे न रहिएगा। वह चाल सोची है कि आपके मुहरे धरे रहें और मात हो जाय। पर जाइए, सुन आइए। क्यों खामख्वाह उनका दिल दुखाइएगा?

मिरज़ा : इस बात पर मात ही करके जाऊँगा।

मीर : मैं खेलूँगा ही नहीं।

इसी तरह का संवाद 'कफ़न' कहानी के दोनों पात्र घीसू और माधव भी करते हैं, जहाँ बड़े-बड़े दार्शनिक और नैतिक उपदेशों के पीछे भूने हुए आलू का स्वार्थ-सत्य छिपा हुआ है। प्रेमचंद ऐसे पात्रों को अपने कहानी-उपन्यासों में अक्सर ले आते हैं जो बातें तो बड़ी ऊँची करते हैं लेकिन व्यवहार में नितांत निकम्मे और फिसड्डी होते हैं। गोदान में मालती-मेहता भी ऐसे ही पात्रों के उदाहरण हैं। मेहनत मजूरी करके भी जो लोग अपना जीवन नहीं जी सकते उनके मुकाबले निकम्मे-निठल्ले मजें करें; इसे प्रेमचंद कतई बर्दास्त नहीं कर सकते थे।

हमें याद रखना चाहिए यह कहानी उस दौर में लिखी गई थी जब भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन आम लोगों से जुड़ने की कोशिश कर रहा था। गाँधी जी उस दौर में जननायक थे। जो सादगी, सदाचार और संयम के प्रतीक पुरुष थे। उस वक्त के समाज में जमींदार मौजूद थे और दिनभर वही सब करते थे जो 1856 ई० में मिरज़ा और मीर जैसे जागीरदार कर रहे थे।

'छातरंज के खिलाड़ी' कहानी के रचना-समय पर बात करते हुए 'कलम के सिपाही' के लेखक अमृतराय की टिप्पणी है—“नवाबी ज़माने की पस्ती के दौर की यह कहानी जो लिखी जा रही है सितंबर-अक्टूबर 1924 में, जबकि भारतीय राजनीति भी ऐसी ही पस्ती के एक दौर से गुज़र रही है। ख़ूब राजनीति छातरंज की बिसात होकर रह गई है जिस पर सब लोग, सारे दल और गिरोह अपनी-अपनी चालें चलने में लगे हुए हैं हिंदू मुसलमान को नीचा दिखाना चाहता है, मुसलमान हिंदू को ख़ूब और गोरी सल्तनत का शिकंजा किस तरह कसता चला जा रहा है, इसकी किसी को फ़िक्र ही नहीं!”

समाज जब विघटित होता है, संगठन में लोगों की आस्था शिथिल होती है तो उसका परिणाम समाज में दिखाई पड़ता ही है। ऐसे समाज में पारिवारिक संबंधों में शिथिलता का आना भी स्वाभाविक है। प्रेमचंद मीर साहब की बेगम पर जो टिप्पणी करते हैं वह व्यंजनाओं से भरा हुआ वाक्य है—“मीर साहब की बेगम किसी अज्ञात कारण से मीर साहब का घर से दूर रहना ही उपयुक्त समझती थीं।” इस अज्ञात कारण का खुलासा कहानी में बड़े नाटकीय ढंग से होता है। जब मिरज़ा मीर के दरवाजे पर आ जमें और मीर साहब की बेगम की स्वाधीनता में बाधा पड़ने लगी तो उन्होंने इसका समाधान सोचा। दोनों मित्र छातरंज में खोये हुए थे कि अचानक घोड़े पर सवार एक बादशाही फौज का अफसर मीर साहब का नाम पूछता हुआ आ पहुँचा। मीर साहब के होश उड़ गये। उन्होंने नौकर से कहला भेजा कि कह दो मीर साहब नहीं हैं। किसी प्रकार वह फौजी अफसर दफ़ा हुआ इस वाक्य के साथ कि वह कल फिर आएगा। इस स्थिति में पुनः मिरज़ा और मीर का वाक्य चातुर्य देखने लायक है—

मीर : कमबख्त कल फिर आने को कह गया है।

मिरज़ा : आफ़त है और क्या। कही मोरचे पर जाना पड़ा तो बेमौत मरे।

मीर : बस, यही तक तदबीर (उपाय) है कि घर पर मिलें ही नहीं। कल से गोमती पर कहीं वीराने में नख़्खा जमे। वहाँ किसे ख़बर होगी। हजरत आकर आप लौट जायेंगे।

मिरज़ा : वल्लाह, आपको ख़ूब सूझी!”

इस वाक्य पर प्रेमचंद की टिप्पणी है—“इधर मीर साहब की बेगम उस सवार से कह रही थीं, तुमने ख़ूब धता बताया। उसने जवाब दिया—ऐसे गावदियों (मूर्खों) को तो चुटकियों पर नचाता हूँ। इनकी सारी अक्ल और हिम्मत तो छातरंज ने चट ली है। अब भूलकर भी घर पर न रहेंगे।” इस घटना के साथ कहानी अपने तीसरे और अंतिम पड़ाव पर पहुँचती है। मीर साहब और मिरज़ा सज्जादअली मस्जिद के खंडहर में छातरंज खेल रहे हैं। मिरज़ा की बाजी कुछ कमजोर है। मीर साहब उन्हें शिकष्टत पर शिकष्टत दे रहे हैं। इतने में ईस्ट इंडिया कंपनी के सिपाही आते हुए दिखाई देते हैं। मीर साहब मिरज़ा को इसकी ख़बर देते हैं तो मिरज़ा की टिप्पणी है—आने दीजिए आप अपनी शिकष्टत

बचाइये। थोड़ी ही देर में लखनऊ के नवाब वाजिदअली ग्राह गिरफ्तार कर उसी रास्ते किसी अज्ञात स्थान की ओर ले जाये जा रहे हैं। जिसकी जागीर की रोटियाँ तोड़ रहे हैं उसकी विपत्ति से इन दोनों को कोई लेना देना नहीं है। जब परिवार के प्रति इनमें कोई संवेदनशीलता, सजगता और जिम्मेदारी नहीं है तो वे राष्ट्र के प्रति क्या वफा करेंगे?

ऐसे लोग जो समाज और देश की प्रतिज्ञा के लिए कुछ नहीं करते वे क्या करते हैं, उनका अंजाम क्या होता है, वह सब इस कहानी के भीतर छिपा हुआ है। प्रेमचंद इस कहानी को जहाँ लाकर पूरा करते हैं वह महान कथाकार ही कर सकता है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि जब-जब कहानी रफ्तार पकड़ती है कथाकार पीछे हो लेता है और कथा के पात्र मोर्चा संभाल लेते हैं। संवाद अदायगी का एक अद्भूत उदाहरण पुनः कहानी में आ खड़ा होता है जो कमाल का है -

मिरज़ा : किसी ने खानदान में छातरंज खेली होती, तब तो इसके कायदे जानते। वे तो हमेष्ठा घास छीला करते, आप छातरंज क्या खेलिएगा। रियासत और ही चीज़ है। जागीर मिल जाने से कोई रईस नहीं हो जाता।

मीर : क्या? घास आपके अब्बाजान छीलते होंगे। यहाँ तो पीढ़ियों से छातरंज खेलते आ रहे हैं।

मिरज़ा : अजी, जाइए भी, गाजीउद्दीन हैदर के यहाँ बावरची का काम करते-करते उम्र गुज़र गयी आज रईस बनने चाले हैं।

तकरार बढ़ते-बढ़ते बात हौसला तक जा पहुँची -

मिरज़ा : आप मेरा हौसला देखना चाहते हैं, तो फिर आइए। आज दो-दो हाथ हो जाय, इधर या उधर।-

मीर : तो तुमसे यहाँ दबने वाला कौन है?"

संवाद इस तल्खी तक पहुँचने के बाद दोनों अंजाम तक पहुँच ही जाते हैं - दोनों दोस्तों ने कमर से तलवारें निकाल लीं। नवाबी जमाना था; सभी तलवार, पेष्काब्ज, कटार आदि बांधते थे। दोनों विलासी थे पर कायर न थे। उनमें राजनीतिक भावों का अधःपतन हो गया था - बादशाह के लिए, बादशाहत के लिए क्यों मरें? पर व्यक्तिगत वीरता का अभाव न था। दोनों जख्म खाकर गिरे और दोनों ने वही तड़प-तड़प कर जानें दे दीं। अपने बादशाह के लिए जिनकी आँखों में एक बूँद आँसू न निकला, उन्हीं दोनों प्राणियों ने छातरंज के वजीर की रक्षा में प्राण दे दिये।"

कहानी अपने अच्छे पात्रों से जिस उद्देश्य को साधती है, अपने बुरे पात्रों से कही अधिक प्रभाव छोड़ सकती है। इस भाव की अनेक कहानी प्रेमचंद के पास हैं। डॉ० रामविलास शर्मा अपने आलोचनात्मक लेख 'प्रेमचंद की कला' में इस बात को स्पष्ट करते हैं कि-प्रेमचंद का ध्येय समाज सुधार था, कला की बातें गौण होकर आती हैं। उनका लक्ष्य उस ध्येय की पुष्टि करना ही है। पाठक उन्हें कथा के आनंद के लिए पढ़ सकते हैं; सुधार का लक्ष्य छिपा हुआ है।" इसी प्रकार प्रेमचंद की कथा टेकनिक को लेकर डॉ० शर्मा का कहना है- "अधिकांश कहानियों में प्रेमचंद एक ही प्रधान घटना रखते हैं, कथानक की गति उसी की ओर होती है और पाठक का ध्यान एक ही धारा में बहता है। उनकी सबसे सुंदर कहानियों में कथा का समय थोड़ा ही होता है। इस दृष्टि से 'छातरंज के खिलाड़ी' निर्माण-कला का सुंदर उदाहरण है।" (प्रेमचंद प्रतिभा-संपा० इंद्रनाथ मदान, पृष्ठ-171)

रामअवतार त्यागी का लेख 'प्रेमचंद की ऐतिहासिक कहानियाँ' जो 'प्रेमचंद और गोर्की' नामक किताब में संकलित है, इस कहानी पर थोड़े में ही परंतु एक माकूल टिप्पणी है- 'छातरंज के खिलाड़ी' प्रेमचंद की सर्वश्रेष्ठ ऐतिहासिक कहानी है जो सामंती समाज के चरम अवसान और घोर नैतिक पतन को प्रस्तुत करती है। वाजिदअली ग्राह के युग का प्रतिनिधित्व इस कहानी में मौजूद है। देश पर विदेशी हुकूमत के पाँव बढ़ते चले आते हैं और निरीह जनता तथा विलासी सम्राट के बीच की कड़ी जागीरदार और नवाब लोग छातरंज की मोहरे लड़ते हैं। छातरंज के खिलाड़ी अपनी कूलीनता से अभिभूत हैं किंतु उनके घरों में अनाचार का साम्राज्य है। उनके अपौरुज और आलस्य ने सारे वातावरण को अनुत्तरदायित्व और अनैतिकता से आच्छादित कर दिया था। इस प्रकार यह कहानी छातरंज के धनी विलासप्रिय नवाबों पर एक करारा व्यंग्य है।' (प्रेमचंद और गोर्की-संपा० शाचीरानी गुर्त, एम०ए०)

प्रेमचंदयुगीन भारतीय कथा-साहित्य का परिदृश्य

प्रेमचंद हिंदी कथा-साहित्य से बाहर भी उतना ही समादृष्ट थे। साहित्य को समाज और विभोज रूप से किसान-मजदूर केंद्रित बनाने में प्रेमचंद का ऐतिहासिक महत्व है। इस कहानी के विष्टलेक्षण के दौरान यह बात बताई गई है कि कैसे प्रेमचंद ने हिंदी-उर्दू कथा-साहित्य को सस्ते मनोरंजन की दुनिया से निकालकर सामाजिक, राजनीतिक परिस्थितियों से एकाकार कर दिया। कहानी कहने की शैली को रोचक बनाये रखते हुए उन्होंने कथा साहित्य की अंतर्वस्तु को पूरी तरह बदल दिया। ऊपरी तौर पर यह बात करिष्ठमाई लगती है लेकिन खालिस साहित्य की दुनिया से बाहर निकलकर जब हम देखते हैं तो दुनिया का परिदृश्य बदला हुआ था। **दुनिया के अधिकांश हिस्से में वहाँ का समाज सामंतवाद और उपनिवेशवाद से एक साथ संघर्ष कर रहा था। रूस में बोल्शेविक क्रांति हो चुकी थी और दुनिया के साहित्य पर इस घटना का गहरा प्रभाव था।** कहीं-न-कहीं भारतीय भाजाओं में सामाजिक परिवर्तन को महत्व मिलने लगा था। राष्ट्रीय आंदोलन में नवजागरण की सामाजिक शक्तियाँ इस कार्य को बलपूर्वक लागू कर रही थीं। खासतौर पर बंगाल में 'ब्रह्म समाज' और 'थियोसाफीकल सोसाइटी' इस काम में ईमानदारी से लगे हुए थे। हिंदी भाजा क्षेत्र में आर्य समाज का गहरा प्रभाव था जो मूल रूप से एक सामाजिक विमर्श ही था।

ये तमाम शक्तियाँ राष्ट्रीयता को संगठित करने में अहम् भूमिका निभा रही थीं। इस बदलने हुए परिदृश्य से साहित्य चाहकर भी बहुत दिनों तक अपने को अलग नहीं रख सकता था। प्रेमचंद ने इस सच्चाई को ठीक समय से पहचाना और हिंदी कथा साहित्य को भारतीय साहित्य-जगत के फलक पर प्रतिष्ठित कर दिया। बंगला भाजा में, बकिमचंद्र, शरतचंद्र चटर्जी, रवीन्द्रनाथ टैगोर आदि से पहले टेकचंद ठाकुर 'आलालेर घरेर दुलाल' 1858 ई० (ऊँचे परिवार का बिगड़ा बेटा) नामक उपन्यास लिखकर सामाजिक विजय को इस विधा में प्रवेश करा चुके थे। इसी प्रकार **असमिया भाजा** में बेजबरुआ, नगेन्द्रनारायण चौधरी, लक्ष्मीनाथ फूकन, **उड़िया में** फकीरमोहन सेन आदि कथाकारों ने कथा-साहित्य में सामाजिक कुरीतियों की आलोचना शुरू कर दी थी। विधवा-विवाह, सती प्रथा, बाल-विवाह, बेमेल विवाह, छूआछूत आदि के खिलाफ भारतीय रचनाकारों ने अपना पक्ष स्पष्ट रूप से समाज के सामने रख दिया था। इसी प्रकार **गुजराती में** धनसुखलाल मेहता तथा **पंजाबी में** चरणसिंह शहीद ने किसानों की दुर्दशा का चित्रण अपनी रचनाओं में प्रस्तुत किया।

उपर्युक्त तमाम रचनाकारों के साहित्य के भीतर से एक नया बनता हुआ समाज झलक रहा था। हर रचनाकार अपने समाज की उपज होता है। उस दौर के उलट-फेर से वह चाहकर भी बच नहीं पाता। प्रेमचंद एक सजग दूरदर्शी तथा नये समाज की इच्छा रखने वाले रचनाकार थे। उन्होंने आने वाले समाज को बनाने में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। यही कारण है कि परिवर्तनकामी दुनिया में उनके साहित्य का महत्व बराबर बढ़ता ही जा रहा है। 'घातरंज के खिलाड़ी' प्रेमचंद की रचनात्मकता का उत्कृष्ट उदाहरण है।

9. राग दरबारी (श्रीलाल शुक्ल)

डॉ. मनोजकुमार सिंह
प्रवक्ता, हिन्दी-विभाग
देहली विश्वविद्यालय,
दिल्ली विश्वविद्यालय

आज़ादी के बाद के हिन्दी गद्य लेखकों में श्रीलाल शुक्ल का स्थान महत्वपूर्ण है। हिन्दी गद्य का मूल स्वरूप व्यंग्यधर्मी है। अपने समय के यथार्थ को व्यक्त करने के लिए एक रचनाकार के पास इससे कारगर कोई दूसरा माध्यम नहीं है। व्यंग्य अपनी तीव्रता से जो चमक पैदा करता है उसमें हमारे समाज की छवि स्पष्ट सामने आ जाती है। हिन्दी के प्रसिद्ध व्यंग्य लेखक हरिष्ठांकर परसाई की मान्यता है “व्यंग्य सत्य की खोज नहीं, झूठ की खोज है।” श्रीलाल जी ने ‘राग दरबारी’ के माध्यम से इसी झूठ की खोज की है।

भारतीय स्वाधीनता आंदोलन की लंबी कुर्बानियों और शहादतों के बाद जो जीवन-मूल्य प्रस्तावित हुए वही जीवन मूल्य भारतीय भाजाओं के रचनाकारों ने साहित्य की अलग-अलग विधाओं के माध्यम से जनता के बीच उपस्थित किए। हम सब जानते हैं कि सत्ता परिवर्तन और सामाजिक परिवर्तन का संबंध सीधा और सरल नहीं होता। राष्ट्रीय आंदोलन के उत्तरवर्ती दौर में सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया धीमी हुई और राजनीतिक आंदोलन ने अपेक्षाकृत अधिक जोर पकड़ा। इसके पीछे जो तर्क सारी दुनिया में चल रहा था वह यह कि राजनीतिक स्वाधीनता के बाद हर राष्ट्र अपने सामाजिक परिवर्तन के आंदोलन को और बेहतर ढंग से चला सकेगा। भारत की सामाजिक व्यवस्था इस तर्क की ताईद कर रही थी। मध्यकालीन भारतीय समाज ने जितना सत्ता परिवर्तन देखा उतना बदलाव सामाजिक जीवन में नहीं देख सका। सभी समाजों के प्रतिनिधियों ने ऊपरी तौर पर सत्ता में भागीदारी पाई। आधुनिक समय में इस जटिल सामाजिक व्यवस्था को बदलने के लिए नेतागण तैयार तो थे परंतु औपनिवेशिक सत्ता को पहले बदलना चाहते थे। लेकिन दुर्भाग्य यह हुआ कि आज़ादी के बाद सामाजिक परिवर्तन हाशिये का विजय हो गया और सत्ता परिवर्तन सभी राजनीतिक दलों का केंद्रीय विचार बन गया।

ऐसी परिस्थिति में रचनाकारों ने अपनी ईमानदार भूमिका जारी रखी। आज़ादी के पहले भी भारतीय भाजाओं के रचनाकार भारतीय समाज की आंतरिक बुराइयों और विदेशी सत्ता दोनों का विरोध कर रहे थे। निराला, प्रेमचंद, रवीन्द्रनाथ आदि रचनाकारों का साहित्य इसका प्रमाण है। आज़ादी के बाद यष्ट्याल, नागार्जुन, फणीश्वर नाथ रेणु आदि कथाकारों ने समाज के खोखले रीतिरिवाजों पर जम कर प्रहार किया। श्रीलाल जी को हिन्दी गद्य की यह भरी पूरी परंपरा विरासत में मिली थी। खास बात यह है कि वे योग्य उत्तराधिकारी साबित हुए।

श्रीलाल शुक्ल का जन्म सन् 1925 ई० में लखनऊ जनपद के अतरौली नामक गाँव में हुआ था। उन्होंने उच्च शिक्षा इलाहाबाद विश्वविद्यालय से प्राप्त की। उसी दौरान वे उत्तरप्रदेश की सिविल सेवा में चुन लिए गए। लिखने की शुरुआत उन्होंने व्यंग्य-विधा से ही की। लेखन की शुरुआत के बारे में जो उन्होंने कारण बताये उसे आप खुद ही पढ़िये—“वे बरसात के दिन थे। मैं अपनी चाकरी के चक्कर में बुन्देलखण्ड के एक बहुत पिछड़े क्षेत्र में टिका हुआ था। उस वक्त मेरे घर में सबसे बेशकीमती चीज़ एक रेडियो सेट था जो बैटरी से चलता था। उस पर मैंने वर्जामंगल का एक कार्यक्रम सुना। उसमें एक गाँव का दृश्य था। गाँव में हरियाली थी, पवन पुरवाई थी, ऊँचे-ऊँचे बादल थे, हिंडोले थे, खिलखिलाती युवतियाँ थीं, बाँके-रंगीले, पर निहायत शरीफ़ छैले थे, ग्राम गीत थे, घुँघरू और कंगनों की खनक थी, देखा और मल्हार के अलाप थे। गाँव था पर वहाँ गरीबी नहीं थी, अभाव नहीं था, अत्याचार

और शोचन नहीं था, गंदगी, बीमारी-कुरूपता, हताशा, उदासी-कुछ भी नहीं थी। इस इकतरफा तस्वीर ने मुझे उकसाया और मैंने बरसात में गाँव की दुदृशा पर 'स्वर्णग्राम और वर्जा' नामक एक व्यंग्य-कथा लिख डाली। और इत्फाक देखिए उसी से मैं लेखक बन गया।" (श्रीलाल शुक्ल 'जीवन ही जीवन', संपा० नामवर सिंह, पृष्ठ-541) उसके बाद जो रचनाएँ उनकी आयीं उसका विवरण इस प्रकार है—

उपन्यास—'सूनी घाटी का सूरज' (1957), 'अज्ञातवास' (1962), 'राग दरबारी' (1968), 'आदमी का ज़हर' (1972), 'सीमाएँ टूटती हैं' (1973), 'मकान' (1976), 'पहला पड़ाव' (1987), 'विश्रामपुर का संत' (1998), 'बब्बरसिंह और उसके साथी' (1999) तथा 'राग-बिराग' (2001)।

कहानी संग्रह—'यह घर मेरा नहीं' (1979), 'सुरक्षा तथा अन्य कहानियाँ' (199), 'इस उम्र में (2003), 'दस प्रतिनिधि कहानियाँ' (2003)।

व्यंग्य संग्रह—'अंगद के पाँव' (1958), 'यहाँ से वहाँ' (1970), 'मेरी श्रेष्ठ व्यंग्य-रचनाएँ' (1979), 'उमरावनगर में कुछ दिन' (1986), 'कुछ ज़मीन में कुछ हवा में' (1990), 'आओ बैठ लें कुछ देर' (1995), 'अगली शताब्दी का शहर' (1996), 'जहालत के पचास साल' (2003) 'खबरों की जुगाली' (2005)

आलोचना—'अज्ञेय : कुछ रंग, कुछ राग' (1999)

निबंध—'भगवतीचरण वर्मा' (1989), 'अमृतराल नागर' (1994)

आत्म कथ्य—'मेरे साक्षात्कार' (2002)

संपादन—'हिंदी हास्य व्यंग्य संकलन' (2000)

राग दरबारी : सारांश

शहर के एक किनारे पर एक नौजवान किसी गाँव जाने वाली सवारी गाड़ी की तलाश में खड़ा है। उसकी ट्रेन छूट गई है और दूसरी ट्रेन शायद है नहीं। यह नौजवान एम. ए. (इतिहास) कर चुका है और इसी विजय में शोध करना चाहता है। यकायक ट्रक देखकर वह खुश हुआ और उसी दिशा में लपक पड़ा। यह नौजवान उपन्यास का मुख्य पात्र 'रंगनाथ' है जिसके गाँव की तरफ जाने से कहानी शुरू होती है और लौटने से कहानी पूरी होती है। इस पूरे घटना क्रम के बीच में है 'शिवपालगंज' जो हिंदुस्तान का कोई भी गाँव हो सकता है। उसी गाँव में रंगनाथ के मामा रहते हैं। कहना चाहिए उनके साथ गाँव रहता है। मामा जी का नाम वैद्य जी ही मशहूर है। उनके दो पुत्र हैं, बंदी पहलवान और रूपन बाबू। ये दोनों वैद्य जी की सत्ता के सच्चे उत्तराधिकारी हैं। इस कथा की परिधि अगर शिवपालगंज है तो केंद्र निश्चित रूप से छंगामल इण्टरमीडिएट कॉलेज है। यह आज़ादी के बाद पहले पंचवर्षीय योजना के तहत खुलने वाले हजारों कॉलेजों का प्रतिनिधित्व करता है।

गाँव के सबसे दबंग तथा साक्षर परिवारों का एक नया अवतार कॉलेज प्रबंधकों के रूप में सामने आया। इनका मुख्य योगदान सरकार द्वारा प्रदत्त वित्तीय फण्ड का गबन करना था। वैद्य जी छंगामल विद्यालय के प्रबंधक हैं। इस कॉलेज के प्रिंसिपल साहब सीधे तौर पर उस नाटक के मुख्य पात्र हैं जो छंगामल कॉलेज रूपी रंगमंच पर अक्सर खेला जाता है। प्रिंसिपल साहब कॉलेज के अध्यापकों को अपनी खेती समझते हैं लेकिन खन्ना मास्टर जैसे लोग कभी-कभार इस बात का विरोध करना चाहते हैं। इसी राजनीति में गाँव का एक दूसरा गुट आकार लेता है जिसके नायक हैं रामाधीन भीखम खेड़वी। इसके अलावा सनीचर, लंगड़, गयादीन वैद्यनाथ आदि चरित्र इस उपन्यास को सघनता प्रदान करते हैं। उपन्यास में बेला-रूपन प्रसंग ठीक-ठाक जगह घेरता है और उसका अंत वैसा ही होता है जैसा हिंदी कथा साहित्य में होता आया है।

इस देखा में राष्ट्रवाद से अधिक ताकतवर व्यक्तिवाद नहीं बल्कि जातिवाद है। बेला अपनी जाति में लौट जाती है और रूपनबाबू अपनी जाति में। इस प्रसंग में वैद्य जी प्रगतिशील भूमिका में है लेकिन जिस कारण से वह ऐसा कर रहे हैं उसे गयादीन समझ जाते हैं और सब लोग अपनी-अपनी खोल में घुस जाते हैं। प्रेम और विवाह दो

अलग-अलग बाते हैं। भारतीय समाज इस सत्य पर अभी भी अडिग है, छिटपुट घटनाओं को छोड़कर। वैसे भी अपवाद सिद्धांत नहीं होता। कथानक फिर-फिर छंगमल कॉलेज की ओर लौट आता है। खन्ना मास्टर मालवीय जी अंततः प्रिंसिपल साहब के सामने परास्त होते हैं। वैद्य जी ने सनीचर को प्रधान बनवा दिया। कोऑपरेटिव के घोटाले को रफा दफा करवा दिया। बेला का प्रेम बाद में बंदी पहलवान के साथ चला लेकिन वह भी उसी निष्कर्ष पर पहुँचा जहाँ रूपन ने गोपनीय ढंग से छोड़ा था। बंदी बाबू छंगमल इण्टरमीडिएट कॉलेज के नये प्रबंधक नियुक्त हो गये। कॉलेज धीरे-धीरे लुच्चों का अड्डा बनता चला गया। प्रिंसिपल साहब को वह महारत हासिल थी कि हर हाल में अपने पद को बचा ही ले जाते थे।

जिस स्वास्थ्य लाभ के लिए रंगनाथ गृह से शिवपालगंज आया था वह वैद्य जी के शब्दों में टिचन (ठीक) हो चुका था। रंगनाथ वापस विश्वविद्यालय आना चाहते थे ताकि रिसर्च शुरू कर सकें। छंगमल इण्टरमीडिएट कॉलेज के प्रिंसिपल ने उन्हें लेक्चरर का पद देना चाहा लेकिन रंगनाथ ने यहाँ पढ़ाना अपना घोर अपमान माना और प्रिंसिपल महोदय को ओछी निगाह से देखते हुए प्रस्ताव को ठोकर मार दिया। प्रिंसिपल ने अपने जीवनानुभव से रंगनाथ को गदहा समझा। और इस प्रकार उपन्यास पूरा हुआ।

राग दरबारी की समीक्षा

(स्वातंत्र्योत्तर भारतीय सामाजिक परिदृश्य के विघ्नेज संदर्भ में)

“एक हैं श्रीलाल शुक्ल। उन्होंने मोहनलालगंज पर एक उपन्यास लिखा है—राग दरबारी। मोहनलालगंज का नाम भर बदला है। आज की गुण्डागर्दी वाली राजनीति का अच्छा चित्रण है। ख़ हमने अकादेमी अवार्ड के लिए इसका नाम दिया है। वैसे प्राइज़ शायद ही मिले।” (श्रीलाल शुक्ल—जीवन से जीवन, पृष्ठ-5151)

लेकिन राग दरबारी को प्राइज़ मिल गया। उपर्युक्त कथन हिंदी आलोचक डॉ॰ रामविलास शर्मा का है। यह बात उन्होंने सन् 1969 ई॰ में अपने बड़े भाई को लिखे गए पत्र में कही है। यानी पूत के पाँव पालने में ही दिख गए थे। राग दरबारी का प्रकाशन 1968 में हुआ और उसके बाद लगातार हिंदी का पाठक-आलोचक इसको पढ़ता सराहता चला आ रहा है। हिंदी आलोचना की यह विडंबना है कि वह पाठक नहीं बढ़ाती बल्कि अपनी ‘आलोचना’ से पाठक घटाती है। रचनाकार अपने बूते और अपनी अभिव्यक्ति कुशलता से पाठकों के बीच अपनी धाक जमा पाता है। आजादी के बाद हिंदी उपन्यासों में ‘राग दरबारी’ अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इस उपन्यास का कथ्य कम श्रित्य अधिक ध्यान आकर्षित करने में कामयाब हुआ है।

सबसे पहले इस रचना के कथ्य पर बात की जाए। प्रिय विद्यार्थी! आपने याद है कि इस पाठ की शुरुआत में श्रीलाल शुक्ल के उस कथन को उद्धृत किया गया है जिसमें उन्होंने अपने लेखक होने के कारणों का बयान किया है कि साहित्य जिस समाज सत्य को अभिव्यक्त कर रहा है वह कितना नकली और रोमानी है। सच को सच की तरह कहो और यदि नहीं कह सकते तो यह जगह खाली करो। हिंदी साहित्य अभी तक गाँवों में खेल रहा है क्योंकि इससे इतर उसका अनुभव उतना नहीं पका है कि साहित्य में आ सके।

इस देश का गृहरीकरण, नगरीकरण साठ के दशक तक बहुत कम हुआ था। वहाँ आधुनिकता शिक्षा और टेकनॉलजी के माध्यम से नहीं आई बल्कि राजनीति के द्वारा प्रवेश पायी थी। राष्ट्रीय आंदोलन का शिक्षित वर्ग नये एजेण्डे के साथ गाँव को बदलने गया था और गाँव ने उसे बदल दिया। इस वृत्तांत का पहला डाक्यूमेन्टेशन 1956 में प्रकाशित होने वाला उपन्यास फणीश्वरनाथ रेणु का ‘मैला आंचल’ है। ‘मैला आंचल’ गाँधी, नेहरू, कांग्रेस, कम्युनिस्ट सभी को अपनी बोली में अनूदित करके गाता है। गाना इसलिए कि वह जिसे पसंद करता, नफरत करता है उसे राग और लय के माध्यम से ही अपने अनुभव इतिहास का हिस्सा बनाता है। ‘आधा गाँव’ नामक उपन्यास भी पलिटिक्स को अपने ढंग से बदल देता है। शिवपालगंज में रंगनाथ इसी आधुनिक विचारों और विवेक के साथ गया है और अंततः पलायन करता है। मैला आंचल का डॉ॰ प्रधांत रौमेंटिक था इसलिए टिक जाता है और रौमेंटिक

है इसी तर्क पर कमली मिल जाती है। लेकिन 'राग दरबारी' की 'बेला' प्रेमचंद के प्रेमी स्त्री पात्रों से आगे नहीं बढ़ पाती। श्रीलाल जी चाहते तो कुछ गुल खिला सकते थे लेकिन इसी चाहने से तो उन्हें चिढ़ थी और इसी प्रतिज्ञा के साथ लेखन में आये थे कि जो कहूँगा सच कहूँगा सच के सिवा कुछ नहीं। उसी सच को लोगों ने व्यंग्य कहा।

कुछ दिन पहले तक यह बात कही जाती थी कि जो लोकल है वही ग्लोबल होने की योग्यता रखता है और इस बात को डॉ० सुधीष्ठा पचौरी ने राग दरबारी को ग्लोबल तरीके से पढ़ने की दावत देकर और पढ़कर साबित कर दिया—“सदी के आखिरी दिनों की चकाचक उत्तरआधुनिक दृष्टाएँ पढ़ पाने में असमर्थ लोगों के लिए राग दरबारी एक अनिवार्य टैक्स्ट है”¹¹ माना जाता है कि नामवर सिंह कविता के औजारों से कथा-साहित्य की मीमांसा करते हैं। इसका एक प्रमाण रागदरबारी की कथाभाजा को लेकर की गई उनकी टिप्पणी में पुनः मिलता है —कुन्तक ने 'वक्रोक्ति' को 'वैदध्य- भंगी-भणिति' के नाम से परिभाजित किया है। जब लेखक विदग्ध होगा — उसका हृदय विष्टोज्ज रूप से दग्ध होगा, अत्यंत जला हुआ होगा तो उसकी जबान भी टेढ़े-टेढ़े ही चलेगी और उसकी भाजा में विष्टोज्ज प्रकार की भंगिमा होगी। यह आकस्मिक नहीं है कि श्रीलाल जी बार-बार जोर देकर व्यंग्य को भंगिमा कहते हैं। फिर भी श्रीलाल श्रुक्त की भाजा की प्रष्टांसा करने वाले भूल जाते हैं उस अंदर के कोठे को, जहाँ से स्वर निकलते हैं।¹²

इस दौर में कौन सा औजार किस विधा के लिए है इस पर बहस बेमानी है। बात इतनी सी है कि आप उसका उपयोग करना जानते हैं या नहीं। बात फिर वहीं रचना के 'विज्ञय' पर आ टिकती है। सुधीष्ठा जी का यह कहना कि **“पैरोडी यदि रियलटी बन जाए तो 'रियलिज्म' को खत्म समझना चाहिए।”¹³ और यदि राग दरबारी पैरोडी न हो तो? आज़ादी के बाद का समूचा रचना- परिदृष्ट्य राग-दरबारी के सच से भरा पड़ा है। 'आष्टांका का द्वीप अंधेरे में' हो या सुदामा पाण्डेय का 'प्रजातंत्र' या उन्हीं का 'मोचीराम' जो चौक से/गुजरते हुए देहाती को प्यार से बुलाता है और मरम्मत के नाम पर/रबर के तल्ले में/ लोहे की तीन दर्जन फुल्लियाँ ठोंक देता है/ और उसके नहीं नहीं के बावजूद/ डपटकर पैसा वसूलता है।”**

श्रीलाल जी इस यथार्थ को बहुत तकलीफ के साथ व्यक्त करते हैं जिसे आलोचक व्यंग्य या व्यंग्य-लीला समझते हैं। उर्दू का एक श्लोक है—दर्दे दिल कितना पसंद आया उसको/ मैंने की आह! उसने कहा वाह।” ‘राग दरबारी’ की समीक्षा का यही सच है। डॉ० सुधीष्ठा पचौरी के शब्दों में—‘राग दरबारी के विमर्श के लिए श्रिवपालगंज में घुसना होगा। उपन्यास के कुछ दृष्ट्य रखते हुए हम अपनी बात आगे बढ़ा रहे हैं। मसलन- सड़क के एक ओर पेट्रोल-स्टेशन था; दूसरी ओर छप्परों, लकड़ी और टीन के सड़े टुकड़ों और स्थानीय क्षमता के अनुसार निकलने वाले कबाड़ की मदद से खड़ी की हुई दुकानें थीं। पहली निगाह में ही मालूम हो जाता था कि दुकानों की गिनती नहीं हो सकती। प्रायः सभी में जनता का एक मनपसंद पेय मिलता था जिसे वहाँ गर्द, चीकट, चाय की कई बार इस्तेमाल की गई पत्ती और खौलते पानी आदि के सहारे बनाया जाता था। उनमें मिठाइयाँ भी थीं जो दिन-रात आँधी-पानी और भवरमक्खी मच्छरों के हमलों का बहादुरी से मुकाबला करती थीं। वे हमारे देष्ठी कारीगरों के हस्तकौशल और उनकी वैज्ञानिक दक्षता का सबूत देती थीं। वे बताती थीं कि हमें एक अच्छा रेज़र-ब्लेड बनाने का नुस्खा भले ही ना मालूम हो, पर कूड़े को स्वादिष्ट खाद्य पदार्थों में बदल देने की तरकीब सारी दुनिया में अकेले हमीं को आती है।” एक दूसरा दृष्ट्य है —आज रेलवे ने उसे धोखा दिया था। स्थानीय पैसेंजर ट्रेन को रोज़ की तरह दो घंटा लेट समझकर वह झट से चला था, पर वह सिफ़ डेढ़ घंटा लेट होकर चल दी थी। श्रिकायती किताब के कथा-साहित्य में अपना योगदान देकर और रेलवे अधिकारियों की निगाह में हास्यास्पद बनकर वह स्टेशन से बाहर निकल आया था।” (रागदरबारी-पृष्ठ-5.)

ऊपर के ये दो दृष्ट्य आज भी बहुत कुछ सच हैं। क्या ये ठीक है ? क्या इसे नहीं बदलना चाहिए? क्या इसमें बदलाव लाने की मांग करना किसी का मजाक उड़ाना है? श्रायद नहीं। क्या हमारा समाज और उसका बड़बोला चरित्र हमारे विकास का बाधक नहीं है! रंगनाथ का मजाक बनाने वालों के पक्ष में हम खड़े होंगे या रंगनाथ के? आधुनिक हिंदी कविता के प्रमुख कवि और चिंतक मुक्तिबोध की भी यही मांग थी कि जो है उससे बेहतर चाहिए।

बेहतर की मांग करना 'पैरोडी' है? राग-दरबारी एक सड़े हुए समाज की जाँच-पड़ताल है और उसे बदलना जरूरी है। मैला आंचल के डॉ॰ प्रभांत को यह पता चला था कि गरीबी और जहालत इस समाज के सबसे बड़े कीटाणु हैं और रंगनाथ हमें बताता है कि जहालत से बड़ा कीटाणु 'आदत' है जो हम बदलना नहीं चाहते। यह समाज जो भी करता है कमाल करता है, उसमें सुधार की कोई गुंजाइश नहीं है। श्रीलाल रुपन बाबू का बायोडाटा पेष्ठा करते हैं - 'रुपन बाबू अठारह साल के थे। वे स्थानीय कॉलेज की दसवीं कक्षा में पढ़ते थे। पढ़ने से और खासतौर से दसवीं कक्षा में पढ़ने से, उन्हें बहुत प्रेम था; इसलिए वे उसमें पिछले तीन साल से पढ़ रहे थे।' यह रुपन की योग्यता थी। अब आप उसकी हैसियत देखिए - रुपन बाबू स्थानीय नेता थे। उनका व्यक्तित्व इस आरोप को काट देता था कि इण्डिया में नेता होने के लिए धूप में बाल सफेद करने पड़ते हैं। उनके नेता होने का सबसे बड़ा आधार यह था कि वह सबको एक निगाह से देखते थे। थाने में बैठा दारोगा और हवालाल में बैठा चोर-दोनों उनकी निगाह में एक थे। वे पैदायष्टी नेता थे क्योंकि उनके बाप भी नेता थे।"

यह आज़ादी के बाद के हिंदुस्तान की राजनीति के हालात थे और आज भी हैं। राजनीति आधुनिक दुनिया को बदलने का सबसे कारगर हथियार है और यह हथियार रुपन और बंदी पहलवानों के हाथ में है। क्या इसमें बदलाव किये बगैर आप समाज को और किन हथियारों से बदल सकते हैं। छंगामल इण्टर कॉलेज की स्थापना एक महान उद्देश्य की पूर्ति के लिए की गयी थी। और यह समाज मानता है कि आदर्श सिर्फ दूसरों के लिए होता है अपने लिए उसका निर्माण नहीं हुआ है। जैसा कि ऊपर बताया गया है कि राष्ट्रीय आंदोलन के नेतागण वैश्विक परिदृश्य के परिप्रेक्ष्य में अपने देश को रखते हुए सारे मूल्य गढ़ रहे थे। नेहरू चाहते थे कि विज्ञान यूरोप और दुनिया के विकास में सबसे महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रहा है, इसलिए भारतीय शिक्षा-व्यवस्था में विज्ञान पर विशेष बल दिया जाना चाहिए। छंगामल इण्टर कॉलेज भी विज्ञान विजय को अपने यहाँ पढ़वाता था। क्या स्थिति है इन साइंस कक्षाओं की, आप खुद देखें-

साइंस का क्लास लगा था। मास्टर मोतीराम जो एक तरह बी.ए.सी. पास थे, लड़कों को अपेक्षित घनत्व पढ़ा रहे थे। सड़क पर ईख से भरी बैलगाड़ियाँ श्रावकर मिल की ओर जा रही थीं। कुछ मरियल लड़के पीछे से ईख खींच-खींचकर भाग रहे थे। आगे बैठा हुआ गाड़ीवान खींच-खींच कर गालियां दे रहा था। गालियों का मौलिक महत्व आवाज़ की ऊँचाई में है, इसलिए गालियां और जवाबी गालियां एक दूसरे को ऊँचाई पर काट रही थी और दर्जे में खिड़की के रास्ते घुसकर पाछर्व-संगीत का काम कर रही थीं। लड़के नाटक का मजा ले रहे थे। साइंस पढ़ रहे थे।" शिक्षा का आदर्श, शिक्षा के यथार्थ के सामने मौजूद है। और इसी का परिणाम हैं रुपन बाबू जैसे छात्र नेता जो आज भी बड़ी तादाद में पाये जाते हैं।

लोकतंत्र का दूसरा स्तंभ न्यायालय की हालत भी आप देखें। पुनर्जन्म के सिद्धांत की ईज़ाद दीवानी की अदालतों में हुई है, ताकि वादी और प्रतिवादी इस अफसोस को लेकर न मरें कि उनका मुकदमा अधूरा ही पड़ा रहा। इसके सहारे वे सोचते हुए चैन से मर सकते हैं कि मुकदमों का फैसला सुनने के लिए अभी अगला सच तो पड़ा ही है।"

हरिष्ठांकर परसाई का एक निबंध है 'भोलाराम का जीवा।' उसमें भोलाराम की आत्मा अपने पैष्ठान की फाइल में छिपी पड़ी है और स्वर्गलोक में तहलका मचा है कि एक आत्मा कहाँ गायब हो गई। यह विडंबना हमारे अदालतों और सरकारी दफ्तरों की है। हमारा समाज किसी भी व्यवस्था में अपने को बांधना नहीं चाहता क्योंकि हर व्यवस्था के अपने कुछ अनुष्ठासन होते हैं। अनुष्ठासन में रहना हमने कभी सीखा नहीं। इतिहास को लेकर भारतीय जनता की मान्यता है कि वह विश्व का सबसे सभ्य और प्राचीनतम समाज है। जो महान होना था वह हो चुका है और वर्तमान सिर्फ पतन की ओर हमें लिए जा रहा है। उपन्यास में एक प्रसंग कार्तिक पूर्णिमा का है। गाँव से कुछ दूरी पर एक देवी का मंदिर है। मंदिर के बारे में भारतीय मन की क्या धारणा है, लेखक ने इस प्रकार व्यक्त किया है-रंगनाथ को यही बताया गया था कि मंदिर सतयुग का बना हुआ है। वह श्रुत से ही किसी

छिलालखण्ड पर ब्राह्मी अक्षर पढ़ने की कल्पना कर रहा था। पर मंदिर को दूर से देखते ही उसे विष्टवास हो गया कि अपने देष्टावासी समय के बारे में सिर्फ़ दो सही ष्टाब्द जानते हैं और वे हैं अनादि और अनन्त। वे लगभग पचहत्तर वर्ज पुराने मंदिर को आसानी से गुप्तकालीन या मौर्यकालीन बता सकते हैं।”

ऐसे ब्योरे पूरे उपन्यास में भरे पड़े हैं। एक पुराने समाज को जिसमें जाति, धर्म, संप्रदाय, क्षेत्र, भाजा रंग संबन्धी भेदभाव वातावरण की तरह मौजूद हैं, उस समाज को बदलने के लिए जितनी गंभीरता की जरूरत है, हमारी आधुनिक संस्थाएँ उतनी गंभीर हैं नहीं। लोकतंत्र का अनुभव इस समाज को नहीं है और एक झटके से उसे यह व्यवस्था उसके हाथों में थमा दी गई ठीक वैसे ही जैसे पिता की आमदनी बढ़ने के साथ बच्चों के हाथों में खिलौने आ जाते हैं। यह पारंपरिक समाज हर नई चीज़ को आष्टांका और हास्य की सामग्री समझता है।

श्रीलाल ष्टुक्ल ने इस उपन्यास के माध्यम से इस हमारे समाज के चरित्र को सामने रख दिया है। अब ये हम पर है कि हम इस समाज को किस दिष्टा में ले जाते हैं। हिंदी के प्रसिद्ध कवि और बुद्धिजीवी श्री अरुण कमल की टिप्पणी है—“राग दरबारी समाप्त करके मुझे लगा जैसे नरक की यात्रा से लौटा हूँ जिसे लोग तीर्थयात्रा मानते रहे हैं। श्रीलाल ष्टुक्ल का सबसे बड़ा काम यही है कि उन्होंने भारतीय गाँव के सनातन मिथक को तोड़ डाला।” (श्रीलाल ष्टुक्ल जीवन ही जीवन, पृष्ठ-7)

1. श्रीलाल की दुनिया – संपा० अखिलेष्टा, पष्ठ-173
2. श्रीलाल ष्टुक्ल : जीवन ही जीवन, भूमिका से
3. श्रीलाल की दुनिया – संपा० अखिलेष्टा, पष्ठ-173
राग दरबारी, पष्ठ-31-32
वही, पष्ठ-115

10. छुई-मुई (इस्मत चुगताई)

डॉ. बलवन्त कौर
हिन्दी-विभाग
मिराण्डा हाउस
दिल्ली विश्वविद्यालय

परिचय

सदाअत हसन मंटो, राजेन्द्र सिंह बेदी, कृष्ण चन्दर और इस्मत चुगताई उर्दू साहित्य के चार स्तम्भ हैं। पर इन में से 'इस्मत' चुगताई की लेखनी व रचना-संसार बिलकुल भिन्न है। क्योंकि इस्मत चुगताई ने वर्ग संघर्ष के बजाए लैंगिक संघर्ष को अपनी कहानियों का विज्ञय बनाया।

21 अगस्त 1915 को बदायूँ, उत्तर प्रदेश में जन्मी इस्मत चुगताई की रचना-यात्रा का प्रारम्भ 'गैदा' कहानी से हुआ। जो दिल्ली से निकलने वाली मासिक पत्रिका 'साकी' में छपी थी। इसके बाद जब उन्होंने 'लिहाफ' कहानी लिखी तो साहित्य-जगत में एक तहलका-सा मच गया। बहुत दिनों तक इस कहानी के चर्चे लोगों की जुबान पर रहे। इसका कारण यह था कि इससे पूर्व किसी महिला ने उर्दू साहित्य में विज्ञयवस्तु और संवेदना की दृष्टि से इतनी 'बोल्ड' कहानी नहीं लिखी थी। नारी जीवन, उसकी समस्याओं और उसके मनोवैज्ञानिक पहलुओं को लेकर जितनी कुशलता व निर्भयता से इस्मत चुगताई ने लिखा है उतना पूरे भारतीय साहित्य में दुर्लभ है। उन्होंने अपनी लेखनी से उर्दू कथा साहित्य का एक नया मुहावरा दिया।

इस्मत चुगताई के अब तक लगभग 9 उपन्यास, 9 कहानी संग्रह व कुछ नाटक प्रकाशित हो चुके हैं। उनकी पहली साहित्यिक कृति 'जिद्दी' 1940 में प्रकाशित हुई। 1944 में लिखित 'टेढ़ी लकीर' इस्मत चुगताई का आत्मकथात्मक उपन्यास है। जिसमें स्त्री जीवन के उतार-चढ़ाव को विज्ञय बनाया गया है। इसके अतिरिक्त 1968 में रचित 'जंगली कबूतर' भी उनका प्रसिद्ध उपन्यास है। एक बात (1942), चोंटे (1943), छुई-मुई (1952), दो हाथ (1955), बदन की खुष्ठाबू (1979) तथा दोजखु पंकचर इस्मत जी के प्रसिद्ध कहानी संग्रह हैं। इस्मत जी को गालिब ड्रामा ऐवार्ड से 1975 में और इसी वर्ष उर्दू साहित्य में उनके बहुमुखी योगदान के लिए उन्हें भारत सरकार की ओर से 'पद्मश्री' से भी सम्मानित किया गया।

भारत विभाजन को आधार बनाकर एम. एस. सथु की फिल्म 'गर्म हवाएँ' इस्मत जी की कहानी पर ही बनी है। इसके अतिरिक्त इस्मत चुगताई ने बच्चों की फिल्म 'जवाब आयेगा' तथा अली सरदार जाफरी पर निर्मित वृत्तचित्रों का निर्देशन भी किया। 'कागज़ी है पैरहन' इस्मत जी की आत्मकथा है। जिसमें उन्होंने न सिर्फ अपनी रचना यात्रा के उतार-चढ़ावों को बयान किया है बल्कि अपने समय को भी अभिव्यक्त किया है।

छुई-मुई : सार

'छुई-मुई' कहानी एक ऐसी नजाकत और नफासत वाली युवती की कहानी है जो अपने पति का वंश चलाने में असमर्थ रहती है। जिसे सदैव यह भय सताता रहता है कि यदि वह वंश चलाने में नाकामयाब रही तो उसका पति

समाज व परिवार के दबाव के चलते दूसरी छादी कर लेगा। कहानी का प्रारम्भ रेल के डिब्बे से होता है। जहाँ गर्भवती भाभी जान को बड़ी एतिहात के साथ रेल के डिब्बे में चढ़ाकर उन्हें आराम कुर्सी पर बिठा दिया जाता है। यहीं से कहानी में सूत्रधार की हैसियत से मौजूद लड़की भाभी जान की कहानी सुनाना प्रारम्भ करती है। जो बताती है कि किस प्रकार भाभी जान की छादी उसके भाई जान से कमसिनी (छोटी उम्र और नाजुक तथा कोमल शरीर) में ही हो गई थी। और कैसे छादी के बाद औसत दर्जे की दुबली-पतली लड़की चन्द ही साल में फफोले की तरह नाजुक हो जाती है। क्योंकि 'माँ के कूल्हे से तोड़कर सीधे भाईजान के पलंग की जीनत बनती है' बिस्तर पर पड़े-पड़े ही हाथ मुहँ धोना उनकी दिनचर्या का अंग बन जाता है। छादी के बाद से ही उनकी देखभाल का दायित्व बी मुगलानी पर होता है। भाभी जान आरामपसंद और नाजों में पली है। किसी भी किस्म की तकलीफ से वह घबराती हैं। और फिर प्रसूति की तकलीफ! भाभी जान छादी के दूसरे साल ही गर्भवती हो जाती हैं और इसके साथ ही उनके चेहरे की मुस्कुराहट भी फीकी पड़ने लगती हैं।

पर घर का उत्साह आने वाले बच्चे को लेकर देखते ही बनता था। लेकिन भाई जान कुछ बदले-बदले से रहने लगे थे। भाभी जान जो पहले ही चलने-फिरने से तौबा करती थीं, अब तो परेशानी और सावधानी इतनी बढ़ गयी थी कि वह करवट भी लेतीं तो बी मुगलानी अल्लाह-बिस्मिला के जयकारों से घर सर पर उठा लेतीं। लेकिन अल्लाह को कुछ और ही मंजूर था। जल्द ही कच्ची उम्र होने और न हिलने-डुलने के कारण समय से पहले ही भाभी जान का गर्भ गिर गया। लोग दुखी तो हुए क्योंकि घर में सबने बच्चे को लेकर बहुत सारे सपने संजोए थे। पर इस बात से सब खुश भी थे कि भाभी जान की जान तो बच गई। यह सिलसिला अगली बार भी चला। पर अगली दफा भी इसी तरह हुआ, गर्भ गिर गया। पर जब तीसरी बार भाभी जान गर्भवती हुई तो पहले से ज्यादा एहतियात बरती गई। दिल्ली से डाक्टरों को बुलाया गया। उन्हें रूई के फूलों पर रखा जाने लगा। जब डाक्टरों ने कहा खतरा निकल गया है तो अम्मा बेगम ने जचगी अलीगढ़ में कराने की सोची। भाभी जान को रेल गाड़ी के डिब्बे में बहुत आराम से चढ़ाया गया।

तभी एक अन्य स्त्री भी रेल के डिब्बे में भीड़ को धकेलते हुए चढ़ी वह भी पेट से थी। उसने डिब्बे में चढ़ते ही दर्द की चीखों के बीच एक बच्चे को जन्म दिया और थोड़ी ही देर में जहाँ उसके बच्चे की पैदाइश हुई थी उस जगह की साफ-सफाई भी कर दी गयी। यह देख बी मुगलाई हैरान रह गई कि क्या औरत है? उधर भाभी जान के पेट में भी दर्द की लहर उठने लगी। पर हमेशा की तरह इस बार भी 'नयी रूह दुनिया में कदम रखते ही झिझक गयी और मुंह बिसूरकर लौट गयी।' इसका परिणाम यह हुआ कि भाभी जान के चेहरे पर भाई जान की दूसरी छादी का भय दिखने लगा। यहाँ आकर इस अंतःसंघर्ष और अनेक प्रकार की संवदेना तथा वैचारिकता जगाने वाली कहानी का अंत हो जाता है।

मूल संवदेना या प्रतिपाद्य

जिस समय इस्मत चुगताई ने अपना लेखन प्रारम्भ किया था उस समय प्रगतिशील आन्दोलन हिन्दुस्तान में अपनी जड़ें मजबूत कर रहा था। इस आन्दोलन ने इस्मत जी के लेखन को एक नयी दिशा प्रदान की। इस्मत चुगताई की कहानियाँ ऐसे भयावह यथार्थ से हमारा सामना कराती हैं जिन्हें बयान कर पाना हर किसी के बूते की बात नहीं है। उन्होंने न सिर्फ साहित्य बल्कि समाज की भी सभी रूढ़ परम्पराओं का अपनी लेखनी के द्वारा विरोध किया। जिस समय महिलाओं के पढ़ने तक पर पाबंदी थी उस दौर में किसी महिला का स्त्री की यौनिकता, सामाजिक बुराईयों और उस सामंतीय व्यवस्था पर लिखना कितना कठिन काम था, आज के समय में यह कोई कल्पना भी नहीं कर सकता। पर इस्मत जी ने अपने साहित्य में न सिर्फ ये सब मुद्दे उठाए बल्कि जीवन में भी इनसे टकराती रहीं। उन्होंने अपनी कहानियों में नैतिकता, धर्म व समाज में व्याप्त उन मूल्यों को पूरी ताकत, व्यंग्य व तिरस्कार के साथ

आलोचना का विज्ञय बनाया, जिनसे विलास-कक्षों का संरक्षण होता है और जो लिंग व यौन घोषण पर आधारित हैं।

सन् 1952 में रचित इस्मत चुगताई की 'छुई-मुई' कहानी भी एक ऐसे रूढ़िगत समाज की कहानी है जहाँ स्त्री का वजूद तभी तक परिवार में कायम रहता है जब तक वह वंश की बेल बढ़ाने में कामयाब होती है और यदि स्त्री इस धर्म को निभाने में कामयाब नहीं हो पाती तो अपने भविष्य की अनिश्चितता को लेकर सदैव भयभीत रहना उसकी नियति बन जाती है क्योंकि 'शौहर वंश चलाने वाले की आड़ लेकर कभी भी दूसरी छादी कर सकते हैं।' प्रस्तुत कहानी में भी भाभी जान जो माँ-बाप की दहलीज से सीधे भाई साहब के बिस्तर की जीनत बनती हैं, परिवार का नाम चलाने में नाकाम रहती हैं। एक बार नहीं, तीन बार। दरअसल यह कहानी समाज के उस पूरे सामंती ढाँचे के विरुद्ध व्यंग्य का सहारा लेते हुए कड़ा प्रतिरोध व्यक्त करती है जहाँ स्त्रियों को सिर्फ मर्दों को प्रसन्न रखने और उनकी वंश-बेल बढ़ाने की सामग्री समझा जाता है। इसके अलावा कोई भी कर्म या उत्पादक श्रम करना उनके औरतपने के विरुद्ध समझा जाता है। भाभी जान इसी सामंती स्वभाव द्वारा घोषित स्त्री के प्रतिनिधि रूप में आती हैं जहाँ वह उन्हीं मूल्यों को ढोती हैं जिनसे वह घोषित भी होती है। आज के बाजारवाद के युग में नारी को केवल उपयोगिता वाली वस्तु मानने की धिनौनी मानसिकता का पर्दाफाश करती हुई यह कहानी आज भी हममें गहन बौद्धिकता जगाती नजर आती है।

कथानक का विस्तार व विकास एक नौजवान लड़की के माध्यम से होता है जो कहानी में सूत्रधार की हैसियत से विद्यमान है। हल्के-फुलके व्यंग्यात्मक अंदाज में की गई इसकी टीका-टिप्पणियाँ कहानी को रफ्तार देती हैं। कथा का सारा घटनाक्रम या तो रेल के डिब्बे में या इस सूत्रधार लड़की की टिप्पणियों में ही घटित होता है। और कहानी का अन्त भी इसी टिप्पणी से रेल के डिब्बे में होता है। डिब्बा यहाँ उस बन्द सामंतीय परिवेष्टा का प्रतीक है जिसके भीतर स्त्री की नियति कैद है। स्त्री चाहकर भी इससे बाहर नहीं निकल सकती। क्योंकि उसके पास अन्य कोई विकल्प नहीं है। इस्मत जी मानती हैं कि यदि स्त्री पढ़ी-लिखी हो तो विकल्पों की तलाश कर सकती है पर यहाँ समस्या तो यही है कि भाभी जान ने 'सीना परोना तो सीखा नहीं थाख और जो दो बोल पढ़े थे, सो वो कब के भूल-भाल चुकी थी' यह विकल्पहीनता की स्थिति ही भाभी जान जैसी औरतों की नियति को समाज को यह सब करने देती हैं। उसके पास बिस्तर की जीनत बनने या वंश न चला पाने की स्थिति में सेविका मात्र के अतिरिक्त कोई अन्य विकल्प नहीं रह जाता है।

भाभी जान भी इसीलिए भयभीत हैं कि उनके पास विकल्प नहीं है। वह जानती हैं कि यदि 'अगर अब के ज़रा वार खाली गया तो भाई जान को उनके सीने पे सौत लाने में कोई बहाना भी आड़े न रहेगा। अब तो नाम चलाने वाले की आड़ लेकर वे सब कुछ कर सकते थे। ख़बर नहीं, बेचारे को इतना अपना नाम ज़िन्दा रखने और उसे चलाने की क्याँ फ़िक्र पड़ी थी? हालाँकि खुद उनका कोई ऊँचा नाम था ही नहीं। दुनिया में मसहरी की जीनत का जो फ़र्ज है, अगर वो भी न पूरा कर सकीं तो यकीनन उन्हें सुख की सेज छोड़नी पड़ेगी।

'प्रसिद्ध कथाकार कश्मिण चंदर ने ठीक ही लिखा है कि 'इस्मत की कहानियाँ मुझे उस गुण से मिलती-जुलती मालूम होती हैं जो औरत में है, उसकी आत्मा में है। उसके दिल में है उसके अन्तकरण में है। इस्मत पुरानी कब्रों की पूजा नहीं करतीं, जीते-जागते इंसानों की कहानियाँ सुनाती हैं। वह रुमान के काल्पनिक ढाँचे तैयार नहीं करती, बल्कि यथार्थ को अपनी कल्पना की स्वच्छ आग में पिघलाकर अपनी ज़बान के तेज तुंद और कटु तेजाब में उतार कर ऐसे जानदार चित्र तैयार करती हैं जहाँ पढ़ने वाला कहानीकार की प्रशंसा करता है वहाँ अपनी और अपने समाज की शक्ल पर बिसूरता रह जाता है।'

इस्मत चुगताई के कहानी-लेखन का अपना अलग ही अन्दाज है जो उन्हें अपने समकालीनों से अलग करता है। इस्मत जी की कहानियों की सबसे बड़ी विशेषता उसका प्रवाह है। जिसे बनाने में भाजा के उस मिजाज़ पर उनकी पकड़ है जो औरतों की भंगिमाओं, मुहावरों और तेवर को पूरी जीवंतता से व्यक्त करती है। भाजा

की खानगी, किस्सागोई छौली, हल्का-फुलका किन्तु तीखा व्यंग्यात्मक लहजा उनके मन्तव्य को अधिक प्रभावी ढंग से तो अभिव्यक्त करता है। साथ ही कहानियों की रोचकता और सार्थकता को भी बढ़ा देता। प्रस्तुत कहानी में इस्मत जी की इस विद्योत्तता को देखा जा सकता है। एक तरफ मध्यवर्गीय औरत की नियति, उसकी खुशियाँ उसके गम उसकी कुंठाएँ, भाभी जान के माध्यम से अभिव्यक्त होती हैं तो दूसरी तरफ रेल के डिब्बे में एक अन्य औरत की जच्चगी कहानी को एक भिन्न मोड़ दे देती है। यह औरत बच्चे पैदा करने को ही अपने जीवन की सार्थकता नहीं मानती बल्कि बच्चा पैदा करना उसके लिये अन्य जरूरी कामों की तरह एक और काम है, उसके जीवन का अंतिम उद्देश्य नहीं। लेखिका ने सामंती विचारधारा और मानवीय संवेदना के इन अंतर्विरोधों का बहुत प्रभावशाली चित्रण करके सबको झकझोर दिया है और नारी-शोषण के पुराने और नये-नये ढंग निकालने की कल्पना करने का भी विरोध किया है।

प्रासंगिकता

इस्मत जी उस युग की पैदाइश हैं जिस समय विष्टव स्तर पर महिलावादी आन्दोलन तो हो रहे थे पर उन आन्दोलनों की कोई खास अनुगुंज भारतीय साहित्य में उस तरह से सुनाई नहीं दे रही थी जैसी आज के भारतीय साहित्य में दिखाई देती है। पर इस्मत चुगताई ने उसी समय स्त्री की मजबूरियों, पितृसत्तात्मक व्यवस्था के दुराचारों और दोहरे मानदण्डों पर अपनी लेखनी चलाई। यानी यह कहा जा सकता है कि स्त्री विमर्श की लेखिका न होते हुए भी इस्मत का लेखन व्यापक स्तर पर इस प्रकार के विमर्शों का ही लेखन है इसलिए आज के समय में भी वह अपनी प्रासंगिकता बनाए हुए हैं।

‘छुई-मुई’ कहानी शोषित रूप से स्त्रीवादी विमर्श की कहानी नहीं है लेकिन स्त्रीवादी विमर्श के निर्माण में इस तरह की कहानियों का महत्व अनदेखा नहीं किया जा सकता। सामंतवादी पितृसत्तात्मक ढाँचे की क्रूरता, उसका दोहरापन और अनुत्पादकता उद्घाटित करने में यह कहानी हमेशा महत्वपूर्ण मानी जाएगी।

यह कहानी इसलिए भी महत्वपूर्ण है क्योंकि लेखिका ने स्त्री शिक्षा को अनिवार्य माना है। शिक्षा के कारण ही नारी के भीतर आत्मनिर्भरता के साथ-साथ विभिन्न विकल्पों की पहचान और उपयोग की क्षमता उत्पन्न होती है। यह कहानी समाज में एक संरचनात्मक और बौद्धिक सोच को जन्म देने में भी सहायक है।

1. भारतीय अंक हैं—1, 2, 3, 4, 5, 6, 7, 8, 9, 10

इनका अन्तर्राष्ट्रीय रूप है—1, 2, 3, 4, 5, 6, 7, 8, 9, 10

11. अन्धे की धन्यता (तकजी शिवशंकर पिल्लै)

डॉ. बलवन्त कौर

परिचय

मलयालम साहित्य के प्रसिद्ध रचनाकार तकजी शिवशंकर पिल्लै का जन्म 17 अप्रैल 1912 को अल्लाप्पुझा जिले के तकजी गाँव में हुआ था। पेशे से वकील तकजी का साहित्य व्यापक स्तर पर मानवीय चेतना का साहित्य है। उन्होंने अपने साहित्य में वर्ग व जाति-भेद का लगातार विरोध करके गरीबों, वंचितों व दलितों की चेतना को अभिव्यक्ति दी है। जीवन एक किसी एक पक्ष की अपेक्षा समग्र जीवन की अभिव्यक्ति तकजी के साहित्य का लक्ष्य है।

तकजी की पहली किताब 'त्यागतिनु प्रतिफलम' (त्याग का प्रारिश्मिक) सन् 1934 में छपी। 1984 में तकजी को भारत सरकार की ओर से 'पद्मभूषण' और इसी वर्ष उन्हें भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार से भी नवाजा गया। तकजी की प्रमुख रचनाओं में 'रंदि-दंगजी' (दो कट्टे धान 1948), 'तोतीयुते मकन' (1948 सफाई वाले का बेटा), 'एनिपादिकल' (1964 सीढ़ी के सोपान) हैं। इनके अतिरिक्त 'क्वायर' (1978) और 'चेम्मीन' (मछुआरे) तकजी के प्रसिद्ध उपन्यास हैं। 'चेम्मीन' के लिए उन्हें साहित्य का सर्वोच्च सम्मान साहित्य अकादमी 1956 से मिला। 1961 तकजी की आत्मकथा 'एँते वकील जीवतम' (वकील के रूप में मेरा जीवन) प्रकाशित हुई।

अन्धे की धन्यता : सार

'अन्धे की धन्यता' कहानी गरीब, आँखों से अन्धे किंतु धार्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति पप्पु नायर की कहानी है। पप्पु नायर गाँव में बदचलन कही जाने वाली भार्गवी के घर अक्सर उसकी माँ को पुराण कथाएँ सुनाने जाया करता था। जन्म से अन्धा होने के कारण पप्पु नायर पर किसी को शक भी नहीं होता था।

एक दिन भार्गवी को गर्भ ठहर गया। पप्पु नायर ने भार्गवी से विवाह करने की इच्छा अपनी माँ के समक्ष रखी। पर पप्पु नायर की माँ को यह विवाह स्वीकार नहीं था। क्योंकि भार्गवी समाज का सम्माननीय हिस्सा नहीं थी। पर पप्पु नायर के तर्कों के सामने माँ की एक न चली। पप्पु नायर ने कहा कि वह अन्धा है "छोटा भाई-रोज-रोज मेरा हाथ थाड़े ही बँटाएगा। मेरी सेवा के लिए आखिर एक व्यक्ति तो चाहिए ही।" पर माँ ने कहा कि यदि उसने भार्गवी से विवाह किया तो वह उसे अपने घर नहीं घुसने देगी। इस सबके बावजूद पप्पु नायर ने भार्गवी से विवाह कर लिया। घर के द्वार पप्पु नायर के लिए हमेशा के लिए बन्द हो गए।

छ्ठरू के दिनों में भार्गवी ने पप्पु नायर की अच्छी सेवा की। एक ब्राह्मण के घर में उसे बर्तन मांजने का काम भी मिल गया था जहाँ से उसे दो जून का भोजन और महीने में दस सेर धान भी मिलने लगा। पप्पु नायर भी अपनी सेवा से प्रसन्न था। लेकिन भार्गवी हमेशा मुरझाई-सी रहती थी। जीवन के कष्टों को सहती 20 की उमर में ही वो तीस की लगने लगी थी। फिर भार्गवी ने एक बालक को जन्म दिया। पप्पु नायर की खुशी का ठिकाना नहीं रहा। पप्पु नायर मन-ही-मन उस बच्चे की कुंडली बनाने लगा। बहुत सारे सपने बुनने लगा। वह सोचता कि वह बालक बड़ा होकर बाप को रामायण पढ़कर सुनाएगा। उसे काष्ठी-रामेष्ठवर की यात्रा के लिए ले जाएगा। वह उसका नाम

गोपिकारमण रखना चाहता था पर भार्गवी ने उसका नाम रामन रखा। पप्पु नायर के पूछने पर उसने कहा कि भीख माँगने वाले बच्चे को नाम रामन ही हो सकता है। रामन की पैदाइश के बाद भार्गवी काफी चिड़चिड़ी रहने लगी। अब वह न तो पप्पु नायर की ओर न ही अपने बच्चे की ठीक से देखभाल करती। जब रामन के अन्नप्राष्ठान का दिन आया तो भार्गवी ने पप्पु नायर के हाथों बच्चे को पहला कौर देने से मना कर दिया। उसने अपनी माँ से कहा कि वह बड़ा पेटू है। पप्पु नायर बहुत सहजता से भार्गवी की बात मन मसोसकर मान गया।

बच्चा जैसे-जैसे बड़ा होने लगा, घर की आर्थिक दशा गिरती गई। ब्राह्मण परिवार ने भार्गवी को चोरी के आरोप में काम से निकाल दिया। घर में कई दिनों तक अन्न का एक दाना भी नहीं आया। एक दिन एक पड़ोसी केषावन नायर ने भार्गवी को चार पैसे दिए जिससे भार्गवी ने चावल खरीदकर काँजी बनाई पर वह काँजी पप्पु नायर को नहीं दी। अपने बेटे व खुद भार्गवी ने सारी काँजी पी ली। पप्पु नायर मुहल्ले में रामायण सुनाने में लीन रहा। आधी रात ढलने पर उसे भूख के कारण नींद नहीं आई। और वह 'कुचेलवष्टतम्' काव्य (कष्णण गाथा से सम्बन्धित लय) गुनगुनाता रहा, उधर भार्गवी झल्लाती रही।

बच्चा धीरे-धीरे बड़ा होने लगा पर वह हमेशा माँ व नानी को तो पुकारता परन्तु बाप का नाम कभी नहीं लेता। उधर भार्गवी फिर से माँ बनने वाली थी। इस बार उसने एक कन्या को जन्म दिया। कन्या के जन्म के साथ पप्पु नायर फिर से सपने बुनने लगा। घर की दशा काफी बिगड़ चुकी थी। भार्गवी ने आत्महत्या भी करनी चाहीं परन्तु पप्पु नायर ने बच्चों का वास्ता देकर उसे रोक लिया। उधर बेटा रामन चोरी करने लगा था। दिन के समय पप्पु अपने बेटे रामन को पड़ोस के ब्राह्मण परिवार में भेज देता। वहाँ से जो काँजी मिलती माँ-बेटा उसे पीकर अपनी भूख मिटाते। **अगर कुछ बचता तो पप्पु नायर उसे पी लेता वह कहता 'रामायण सुनते रहने पर उसे खाने-पीने की चिन्ता नहीं सताती।** भार्गवी को फिर से गर्भ ठहर गया। पर इस बार बच्चा चार दिन का होकर मर गया। भार्गवी को ब्राह्मण परिवार में फिर से काम मिल गया। दोनों बच्चे आवारा हो गए। एक दिन पप्पु नायर ने रामन से पान माँगा तो उसने सुपारी की जगह कंकड़ पान में लपेटकर दे दिया। एक दिन माँ से झगड़ा होने पर उसने पप्पु नायर की लाठी को हाथ से धक्का दे दिया।

इधर पप्पु नायर पर भार्गवी के अत्याचार बढ़ने लग गए जिसे देखकर पड़ोसी दुखी होते पर पप्पु नायर उफ तक न करता। भार्गवी को एक भी अपशब्द न कहता। पप्पु नायर को अभी विष्णवास था कि उसके बच्चे पढ़-लिखकर बड़े अफसर बनेंगे। जबकि बच्चे चोरी करते थे और स्कूल भी नहीं जाते थे। एक दिन एक पड़ोसिन ने पप्पु नायर से कहा कि जिनके लिए तुम सपने देखते हो वो तुम्हारा बच्चा नहीं है। पप्पु नायर ने कहा बच्चे भगवान के होते हैं। उसने आगे कहा 'मैं बेवकूफ नहीं हूँ। जो आँखों से देख नहीं सकते वे अन्दर से होशियार होते हैं। मैंने थोड़ा-बहुत समझ लिया है। एक दिन इस घर में सिक्कों की खनखनाहट सुन पड़ी थी। पेट की आग वह कब तक बर्दाश्त करती। हो सकता है उसने गलती की हो पर दुनिया में अपनी इज्जत रखने के लिए उसे एक मर्द जो चाहिए था। **कम-से-कम उसका इतना उपकार तो कर सका।** पड़ोसिन पप्पु नायर का उत्तर सुन कर चली गई। उस रात भी लोगों ने उसे 'कुचेलवष्टतम्' काव्य गाते हुए सुना। यहाँ पर यह कहानी खत्म हो जाती है और हमें पप्पु नायर के व्यक्तित्व या उसकी त्याग-पूर्ण सोच के अनेक पहलुओं के बारे में विचार करने पर प्रेरित करती है।

मूल संवेदना और प्रासंगिकता

मलयालम के प्रेमचन्द कहे जाने वाले 'तकजी' प्रगतिशील विचारधारा के समर्थक लेखक थे। उन्होंने कहा भी है कि 'प्रगतिशील विचारधारा ने मुझपर असर डाला। सैद्धान्तिक रूप से मेरा मार्क्सवाद की ओर आकर्षण होता रहा। साम्यवाद ने मेरे लेखकीय व्यक्तित्व को रूपाकार देने में मदद पहुँचायी।' मार्क्सवाद का ही प्रभाव है कि जब मलयालम कथा साहित्य अतिरिजित वर्णन से युक्त होकर जीवन की वास्तविकता से विमुख हो रहा था ऐसे

समय में तकज़ी ने अपने साहित्य में यथार्थ जीवन की प्रस्तुति की। उनका साहित्य व्यक्ति और व्यक्ति तथा व्यक्ति और समाज के पारस्परिक सम्बंधों के बहुआयामी चित्र प्रस्तुत करता है।

‘अन्धे की धन्यता’ कहानी भी तकज़ी की उसी लेखकीय प्रतिबद्धता की कहानी है। अपने कथ्य में कहानी अत्यन्त संक्षिप्त होते हुए भी मानव-व्यवहार का व्यापक विष्टलेक्षण पप्पु नायर के माध्यम से करती है। वैसे भी तकज़ी मानते हैं कि ‘साहित्य का मूलभूत उद्देश्य हल्का मनोरंजन नहीं है। पाठकों की रुचि का परिष्कार और सुधार करना ही मुख्य बात है। जीवन की वास्तविकताओं की प्रभावशाली अभिव्यक्ति साहित्य का चरम लक्ष्य है।’ इसलिए यथार्थवादी शैली में तकज़ी ने समाज के पीड़ित मनुष्य की जीवंत कहानी पप्पु नायर के रूप में लिखी है। कहानी पप्पु नायर के ही ईर्द-गिर्द रची गई है। गाँव में बदचलन कहीं जाने वाली भार्गवी को पत्नी रूप में स्वीकार कर पप्पु नायर न सिर्फ अपने जीवन को आश्रय देता है बल्कि भार्गवी को भी सम्मान-पूर्वक जीवन जीने का सहारा प्रदान करता है। प्रारम्भ में भार्गवी भी पप्पु नायर की ठीक से देखभाल करती है परन्तु परिस्थितियाँ भार्गवी की सोच और उसके व्यवहार को बदल देती हैं। पर पप्पु नायर की विष्टोजता यह है कि आर्थिक-सामाजिक परिस्थितियाँ तथा भार्गवी से मिलती लगातार उपेक्षा और घृणीरक अक्षमता पप्पु नायर को हताशा व निराशा नहीं कर पाती। बाहरी अन्धेपन से जुड़ते हुए भी उसके भीतर की आस्था उसे पराजित नहीं होने देती और एक गहरी अन्तर्दृष्टि प्रदान करती है। इसलिए वह जीवन में सपने देखना बन्द नहीं करता। यह आस्था व विष्टवास पप्पु नायर के चरित्र का आधार हैं। इन्हीं के भरोसे भार्गवी व बच्चों की उपेक्षा के बावजूद पप्पु नायर सन्तोष को ही जीवन का धन मानता है।

सन्तोष और धैर्य को कहानी में जीवन मूल्य के रूप में लेखक ने स्थापित किया है। यही सन्तोष व धैर्य प्रेमचन्द की ईदगाह कहानी में दिखाई देते हैं। जिनके बलपर उस कहानी का नायक हामिद जैसा छोटा-सा बालक बाजार के समक्ष पराजित न होकर दादी के लिए चिमटा खरीदता है। तकज़ी प्रेमचन्द की भांति यह मानते हैं कि गरीब और समाज के वंचित व्यक्तियों में मानवता का वह अगाध स्रोत होता है, जो कई दफे समाज के उच्च वर्गीय और धार्मिक माने जाने वाले व्यक्तियों में भी नहीं होता।

पप्पु नायर न सिर्फ गरीब बल्कि दृष्टि बाधित भी है अर्थात् वह हर दृष्टि से समाज के दलित और वंचित श्रेणी का व्यक्ति है। लेकिन उसके व्यक्तित्व की आंतरिक समष्टि बहुत-ही विष्टाल है। वह भार्गवी द्वारा अपने प्रति किए गए अत्याचारों, अपमानों को न सिर्फ भुला दता है बल्कि व्यक्तिगत राग-द्वेष से ऊपर उठकर उसके इस बर्ताव का कारण उसकी गरीबी में देखता है। वह समझता है कि मनुष्य का बर्ताव उसकी आर्थिक-सामाजिक स्थितियों पर निर्भर करता है। इस कारण वह भार्गवी व अपने बेटे को सहज भाव से क्षमा करता है। तकज़ी का यह संकेत कि आर्थिक-सामाजिक स्थितियाँ व्यक्ति की कथनी और करनी को निर्धारित करती हैं साथ ही, समाज का उसके प्रति बर्ताव भी निर्धारित करती हैं। ये दोनों ‘फैक्टर’ व्यक्ति का भविष्य भी तय करते हैं।

पप्पु नायर को जीवन के प्रति ये अगाध विष्टवास धर्म से प्राप्त हुआ है। लगातार ‘रामायण’ सुनने और ‘कुचेलवष्टतम’ (कृष्ण गाथा) गाने से उपजा है और जो अवज्ञा व चक्षु हीनता में भीतरी प्रकाशा देता है। इसीलिए जब पड़ोसिन पप्पु नायर को कहती है कि “किस्मत को सराहो कि अन्धे हो। इस दुनिया का नरक आँखों देखना नहीं पड़ता।” तब पप्पु नायर कहता है “संसार में कोई कष्ट नहीं हुआ करता। रही गरीबी की बात सो वह भी दूर हो जाएगी। दुःख अगर है तो उसे साथ सुख भी तो है दीदी।” इसी प्रकार जब पड़ोसिन पप्पु नायर से बच्चों के विज्ञय में व भार्गवी के धोखे के विज्ञय में जिक्र करती है तो पप्पु नायर कहता है “कम-से-कम दुनिया ये तो नहीं कहेगी कि उन बच्चों का बाप कोई नहीं है” भार्गवी के विज्ञय में वह आगे कहता है कि “वह बेचारी कितने दिन भूख बर्दाशात करती रही! उसने गलती की हो यही उसकी रोटी का उपाय रहा होगा। दुनिया में अपनी इज्जत रखने के लिए उसे एक मर्द जो चाहिए। कम से कम इतना उपकार तो मैं कर सका।”

इस रूप में “अन्धे की धन्यता” कहानी पप्पु नायर के विष्टवास, मानवीयता, सहदता की बेजोड़ कहानी बन जाती है। घनघोर निराशा और गरीबी के बीच भी आशा और नैतिकता के भाव बने रहते हैं। इसलिए पप्पु नायर जैसा

व्यक्ति जीवन में आस्था बनाए रखता है। धर्म उसको सहारा प्रदान करता है। जिससे विपरीत परिस्थितियों में भी उसके जीवन का स्रोत सूखता नहीं है। इसीलिए तकजी लिखते हैं कि “वह मन का बड़ा उदार था। वह अन्धों में टटोलता नहीं था, उसका हृदय चित्र प्रकाश से उज्ज्वल था। उस प्रकाश धारा में अनेक ब्रह्माण्ड अणुओं की तरह खेल रहे थे।”

धर्म पप्पु नायर को अपनी परिस्थितियों को भुलाने की शक्ति प्रदान करता है। इसी के संबल पर भार्गवी की परिस्थितियों में होते हुए भी उसका आचरण भार्गवी के जैसा नहीं बल्कि कई सम्पन्न व्यक्तियों की तुलना में भी अत्यन्त उदात्त है। वह भार्गवी के प्रति अपने धर्म का पालन करता है। अपनी अक्षमता के कारण वह उसका भरण-पोषण करने में असमर्थ है लेकिन वह भार्गवी की सामाजिक मर्यादा की रक्षा करता है। उसके बच्चे को अपने बच्चे की तरह प्यार करता है और अपनी नियति की चिंता ईश्वर पर छोड़ देता है। पप्पु नायर का यह चरित्र उसके व्यक्तित्व की इस प्रकार की बुनावट के द्वारा लेखक ‘तकजी’ ने समाज को एक गहरी सोच के साथ जोड़ दिया है। इसमें भी कोई संदेह नहीं कि पप्पु नायर के उदारतापूर्ण निर्णय और आचरण को हमेशा स्वीकार नहीं जा सकता न ही व्यावहारिक बताया जा सकता है। फिर भी, उसके तर्कों पर आधारित उसके आचरण और कर्तव्य निर्वाह के विजय में आश्चर्य के साथ-साथ और सहानुभूतिपूर्ण विचार करने की प्रेरणा अवश्य देता है। उसने मानवीयता का बहुत अद्भुत उदाहरण पेश किया है।

‘तकजी’ इस कहानी में पप्पु नायर के माध्यम से एक परम्पराशील धार्मिक भारतीय मनुज्य की अवधारणा प्रस्तुत करते हैं लेकिन यह मनुज्य बदलती परिस्थितियों के साथ समाज में अप्रसंगिक होता जा रहा है। पप्पु की धार्मिकता उसके अपने मन को जितनी भी दृढ़ता प्रदान करे समाज में उसकी यह सदाशायता बेवकूफी और बेचारगी ही समझी जाती है। उसकी धार्मिकता भार्गवी या उसके बच्चे के आचरण को जरा भी छू नहीं पाती पर आज सच्चाई यह भी है कि समाज में पप्पु नायर जैसे ‘धार्मिकों’ की जगह पाखंडी लेते जा रहे हैं और पप्पु जैसे लोग उपेक्षा और अपमान के पात्र बनने को विवश हैं।

12. वारिस ष्टाह से! (अमृता प्रीतम)

डॉ. सरला चौधरी
रीडर, हिंदी-विभाग
मैत्रेयी कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय

भारत की सजग समर्पित लेखिका अमृता प्रीतम अपने आप में विलक्षण हैं। वह एक सफल उपन्यासकार, कहानीकार, सफरनामा लेखक और आत्मकथाकार हैं लेकिन उनकी प्रसिद्धि का मुख्य कारण उनकी कविता रही है। वे पंजाबी से अधिक हिन्दी जगत में लोकप्रिय कवयित्री हैं। उनके पिता पंजाबी भाजा के बहुत अच्छे और भक्तिमार्गी कवि थे।

साहित्य प्रतिभा अमृताजी को विरासत में मिली। पाकिस्तान बनने के बाद उनके पिता को अपने परिवार को लेकर भारत आना पड़ा। अमृता जी उस समय कच्ची, अल्हड़ आयु की थी फिर भी इस अप्राकृतिक विभाजन का उनपर गहरा प्रभाव पड़ा। तभी से उन्होंने लिखना प्रारम्भ कर दिया जिसका क्रम निरन्तर बना रहा।

अमृता जी की प्रतिभा नैसर्गिक है, ईश्वरीय है। उनका प्रथम कविता-संग्रह 'ठंडिया किरना' सन् 1935 में प्रकाशित हुआ जिसमें धार्मिक संदेष्टा और उपदेष्टा अधिक थे। 1936 में 'अमृता लहरा' की रचना की जिसमें उनकी किष्ठोर भावनाएँ व्यक्त हुईं। मॉर्क्सवादी विचार और प्रगतिशील लेखक आन्दोलन के सम्पर्क में आने के बाद ही उन्होंने सामाजिक और राजनीतिक कविताएँ लिखीं। इस दौर की उनकी महत्वपूर्ण रचनाओं में से एक है—'पत्थर गीते' जिसमें विरोध और आत्मदया जैसी काव्यात्मक मुद्राएँ मिलती हैं। उनकी काव्य-कला उत्तरोत्तर विकसित होती गई। 'जीउंदा जीवन' (1939), 'लोकपीड़ा' (1944), 'लेम्मियाँ वाटा' (1949), 'मैं तवारीख हाँ हिन्द दी' (1949), 'सरघी वेला' (1951)—इनके महत्वपूर्ण कविता-संग्रह हैं। 'सुनेहड़े', 'अष्टोका चेती' और कस्तूरी भी इनकी विष्टिाज्ठ काव्य-कृतियाँ हैं।

'सुनेहड़े' पर इन्हें साहित्य अकादमी का पुरस्कार मिला। अमृता प्रीतम साहित्य अकादमी पुरस्कार पाने वाली पहली महिला कवयित्री थीं। इस कृति में अपने भाग्य और सामाजिक कुरीतियों और कुप्रथाओं के विरुद्ध नारी की मार्मिक पीड़ा अभिव्यक्त हुई है। यह निजी पीड़ा और विजाद का स्वर है जिसे कवयित्री ने व्यापक मानवीय संदर्भ देने का सफल प्रयास किया है। 'मैं तवारीख हाँ हिन्द दी' (मैं हिन्द का इतिहास हूँ) देष्टा-विभाजन के विजय पर लिखी हुई एक उच्च कोटि की रचना है। 'सरघी वेला' उत्कृष्ट कविताओं का संग्रह है जिसमें अधिकतर प्रेम के कोमल गीत संगृहीत हैं। 1970 में प्रकाशित 'पिंजर' (उपन्यास) एक मर्मस्पर्शी रचना है जिसमें धार्मिक और राजनीतिक संघर्ष के साथ स्त्री-वेदना को स्वर दिया है। 'पिंजर' रचना दुनिया की आठ भाजाओं में प्रकाशित हुई। इसकी कहानी भारत के विभाजन की उस व्यथा को समेटे हुए है जो इतिहास की वेदना भी है और चेतना भी। यह रचना इतनी चर्चित हुई कि इसपर हिन्दी में फिल्म भी बनी।

1976 में छपी 'रसीदी टिकट' इनकी आत्मकथा है जो हिन्दी साहित्य-जगत में पर्याप्त चर्चा का विजय रही। 'रसीदी टिकट' के ये ष्टाब्द उनकी अंतर्नुभूति को स्वतः ही साकार कर देते हैं—“जिन्दगी जाने कैसी किताब है जिसकी इबारत अक्षर-अक्षर बनती है फिर अक्षर-अक्षर टूटती है, बिखरती है और बदलती है—चेतना की एक लम्बी यात्रा के बाद वक्त आता है, जब किसी में अपनी जिन्दगी के बीते हुए काल की व्यथा को व्यक्त

कर पाने की सामर्थ्य पैदा होती है और यही सब लिख पाने की सामर्थ्य का नाम है 'रसीदी टिकट'। इनकी हिन्दी में अनूदित पुस्तकें हैं—सात सवाल, तीसरी आँख, सात-मुसाफिर (साक्षात्कार) कोरे कागज़, हरदत्त का जिन्दगीनामा (उपन्यास), पाँच बरस की लम्बी लड़की, एक शहर की मौत एवं तीसरी औरत (कथा-संग्रह) तथा धूप का टुकड़ा, कागज और कैनवस अन्य (कविता संग्रह) हैं। इनकी लगभग 80 पुस्तकें प्रकाशित तथा कुछ पुस्तकें विष्टव की 34 भाजाओं में अनूदित हुईं। कविता, कहानी, उपन्यास, निबंध, आत्म-कथा जैसी विधाओं में लेखन कार्य किया जो इनकी अभूतपूर्व प्रतिभा का परिचायक है।

पत्रकारिता में भी इनकी विद्येज्ज रुचि रही। इसका ज्वलन्त प्रमाण यह है कि जीवन के अंतिम क्षणों तक वे पंजाबी मासिक पत्रिका 'नागमणि' के संपादन से जुड़ी रहीं। 1969 में भारत के राष्ट्रपति द्वारा इन्हें 'पद्मश्री' से सम्मानित किया गया। अमष्टताजी सम्मान पाने वाली प्रथम पंजाबी महिला है। पंजाबी-साहित्य में उनके योगदान के कारण उन्हें सर्वोच्च साहित्यिक 'ज्ञानपीठ पुरस्कार' से अलंकृत किया गया। 1973 में दिल्ली विश्वविद्यालय में विश्वभारती, शान्ति निकेतन, 1987 में पंजाबी विश्वविद्यालय, 1989 में मुम्बई से डी.लिट्. की मानद उपाधि से सुशोभित किया गया। **इनके कई उपन्यासों, कहानियों पर फीचर व टेली-फिल्में तथा टेली-सीरियल भी बने।**

इनकी कविताओं में प्रगतिवादी आन्दोलन की भी अभिव्यक्ति मिलती है। सामाजिक परिवर्तन की दृष्टि से इनका स्वर तीव्र विरोध और आक्रोश से भरपूर है जिसकी अभिव्यक्ति शोषित नारी पात्रों के वर्णन के माध्यम से हुई है। उन्होंने समानता, स्वतंत्रता और आर्थिक अवसर जैसे समाजवादी विचारों को स्वीकार करते हुए उनका प्रचार भी किया। यही विचारधारा इन काव्य पंक्तियों में भी देखने को मिलती है—

(क) खुदा

इन्सान की जिन्दगी का भाव
असले के भाव से कम क्यूं है
एक जिन्दगी की कीमत
एक बन्दूक से भी कम पड़ी...

(ख) खुदा!

मेरे शहर में जंगल उग आया है,
मैंने खुद सड़कों पर सूअर देखे हैं
भेड़िया घर में घुसकर
मासूम देहाती पर हमलावर हुआ
ऐ खुदा!
इस साल मेरे शहर को
वहशी दरिन्दों से महफूज रख!

वस्तुतः अमष्टता-प्रीतम ने अपने जीवन और रचनाकर्म में एक स्त्री, एक व्यक्ति और एक रचनाकार के रूप में निज़्ठा और सजगता का परिचय दिया। उनकी काव्य प्रतिभा अविरत विकासमान रही। बदलते हुए संबंधों की विडंबना और वेदना को कविताओं में सफलता पूर्वक व्यक्त किया। उनकी कविताएँ आत्मानुभूति की कविताएँ हैं। लेकिन उनका आत्म व्यक्तबद्ध न होकर 'पर' या 'लोक' से जुड़ा हुआ है। उनका काव्य मूल रूप से प्रेम का काव्य है। प्रेम के विविध रूपों का चित्रण पूरी तन्मयता और संवेदनात्मकता के साथ किया है। इनके सामने शब्द, अक्षर और अर्थ साकार होते हैं। वे शब्द को अर्थ सहित स्वीकार करती हैं। वाणी और अर्थ का सामंजस्य उनकी कविता की प्रमुख विशेषता है। अमष्टता जी की कलम से ओस-बूंदों की तरह निर्मल शब्द झरते हैं। अमष्टता-प्रीतम के पास पर्याप्त भाजा, प्रतीक और प्रकृति के रूपक विद्यमान हैं, बिम्ब और प्रतीक-सर्जना कविता का विशेष गुण है।

पाठ्यक्रम में निर्धारित अमष्टता प्रीतम की कविता 'वारिस ग्राह से' मूलतः उनकी पंजाबी कविता 'आखों

वारसष्ठाह नू' का हिन्दी रूपांतरण है। यह उनके 'मैं तवारीख हां हिंद दी' (मैं हिन्द का इतिहास हू' नामक कविता-संग्रह में संकलित है। मर्म का संस्पर्श करने वाली यह कविता एक प्रेमाख्यान है। पंजाब की प्रसिद्ध प्रेम कथा हीर-रांझा के यष्ठास्वी लेखक वारिसष्ठाह को उन्होंने अपनी कविता में पुकारा-ओ वारिसष्ठाह! अकेली हीर की पुकार सुनकर तुम्हारी करुणा उमड़ आई थी और इतना बड़ा महाकाव्य लिख दिया आज सैंकड़ों अनाथ निराश्रय हीर मानवीय बर्बरता की ष्टाकार तुम्हें पुकार रहीं हैं। क्यों नहीं तुम उनकी आवाज सुनते? **अमष्टता जी का संकेत उन संख्यातीत बेघर युवा ष्टरणार्थी स्त्रियों की ओर था जो विभाजन रेखा के दोनों ओर सामूहिक दंगों और हिंसा की बलि चढ़ गई।** वारिस ष्टाह का आह्वान करते हुए पंजाब वासियों के बीच प्रेम और भाईचारे के दिनों में वापसी के लिए अनुरोध है।

कविता का सार

अमष्टता प्रीतम वारिस ष्टाह के अनुरोध करती है कि वह कब्र में से बोलकर, अपनी प्रेम-गाथा 'हीर' में आगे का एक और पष्ठठ जोड़ दे। पहले तो पंजाब की एक बेटे की विरह-व्यथा से पसीजकर तुमने एक वष्टहद् विरह-काव्य ही लिख दिया था, पर आज लाखों बेटियाँ तुझे रो-रोकर पुकार रही हैं-**ओ दुखियों के हमदर्द!** जरा कब्र से जागकर अपने पंजाब और 'चनाब' जो खून से लबालब भरा है उसे आकर देख! यहाँ हर आँगन में लाखों बिछी हुई हैं। किसी ने पंजाब की पाँचों नदियों में ज़हर घोल दिया है और उनका जहरीला पानी पंजाब की धरती को विजैला बना रहा है। पंजाब की उर्वरा धरती का कण-कण विज उगल रहा है, चप्पा-चप्पा खून से लाल हो रहा है, कदम-कदम पर घष्टणा और क्रोध की अग्नि भड़क रही है। हर खेत, वन उपवन में ज़हरीली हवा बह रही है जिसने मानों हर बांसुरी को नागिन बना दिया है जिसके डंक से सारे पंजाब का रंग नीला पड़ गया है। **लोक-कंठ से गीत छिन गए हैं, चरखों के तकलों से सूत की तारें टूट गई हैं, मिल-बैठकर लोक-गीतों की धुन में एक साथ चरखा कातनेवाली सहेलियाँ बिखर गई हैं, कहीं चरखे की घूँ-घूँ का स्वर सुनाई नहीं देता।** स्वार्थी दुष्टों ने नौका को डूबो दिया है। रक्षक ही भक्षक बन गए हैं। पीपल की ष्टाखाओं-सहित झूले टूट गए हैं। बंधु-बांधव प्यार और सौंदर्य के लुटेरे बन गए हैं! **हाय! आज कहाँ से एक नया वारिसष्ठाह खोजकर लाएं!**

अमष्टता जी ने अपने काव्य के लिए एक खास तकनीक का प्रयोग किया। वे एक पौराणिक घटना लेती हैं। उसका विष्टलेक्षण कर उसे कल्पना से जोड़ती हैं फिर कविता से उनकी पुष्टि करती हैं। इसी तकनीक का प्रयोग इस कविता में भी है। उनके निजी अनुभव समकालीन इतिहास से हमेष्ठा जुड़े रहते हैं। उनकी ऐतिहासिक चेतना उनकी निजी चेतना से जुड़ जाती है। यही दष्टष्टिकोण इस कविता में भी झलकता है।

'वारिसष्ठाह से' कविता 1947 में हुए भारत के विभाजन पर आधारित है। यह विभाजन का आत्म-चीत्कार है। देष्ठा केवल दो टुकड़ों में ही नहीं बँटा अपितु ऐसे लगा जैसे सदियों से रह रहे सभी लोगों के मन का विभाजन हो गया। धर्म या साम्प्रदायिकता के नाम पर मानसिक दष्टष्टि से अलगाव होने लगा। विभाजन के दुःख दर्द, पीड़ा, वेदना को जिन लोगों ने भोगा, उस पीड़ा को इस कविता में हृदयस्पर्ष्ठी ढंग से प्रस्तुत किया है। विष्टोज रूप से एक स्त्री के साथ कितना अन्याय हुआ। इस वेदना की अभिव्यक्ति को कविता में उड़ेला है। इस संदर्भ में अमष्टता प्रीतम स्वयं कहती हैं- 'मेरे इस काव्य में वारिस से कहा है कि मात्र एक नारी की व्यथा को आपने हृदयस्पर्ष्ठी रूप से गाया है परन्तु अनेक नारियों की इतनी भयंकर दुर्दष्ठा हो रही थी तब आप चुप क्यों रहे? आइए वारिसष्ठाह, आइए और इन पुत्रियों की वेदना को वाणी दीजिए।'

लेखिका वारिसष्ठाह को संबोधित करते हुए कहती हैं कि तुम अपनी कब्र से बोलो। प्रेम-इष्टक की किताब का कोई नया पन्ना (पष्ठठ) खोलने के लिए अनुरोध करती है। यहाँ प्रष्टन उठता है कि कवयित्री वारिसष्ठाह को ही संबोधित क्यों कर रही है? क्योंकि उसने पहले ही 'हीर-रांझा' के अमर प्रेम के किस्से की रचना की थी। इसको पढ़कर लगता है कि वह किसी और प्रेमी-युगल की चर्चा करना चाहती हैं, लेकिन वास्तविकता यह नहीं। जब हम आगे पढ़ते हैं कि पंजाब की कोई एक बेटे रोई तो वह संकेत करता है हीर की तरफ, जो रांझे के विरह में तड़प रही है उसके लिए तुमने एक लम्बी दास्तान लिख दी। आज पंजाब का बँटवारा हुआ जिसने भारत की लाखों बेटियों को रोने पर विवष्ठा कर दिया। चारों ओर कुएँ, तालाब लाखों से भर गए। पंजाब (जो उपजाऊ धरती के लिए प्रसिद्ध

था) के दरिया, अत्याचार, अन्याय, खून खराबों से भर गए। पाँचों नदियाँ जो देष्ठा को उपजाऊ बनाती थी आज उनमें खून बह रहा है। धर्म के नाम पर खून-खराबा हो रहा है, परस्पर लोग लड़ने-झगड़ने लगे, भाईचारा समाप्त हो गया। एक दूसरे पर से विषवास उठ गया।

चारों ओर घृणा और नफरत की अग्नि फैल गई। समूचा वातावरण विजाक्त (जहरीला) हो गया। हवा में भी नफरत का ज़हर फैल गया। जंगल के बांसों से जो बांसुरी बन सकती थी। बांसुरी मीठी ध्वनि, मित्रता का सूचक थी। अब वही बांस दूसरों को डसने (डंक) वाले नाग बन गए। जब बांसुरी रूपी नाग या विजैले सर्प होठों पर लगे, उनके होंठों के साथ-साथ अंग भी काले पड़ गए और नीले हो गए अर्थात् जिस प्रकार साँप डस ले तो सारा शरीर काला-नीला पड़ जाता है। उसी प्रकार विभाजन के समय संपूर्ण वातावरण विजैला हो गया। **इतना दंगा फसाद और खून-खराबा हुआ कि उसमें समूचा पंजाब नीला पड़ गया अर्थात् भाईचारा, प्रेम, सौहार्द सभी कुछ समाप्त हो गया।**

पंजाबी संस्कृति की पहचान है—‘त्रिंद्गण’। गाँव की औरतें काम करके आंगन में बैठकर फुलकारी काढ़ती थीं, चरखा चलाती थीं, साथ लोकगीत गाती थीं और नष्ट्य भी करती थीं—यह सब पंजाब की संस्कृति का अभिन्न और रोचक अंग रहा है। उसमें धर्म, अमीरी-गरीबी का कोई भेदभाव नहीं था। लेकिन अब पंजाब के बंटवारे ने ‘त्रिंद्गण’ की मानवीय और भाईचारे की परम्परा को ही समाप्त कर दिया। इसलिए लेखिका का कथन है कि गीत टूट गया, सहेलियाँ बिछुड़ गईं। अब उनकी मानसिकता ही बदल गई। चरखे से सूत कातना ही बंद हो गया। इस बंटवारे ने पंजाब की संस्कृति ही समाप्त कर दी। जिन कारणों से पंजाब की एक अलग पहचान थी, वह सब तहस-नहस हो गया। प्यार का नामोनिष्ठान ही मिट गया। प्यार की पेंग बढ़ाने के लिए जिन पेड़ों पर झूले डाले, वे टहनियों समेत ही टूट गए, झूला झूलना युवतियाँ भूल गईं। कहने का अभिप्राय यह है कि पंजाब की संस्कृति के प्राण तत्त्व समाप्त हो गए। किष्ठितयों का चलना, झूले झूलना, प्रेम के गीत गाना—सब खाक हो गया। **कहने को तो देष्ठा के दो टुकड़े हुए परन्तु वस्तुस्थिति यह थी कि कई-कई टुकड़ों में बंट गया प्यारा पंजाब।** इसकी संस्कृति बिखर गई। सदियों से पंजाब की जो छवि थी वह बंटवारे के साथ दहष्ठात में बदल गई।

इस भयावह स्थिति को देख ऐसा प्रतीत होता है कि पंजाब की धरती के सभी लोग आज ‘कैदो’ (कैदो हीर का मामा था जिसने हीर को रांझे से अलग करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई) बन गए, प्रेम के दुष्टमन बन गए जिन्होंने पंजाब की संस्कृति में निहित प्रेम, भाईचारा, सद्भाव को नफरत में बदल दिया। एक ओर तो अमष्टता प्रीतम वारिसष्ठाह लेखक को कब्र से आने के लिए करुण पुकार कर रही है और इस बात पर बल दे रही है कि तू इस व्यथा को लेखनी में बद्ध कर। दूसरी ओर लेखिका अपनी विवशता प्रकट करते हुए कहती हैं कि वारिसष्ठाह कब्र से कैसे आएँ।

वस्तुतः कवयित्री ने अपनी अन्तर्वेदना को मार्मिक अभिव्यक्ति देने के लिए वारिसष्ठाह को माध्यम बनाया है। वारिसष्ठाह को कहने के बहाने से पंजाब की संपूर्ण वेदना को अभिव्यक्ति किया है। पंजाब की बिखरती संस्कृति, समाप्त होते भाईचारे को दर्शाते हुए वारिसष्ठाह को संबोधित किया है।

यह एक श्लोकगीत है जिसमें कारुणिक अभिव्यक्ति है। विभाजन केवल स्थूल रूप से देष्ठा का ही नहीं था अपितु यह विभाजन था—मन का, मन से। मानसिकता का ही बंटवारा हो गया। घृणा, द्वेष, साम्प्रदायिकता की भावनाएँ मैत्री, भाईचारे, सद्भाव और सौहार्द पर हावी हो गईं। खिलखिलाता और लहलहराता पंजाब लहलुहान हो गया। इससे लेखिका का मन विक्षुब्ध है। उन्होंने अपनी ज़ख्मी आत्मा की तड़प, युग की थरथराहट को इस कविता में दर्शाया है। कवयित्री ने ऐतिहासिक संदर्भ के द्वारा पंजाब की मर्मन्तक पीड़ा को शब्दों की तूलिका से उभारा है।

अमष्टता प्रीतम की सभी रचनाएँ मूलतः स्त्री केन्द्रित है। इनका काव्य औरत को रिष्ठतों की विभिन्न परतों में प्रस्तुत करने का अथक प्रयास है। उनकी कविता जीवन के शाष्ठवत मानदण्डों और चिरस्थायी मूल्यों पर आधष्ठत है। क्षणिक उद्वेग और समसामयिक प्रासंगिकता उनकी कविताओं में नहीं अपितु प्रेम और पीड़ा जैसी प्रवष्ठतियाँ उनमें

उपस्थित हैं। मनुज्य जीवन के उतार-चढ़ाव, उत्थान-पतन, हानि-लाभ का लेखा-जोखा उनकी कविताएँ नहीं, अपितु ये सब परिस्थितियाँ तो उनके लेखन की आग को धधकाने में लकड़ी का काम करती हैं। किसी विद्वान ने अमृता प्रीतम से एक बार में प्रश्न किया कि आप सिर्फ देष्टा स्तर की ही नहीं अपितु विष्टव-स्तर की लेखिका हैं। आज के इस माहौल पर आपकी क्या टिप्पणी है उनका उत्तर था—

‘चेतना का बीज तो सबके अंतर में था, वह क्यों सूख गया? मिट्टी, पानी, पवन, अग्नि जैसी सहज, ष्क्तियों से इन्सान क्यों बेगाना हो गया।’

इसी सहजता की जरूरत है आज। विष्टवास की जमीन खो गई है, जमीन खो गई तो खिलने की संभावना भी खो गई।

इस कविता की प्रासंगिकता को पापुलर संस्कृति से जोड़कर भी देखा जा सकता है। पापुलर संस्कृति वास्तव में आज की तेज रफतार के साथ चलने वाली गतिशील ज़िंदगी की संकल्पना है जिसका स्वरूप मीडिया, फिल्मों, टी.वी., फैशन, खेल-कूद, संगीत, नष्ट्य आदि में व्यक्त रहता है। पापुलर कल्चर या लोक संस्कृति इन संप्रेक्षण माध्यमों में व्यजित है। ‘वारिस ष्टाह से’ कविता को इस संदर्भ के साथ जोड़कर देखें तो उसमें चित्रित खुले आंगन में बैठकर चरखा चलाना, फुलकारी काढ़ना, नष्ट्य करना, संगीत की थाप आदि क्रिया-कलाप खुलेपन, सौहार्द, उदारता का द्योतक हैं। आज की जिन्दगी बन्द कमरों में सिमटकर रह गई है। ‘टी.वी.’ जिसे ‘इडियट’ बॉक्स भी कहा गया है, जिसने जीवन को निष्क्रिय और अकर्मण्य बना दिया है, हमारी बुद्धि को कुठित कर दिया है, दिमाग को बौना बना दिया है, यह कविता इस सोच के लिए विवष्टा कर देती है कि जीवन के विकास के लिए बन्द कमरों से निकलकर खुली हवा में सांस लेनी होगी।

इसके साथ ही प्रस्तुत कविता प्रेम, इष्टक का प्रतीक है जो संवेदनशीलता की ओर इंगित करती है। केवल एक हीर की वेदना, पीड़ा को देख कवि ने ‘हीरवारिस’ जैसे बड़े महाकाव्य की रचना कर दी। आज तो सैंकड़ों नारियाँ पीड़ित हैं, दुखी हैं, घर-घर हीर को लोग मरवा रहे हैं, लोगों की संवेदना षून्य हो गई है। सर्वत्र हिंसा, द्वेज, घृणा ने अपना साम्राज्य फैलाया हुआ है। सद्भावनाएँ समाप्त हो गई हैं। पड़ोसी रक्षक की अपेक्षा भक्षक बन गए हैं। आपसी रिष्टते तार-तार हो गए हैं। सभी रिष्टते इतने पराए और अजनबी हो गए कि हर कोई आज ‘कैदो’ बन गया है। प्रियजन पर से विष्टवास उठ गया है, वह कुछ भी कर सकता है। जरूरत है संवेदनशीलता की, प्रेम की, सौहार्द की। लेखिका जब कहती हैं।

पंजाब की एक बेटी रोयी थी
तूने एक लम्बी दास्तान लिखी,
आज लाखों बेटियाँ रो रही हैं

‘लाखों बेटियाँ’ से व्यजित हैं नारी-उत्पीड़न के कई रूप—किसी की इज्जत का तार-तार होना, किसी का परिवार से बिछुड़ जाना, बलात्कार होना आदि। मानवीय प्रेम की झलक कवयित्री हर उस व्यक्ति में देखना चाहती है जो बदली हुई परिस्थितियों में कहीं खो-सी गयी है। वे वर्तमान को सबलता प्रदान करने का प्रयास करती हैं।

अमृता प्रीतम कितने गहन ष्टब्दों में अपने घर का पता देकर इस कविता की प्रासंगिकता पर प्रकाषा डालती हैं। उन्होंने कहा—मेरा पता :

आज मैंने अपने घर का नम्बर मिटाया है
और गली के माथे पर लगा गली का नाम हटाया है
और हर सड़क की दिष्टा का नाम पोंछ दिया है
पर अगर आपको मुझे जरूर पाना है
तो हर देष्टा के, हर ष्टाहर की, हर गली का

द्वार खटखटाओ
 यह एक छााप है, एक वर है
 और जहाँ भी आज़ाद रूह की झलक पड़े
 –समझना वह मेरा घर है।

शब्दार्थ-बोध

कब्र-मुर्दा दफ़नाने का गड्ढा (समाधि)। **वर्क**-पन्ना, पल्लव। **इष्टक की किताब**-प्रेमाख्यान। **दास्तान**-आख्यान। **दर्दमन्द**-करुणशील। **चौपाल**-छायादार बड़ा चबूतरा, मंडपाकार बैठक जहाँ गाँव के लोग पंचायत करते हैं। **अटा**-भर जाना। **चनाब**-चेनाब नदी, पंजाब की पाँच नदियों में से एक (चन्द्रभागा) **पाँच दरिया**-पंच नद, **पाँच नदियाँ**-सिंधु, झेलम, चेनाब, रावी, सतलज। अविभाजित पंजाब में ये पाँचों नदियाँ बहती थीं जिसके आधार पर इस प्रांत का नामकरण हुआ था। **ज़रखेज**-ऊर्वर, उपजाऊ। **सुर्खी**-(खून की) लाली। **कहर**-दमन, अत्याचार, आपत्ति। **महफ़िल**-सभा, समाज। **मल्लाह**-केवट, नाव चलाने वाला। **किष्टी**-नाव, नौका। **पेंग**-वष्टक की टहनी रस्सी लटका कर बनाया गया झूला। **शहज़ादी**-राजकुमारी। **नगमें**-गीत, गाना। **मज़ार**-समाधि। **हुस्न**-रूप, सौन्दर्य। **इष्टक**-प्रेम, प्यार।

टिप्पणी-

वारिसग़ाह-अठारहवीं सदी के पंजाबी भाज़ा के एक सर्वश्रेष्ठ सुप्रसिद्ध किस्साकार थे। हीर-रांज़ा का किस्सा लिखा, जिसकी एक अलग पहचान थी। पंजाब के अनेक कवियों ने हीर-रांज़ा की कथा को काव्य का विजय बनाकर इनकी अपेक्षा अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने का प्रयास किया परन्तु इस क्षेत्र में आज तक वारिस अप्रतिम माने जाते हैं। 'हीर वारिस' कृति को जितनी लोकप्रियता मिली उतनी किसी और को नहीं। चौदहवीं सदी की प्रेम-गाथा 'हीर रांज़ा' पंजाब की जनवाणी में इतनी लोकप्रिय है कि इसपर अनेक काव्य-आख्यान रचे गए। इस परम्परा में हीर वारिस ग़ाह का नाम ही सर्वाधिक प्रचलित एवं महत्त्वपूर्ण है। पंजाबी गुरुमुखी लिपि में 'वारस' प्रचलित है, वारिस नहीं।

हीर-इंग (वर्तमान पाकिस्तान के पंजाब में चनाब नदी के तट पर स्थित)-निवासी, स्याल जाति के सूचक मुस्लिम राजपूत की पुत्री। हज़ारा-निवासी 'रांज़ा' नामक युवक के अनन्य प्रेम करने वाली। विवेच्य कविता में 'उल्लिखित' पंजाब की बेटी वस्तुतः यही हीर है जिसने अपने प्रेमी 'रांज़ा' के वियोग में (सन् 1453 ई) में प्राण त्याग दिए थे। लोक-वाणी में 'हीर' दैवी प्रणय (इष्टक हकीकी की प्रतीक मानी जाती है)

रांज़ा-पंजाब (वर्तमान पाकिस्तान) में चनाब नदी के तट पर स्थित 'हज़ारा' का निवासी, एक मुस्लिम राजपूत युवक जो हीर के पिता के पास चरवाहे की नौकरी करता था। वह कुष्ठाल बांसुरी वादक था। इन दोनों की अमर प्रणय गाथा लोकवाणी में इतनी प्रचलित एवं लोकप्रिय है कि रांज़ा अमर दिव्य प्रेम का प्रतीक ही माना जाने लगा। आज भी पंजाब के जन-समुदाय में 'परमप्रिय' व्यक्ति अथवा किसी बांके, अद्भुत सुंदर-मोहक युवा को रांज़ा के प्रतीक नाम से संबोधित किया जाता है। इनकी प्रेम कथा बहुत त्रासद रही।

कैदो-हीर का मामा जिसने हीर को रांज़े से अलग करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। वह हीर-रांज़ा के परस्पर प्रेम का उग्र विरोधी था। नाविक (बुड्डन) के साथ ज़ाडयंत्र कर रांज़ा की नौका को डुबो दिया था। तभी से यह नाम प्रेम के कपटी दुष्टमनों के लिए लिया जाने लगा।

संदर्भ-ग्रंथ

1. भारतीय साहित्य कोषा (संपादक डॉ. नगेन्द्र)
2. भारतीय साहित्य : एक परिचय (अंजना नीरादेव, बजरंगबिहारी तिवारी, सनम खन्ना द्वारा दिल्ली विष्टवविद्यालय के लिए संपादन)
3. भारतीय साहित्य और संस्कृति (संपादन विमलेशकान्ति वर्मा, मालती)

4. अमष्टता प्रीतम चुनी हुई कहानियाँ, चुने हुए निबन्ध-मेरी सम्पादकीय डायरी-अमष्टता प्रीतम
5. मन मिर्जा तन साहिबाँ-अमष्टता प्रीतम
6. अमष्टता प्रीतम पर ध्यानस्थ-संपादन दिनेष्ठा द्विवेदी
7. यह कलम, यह कागज़, यह अक्षर-अमष्टता प्रीतम
8. *Comarative Indian Literature*, Volume I Director and chief Editor K.M Gerorge (1984)
9. इन्द्रप्रस्थ भारती (भारतीय साहित्य विष्टोज्ञांक जुलाई-सितंबर 2002)

13. विधवा (गुडिपाटी वेंकट चलम)

डॉ. हर्जबाला शर्मा
प्रवक्ता, हिन्दी-विभाग
इन्द्रप्रस्थ महाविद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय

गुडिपाटी वेंकट चलम तेलुगु भाज्जी लेखक व दार्शनिक हैं। आधुनिक तेलुगु साहित्य के वे एक प्रभावशाली व्यक्तित्व माने जाते हैं। तेलुगु भाज्जा भारत में लगभग 10 करोड़ व्यक्तियों द्वारा बोली जाती है। 20वीं सदी के आरम्भ में इस भाज्जा के साहित्यिक विकास व लोगों के भाज्जा के प्रति रुझान को सर्वाधिक महसूस किया गया। 'चलम' का लेखन काल बीसवीं सदी का आरम्भ है। इनका अधिकांश लेखन 'स्त्री' के संदर्भों में समाज के विचारों को प्रकट करने वाला है, इनके लेखन का मुख्य विज्ञय अपने परिवार और अपने समाज में स्त्री के सामने आने वाली शारीरिक व मानसिक, मनोवैज्ञानिक समस्याओं का चित्रण करना रहा है। 'चलम' ने अपनी रचनाओं के माध्यम से स्त्री को इन समस्याओं का सामना करने का साहस प्रदान किया। 'स्त्री' उनकी रचनाओं की केन्द्र बिन्दु है, चाहे लेखन की दृष्टि से या दार्शनिक दृष्टि से। उनकी लेखन शैली से तीव्र कटाक्ष की धार मिलती है जो उनके साहित्य को विष्टिाज्ज बनाती है।

रचनाकार ने सन् 1972 'चलम' में शीर्षक से अपनी आत्मकथा लिखी। इसमें उन्होंने बचपन की विभिन्न घटनाओं का वर्णन किया। उनका जन्म 18 मई 1849 को मद्रास (अब चेन्नई) में हुआ। माता का नाम वेंकट सुबम्मा और पिता का नाम कोमुरी सम्बाश्टिवराव था। पिता के अमानुजिक व्यवहार के कारण-जिसकी चर्चा स्वयं 'चलम' ने अपनी आत्मकथा में की है-नाना ने बचपन में ही इन्हें गोद दे लिया। इसलिए उन्हें 'कोमुरी' से बदलकर 'गुडिपाटी' उपनाम दिया।

युग-परिवेष्ट

चलम (1894-1979) का लेखन कार्य 1921 से आरम्भ हुआ। जिस समय चलम ने लिखना आरम्भ किया, उस समय समाज में सामंती सोच की प्रधानता थी। अपने 50 वर्षों के लेखन के दौरान इन्होंने स्त्री-पुरुज के सामाजिक सम्बन्धों पर लिखा व अनेक महत्वपूर्ण प्रष्टनों को उठाया। यही समय था जब वह रघुपति वेंकट रमण नायडु के द्वारा

आंध्रप्रदेश में स्थापित ब्रह्म समाज के प्रति आकर्षित हुए। ब्रह्म समाज में हिन्दू समाज की बहुत-सी रूढ़ियों के प्रति विरोध था परन्तु हिन्दू रूढ़िवाद, जिसमें स्त्री-पुरुष की समानता पर कोई बल नहीं दिया गया, का विरोध जब ब्रह्म समाज नहीं कर सका तो उनमें असंतुष्टि का जन्म हुआ।

चलम का युग राजनीतिक चेतना के प्रादुर्भाव व विकास का युग था। राष्ट्रीय आन्दोलनों से लोग जुड़ रहे थे परन्तु चलम इन आन्दोलनों से न जुड़ सके क्योंकि आन्दोलन चलाने वाले विभिन्न व्यक्तित्वों के चरित्रों की दोहरी खाई चलम पाट न सके। जो व्यक्ति घर के बाहर विस्तृत सोच एवम् मानसिकता का प्रदर्शन करते थे, घर के भीतर वही रूढ़िवादी एवं संकुचित मानसिकता का पोज़ण करते थे। स्त्री को सामाजिक और नैतिकता के नाम पर, समाज को जाति व धर्म के नाम पर बांटने वाले लोगों के साथ चलम की आस्था। जुड़ना संभव नहीं था। बाहर सभ्य और सुसंस्कृत दिखने वाले अधिकांश लोग भीतर से व्यक्तिवादी एवम् अवसरवादी थे। स्त्री मुक्ति का स्वप्न राष्ट्रीय आन्दोलन से जुड़े व्यक्तियों की सोच का हिस्सा न था। अतः चलम इन आन्दोलनों से जुड़ न सके।

अनेक बुर्जुआवादी देशों में आधुनिक विचारों का प्रसार हो रहा था परन्तु चलम एक उपनिवेश (भारत) से सम्बद्ध थे अतः बुर्जुआवादी देशों के विचारों से उन्होंने सदैव असहमति व्यक्त की। यही वह समय था जब भारत में रूस के प्रभाव से कामगार आन्दोलन आरंभ हुआ। चलम एक ओर रूस के साम्यवादी दर्शन से अत्यंत प्रभावित थे और उसके अनुरूप दुनिया के निर्माण का स्वप्न देखा करते थे वहीं दूसरी ओर पूंजीवादी देशों द्वारा साम्यवादी देशों और उनके विचारों की उनके आलोचना भी सभी पर प्रभाव डाल रही थी। चलम पर भी इसका प्रभाव पड़ा। फलस्वरूप वे कामगार आन्दोलन से नहीं जुड़ सके। उनकी पत्नी रंगनायकम्मा इस संबंध में लिखते हुए उदाहरण देती हैं कि 'लेनिन द्वारा चलाए गए आंदोलन से टालस्टॉय जैसा रचनाकार भी नहीं जुड़ सका क्योंकि आंदोलन की पूर्ण रूपरेखा उनके समक्ष स्पष्ट नहीं थी!' चलम भी संपूर्ण विचारधारा का ज्ञान न रख पाने के कारण उस आंदोलन से न जुड़ सके।

विचारधारा चिन्तन

चलम की पत्नी 'रंगनायकम्मा' ने मई 1979 में चलम की विचारधारा को दर्शाते हुए एक लेख लिखा जो तेलुगु पत्रिका 'प्रजा सहिति' में प्रकाशित हुआ। 'प्रजा सहिति' अर्थात् लोगों का साहित्य। उन्होंने चलम की विचारधारा का उल्लेख करते हुए लिखा—“स्त्री की भी अपनी देह है जिसे व्यायाम की आवश्यकता है, मस्तिष्क है जिसे ज्ञान की आवश्यकता है, दिल है जिसे अनुभव की आवश्यकता है।” चलम का समस्त चिन्तन इन्हीं पंक्तियों पर आधारित है। उन्होंने स्त्री की देह और मन की पीड़ा को अपनी रचना का केन्द्र बनाया। वे एक महान विचारक तथा प्रगतिशील रचनाकार थे।

अपनी अद्भुत क्षमता व कलात्मक योग्यता के माध्यम से उन्होंने स्त्री की शक्ति व कमजोरी दोनों के संबंध में लिखा। स्त्री द्वारा अपने समाज के रूढ़िवादी सोच के विरुद्ध किए जाने वाले व्यक्तिगत संघर्ष को भी उन्होंने स्वर दिया है। इसी क्रम में उनकी विचारधारा पर आरम्भिक प्रभाव रघुपति वेंकट रमण नायडू की प्रार्थनाओं का पड़ा, जिन्होंने आंध्र प्रदेश में ब्रह्म समाज की स्थापना की थी। आरम्भिक जीवन में उन्होंने विभिन्न धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन किया। इसी समय उनकी बहन 'अम्मामणी' का विवाह उसकी इच्छा के बिना ही कर दिया गया। इस घटना ने उनकी समस्त विचारधारा का केन्द्र 'स्त्री' को बना दिया।

'चलम' को अपने संबंध में स्वयं कुछ भी लिखना स्वीकार नहीं था परन्तु उन्होंने स्वयं अपनी आत्मकथा 1972 में 'चलम्' नाम से लिखी। इस आत्मकथा में उन्होंने 'पूर्वकथन' के रूप में जिन शब्दों को लिखा उससे उनकी स्पष्ट कथन की प्रवृत्ति का ज्ञान होता है—

“मुझे आत्मकथा लेखन से नफ़रत है। आत्मकथा लिखकर मानो मैं सबकुछ अपने सामने ही व्यक्त

कर देता हूँ अप्रत्यक्ष रूप से ही सही, मगर सबको अपने महत्त्वपूर्ण होने की सूचना दे देता हूँ। मानो मैंने अपने समाज और लोगों के लिए कितने बड़े और महत्त्वपूर्ण कार्य किए हैं और यदि मैं उसका वर्णन नहीं करूँगा तो विष्टव का बहुत बड़ा नुकसान होगा। मानो मेरे बारे में न जानने में संसार में सब कुछ खत्म हो जाएगा। मेरे जैसे व्यक्ति के लिए जो सदैव स्वयं से ही यह प्रश्न करता है कि मेरा जन्म क्यों हुआ और यदि जन्म हुआ भी तो संसार को कोई कष्ट दिए बिना ही मेरी मष्ट्यु क्यों नहीं हो गई, आत्मकथा लिखना एक ऐसा धर्मनाक कार्य है जिसके लिए मुझे क्षमा नहीं किया जाना चाहिए।”

चलम ने अपने विचारों को विष्टोज्ञ रूप से तीन क्षेत्रों में प्रकट किया—(i) स्त्री-पुरुष संबंध, (ii) शिक्षा व (ii) बच्चों के प्रति माता-पिता के कर्तव्य। स्त्री-पुरुष के मध्य मित्रता व प्रेम संबंधों का इन्होंने समर्थन करते हुए पारंपरिक रूढ़िवादी वैवाहिक सामाजिक बंधनों का विरोध किया। चलम ने विचारों को जागृत करने वाली शिक्षा प्रणाली का समर्थन किया तथा बच्चों को पालने व बड़ा करने की जिम्मेदारी को माता-पिता के कर्तव्य के रूप में परिभाषित किया।

चलम के समय की सामाजिक संरचना स्त्री को बंधनों में बांधने का समर्थन करती थीं। चलम की विचारधारा इन बंधनों के विरोध में उपजती है। ‘स्त्री विमर्षा’ के आज के दौर में जब इस बात का समर्थन किया जाता है कि स्त्री ही स्त्री के मन की भावनाओं व उसकी पीड़ा को अनुभव कर सकती है, पुरुष नहीं। ऐसे में गुडिपाटि वेंकट चलम एक ऐसे अपवाद के रूप में दिखाई देते हैं जिन्होंने स्त्री की पीड़ा को ही नहीं, उसके मनोवैज्ञानिक बंधनों, तनावों को जिस सशक्तता से उभार दिया, घायद स्वयं स्त्रियाँ भी उतनी तीव्र मारक क्षमता के साथ अपनी भावनाओं को व्यक्त नहीं कर सकती। इनकी समस्त विचारधाराओं का केन्द्र—‘स्त्री’ है। स्त्री की मुक्ति, उसकी गरिमा, उसकी छटपटाहट व समाजिक बन्धनों से मुक्ति की चाह ही इनके चिन्तन का मूल बिन्दु है।

छौली-छिल्लप

गुडिपाटि वेंकट चलम की प्रमुख रचनाएँ हैं—उपन्यासः—मैदानम्, शृष्टि रेखा, दयवामिच्छिन्ना भार्या, जीवितादर्शम्, ब्रह्मणिकम्, बुज्जिगाडु। लघु कथा संग्रह—जलन (जैलसी), ‘आ, रथरि’, प्रेमपर्यवसानम्, सत्यं शिवं सुन्दरम्। अन्य—म्यूजिनास, पापम्, प्रेयूखालु आदि।

चलम अपने विचार, दर्शन और व्यवहार में क्रांतिकारी थे। प्राचीन रूढ़िवादी परंपरा का कोई भी रूप इन्हें स्वीकार्य नहीं था। ब्राह्मण संस्कारिता होते हुए भी उसे तोड़कर माँसाहारी भोजन का आरंभ, यज्ञोपवीत् का त्याग, पत्नी को कान्वेंट स्कूल में पढ़वाना आदि ऐसे ही क्रांतिकारी कार्य थे। वही क्रांति-धर्मिता इनके छिल्लप में देखी जा सकती है।

चलम की रचनाएँ स्त्री-मुक्ति की घोषणा करती हैं अतः उनका छिल्लप मुख्यतः व्यंग्यात्मक टोन से निर्मित हुआ है। सामंतवादी सोच के विरुद्ध लिखी इनकी रचनाएँ विभिन्न प्रतीकों व चिहनों के माध्यम से स्त्री की आंतरिक चेतना का उद्घाटन करती है। प्रतीकों के रूप में इन्होंने अधिकांश स्त्रीवादी प्रतीकों को ही चुना जैसे “बिल्ली दूध पीना चाहती है क्या ख” बिल्ली की अदम्य आकांक्षा है कि वह दूध पी सके ठीक उसी प्रकार स्त्री के मन में अनेक छिपी आकांक्षाएँ हैं जिन्हें वह पूरा करना चाहती है पर करने में असमर्थ है।

सहज, सरल, छोटे-छोटे वाक्यों में पर तीव्र व्यंग्यात्मक अंदाज में लिखी इनकी रचनाएँ समाज के बहुरूपी चरित्र का उद्घाटन करती हैं। उपन्यासों से लेकर लघु कहानियों तक उनकी सभी रचनाएँ सशक्त भाषा और उपयुक्त वातावरण का निर्माण करने के लिए जानी जाती हैं। सूक्ष्म मानसिक स्थितियों का अनावरण करता हुआ छिल्लप इनकी निजी विष्टिज्जता माना जा सकता है। विभिन्न मनोवैज्ञानिक भावनाओं का चित्रण करती हुई इनकी रचनाएँ स्त्री के आंतरिक जगत के अंधेरे कोने में छिपी वष्टितियों को उभारकर लाने में समर्थ सिद्ध हुई है।

रचना का सार

पाठ्यक्रम में निर्धारित रचना 'विधवा' वेंकट चलम् की कहानी का हिन्दी अनुवाद है। यह रचना विधवा जीवन की तहों को परत-दर-परत खोलते हुए अनेक प्रश्नों को हमारे समक्ष प्रस्तुत करती है व विचार के लिए बाध्य करती है। विधवा स्त्री के प्रति दया, सहानुभूति व मानवीय करुणा से भरकर रचनाकारों ने अनेक कृतियों का निर्माण किया परन्तु स्त्री दृष्टा और उसके भीतर की अदम्य आकांक्षा को किसी कृतिकार ने मूर्त नहीं किया। पीड़ित की दृष्टा देखकर आँसू बहाना एक अलग बात है और उसे पीड़ा से निजात दिलाना, समाधान ढूँढना व उसके दर्द का अनुभव करना बिल्कुल अलग। यह रचना विधवा स्त्री द्वारा स्वयं की दृष्टा का मूल्यांकन दर्शाती है।

विधवा स्त्री को समाज के प्रत्येक सांस्कृतिक एवम् मांगलिक कार्य से ही बहिष्कृत नहीं किया जाता बल्कि उसकी जुबान भी सिल दी जाती है। शांत रहकर ईश्वर के भजन-कीर्तन में मग्न रहने व समाज की मोह-माया से स्वयं को विलग करने के आदर्श उसके समक्ष रखे जाते हैं। ऐसा लगता है मानो एक पुरुष की मृत्यु के साथ स्त्री की समस्त आशाओं-आकांक्षाओं की भी मृत्यु हो जाती है। ऐसे में स्त्री के मुख से स्वयं अपनी आशाओं-कामनाओं को अभिव्यक्ति देना प्रायः असंभव माना जाता है। यह रचना विधवा स्त्री की मनोदृष्टा का मूल्यांकन करती है और स्वयं उसी स्त्री के माध्यम से अपनी पीड़ा में छिपे कारणों की खोज करती है।

इस रचना में एक अकेली विधवा युवा-कामनाओं से भरपूर, अतृप्त और संतानहीन। उसके भीतर कामनाओं का ज्वार है और उसे पूरा करने की अदम्य इच्छा भी। विधवा और कामनापूर्ति की इच्छा-दोनों का साथ हमारे समाज में एक चरित्रहीन नारी की छवि निर्मित करता है। परन्तु जब पुरुष विधुर हो अपनी तृप्त-अतृप्त वासनाओं को पुनर्तृप्ति के लिए किसी स्त्री का उपभोग करना चाहे तो समाज उसे चरित्रहीन न कहकर 'साठे पर पाठा' का दर्जा देता है। यह अकेली नामहीन विधवा प्रश्न करती है और समाज के इस विरोधी चरित्र के प्रति विद्रोह करने की इच्छा प्रकट करती है।

वह अपने पिता को, उनके प्रेम को, बचपन में राजकुमारी के समान अपनी स्थिति को, गुड़िया रानी बनी रहने के स्वप्न को याद करती है। उसे याद आता है कि पिता उसे कितना सहेजकर, अपने दुलार की छाँव में दुलार कर रखते थे। पर आज विधवा होते ही उसके प्रति किया जाने वाला समस्त आदर-सत्कार सहसा समाप्त हो गया। वह आँखों की दुलारी, राजकुमारी बिटिया सहसा बड़े भैया की 'आँखों की किरकिरी' बन गई। अकेलापन और कंपकंपाती टंड से वह निरन्तर जूझ रही है और समझने में असमर्थ है कि दोनों में से किससे वह अधिक कष्ट अनुभव कर रही है। टंड से निजात मिल भी सकती है, भले ही मंगम्मा ने उसकी शॉल भी ले ली पर फिर भी गरम अंगीठी के पास बैठकर टंड से कुछ समय की मुक्ति तो मिल ही जाएगी पर यह अकेलापन! यह युवा वैधव्य! युवा मन में उठती उमंग! और उमंग को सहारा देने के लिए कोई हाथ नहीं! इस अकेलेपन से मुक्ति का कोई मार्ग उसे दिखाई नहीं देता।

सौभाग्य और दुर्भाग्य स्त्री के जीवन में मात्र विष्टोक्षणपरक शब्द बनकर नहीं आते बल्कि लालिमा को ऐसी कालिमा में परिवर्तित कर देते हैं जिसका कोई सवेरा नहीं होता। कुछ क्षण पूर्व जिस स्त्री को समाज में सभी कार्यों के लिए मंगलकारी माना जाता था, अकस्मात् वह समस्त विधि-विधानों से दूर अमंगलकारी ठहरा दी जाती है। वह दूर से सबकुछ देख तो सकती है पर किसी विधान का हिस्सा नहीं बन सकती। भोग की लालसा और योग की बाध्यता का यह द्वन्द्व स्त्री के जीवन की त्रासदी बन जाता है।

आज भी स्त्री के जीवन का एक बहुत बड़ा आधार है-संतान। यूँ तो कोई किसी का स्थानापन्न नहीं हो सकता फिर भी स्त्री अपनी आकांक्षाओं का केन्द्र संतान को बनाकर अन्य त्रासदियों को सह लेती है। पिता से मिले प्रेम को वह अपनी संतान को देना चाहती है परन्तु पुरुष के अभाव में संतान कहाँ? यह विधवा स्त्री भी अपनी दुधमुँही संतान का स्वप्न देखती है और प्रश्न करती है-

“बच्चे हों यह चाहना गलत है? चलो, अगले जन्म में हों, यह चाहना भी गलत है? ख़रअठारह साल की भी उम्र नहीं है। अगर में कहती हूँ कि दूध पिलाने के लिए, लाड करने के लिए और खेलने के लिए बच्चा चाहिए तो क्यों गाली देते हैं?”

वह स्त्री अगले जन्म का स्वप्न भी देखती है ताकि अगले जन्म में ही सही मगर उसे संसार का सुखद, मंगलकारी रूप देखने और, भोगने के लिए मिल सके।

उसकी उम्र अभी अठारह वर्ज की भी नहीं है। बचपन से जिस लाड-दुलार से स्वप्न उसे दिखाए गए उसमें सदैव एक राजकुमार की छवि भी सम्मिलित रही जो उसकी प्रत्येक आकांक्षा की पूर्ति करेगा परन्तु उम्र की जिस दहलीज पर उसके स्वप्नों ने आकार लेना आरम्भ किया, वहाँ उन्हें समाज ने तोड़कर धराष्टायी करने की तैयारी कर ली। उभरता यौवन और उभरती आकांक्षाएँ। सिर्फ प्यार को पाना ही नहीं चाहती बल्कि शारीरिक स्तर पर उसके रहस्यों को समझना भी चाहती है। समाज इसे चाहे जिसे नज़र से देखे पर वह जानना चाहती है—दाम्पत्य जीवन को, दाम्पत्य शास्त्र को, इसके रंग रूप को, पति-पत्नी के संबंधों में शारीरिकता के महत्त्व को।

बाल-विवाह की प्रथा ने स्त्रियों का सर्वाधिक विनाशा किया है। विवाह का अर्थ न समझने वाली स्त्री के समक्ष संतानोत्पत्ति का दबाव और प्रसव के समय होने वाली मष्ट्यु दूसरी ओर विवाह का अर्थ व मातृत्व की इच्छा जागृत होने तक पति की मष्ट्यु हो जाना स्त्री पर होने वाले शोचन के ही दो पहलू हैं जिसके विरुद्ध मौन विद्रोह की झलक इस रचना में दिखाई देती है।

प्रतिपाद्य

यह रचना समाज द्वारा निर्धारित की जाने वाली स्त्री की नियति के प्रति विरोध को स्वर देती है। समाज द्वारा बनाई गई मान्यताएँ समाज के ही विकास को अवरुद्ध करती हैं। यदि समाज का अर्द्धांग ही अविकसित रहेगा तो सम्पूर्ण सामाजिकता की अवधारणा का पोज़न असंभव हो जाएगा। बाल-विधवा का संपूर्ण जीवन विकास-अवरुद्धता का चिह्न है परन्तु उसकी दृष्टा पर समाज विचार नहीं करता बल्कि नियति और भाग्य का दोष मानकर इस दृष्टा को सहज मान लेता है परन्तु क्या नियति मात्र कह देने से उस बाल-विधवा के जीवन-रंग धूमिल हो जाते हैं? क्या केष काटकर स्वरूप विकृत कर देने से मन की इच्छाएँ मर जाती हैं? पाप-पुण्य संबंधी व्याख्यान सुना देने मात्र से स्त्री के मन में संसर्ग को लेकर छिपी आकांक्षाओं का दमन हो जाता है? यदि नहीं तो क्या उसके मनो-विकास के लिए समाज की कोई जिम्मेदारी नहीं? इस रचना में ऐसे अनेक प्रश्न एक बाल-विधवा स्वयं करती है। ये प्रश्न दो स्तरों पर किए गए हैं—एक ओर तो समाज से जिससे उत्तर मिलने की उसे कोई उम्मीद नहीं दूसरी ओर स्वयं अपने अचेतन मन से जो चेतन मन की मजबूरियों को, समाज द्वारा लगाए गए बंधनों को स्वीकार न करके अपने निर्णय स्वयं लेना चाहता है।

यह रचना कई स्तरों पर विद्रोह को दर्ज कराती है—(क) प्रथमतः अपने ही परिवार द्वारा किए जाने वाले सुख-भोग के मध्य एक स्त्री को बंधनों में बाँधकर रखने वाली मान्यताओं का। बालिका के लिए यह अत्यंत आश्चर्य का विजय है कि स्त्री के मायके जाने पर उसका अपना भाई अत्यंत 'बेष्टार्मी' से स्त्री के बगैर न रह पाने की 'मुष्टिकल' व्यक्त कर रहा है परन्तु अपनी 'बहन' के संपूर्ण जीवन में पुरुष की अनुपस्थिति में उसे कोई अंतर नहीं पड़ता? यदि स्त्री को लेकर कुछ क्षणों में ही वह अतृप्ति अनुभव करने लगता है तो जिसने उस सुख को अनुभव ही नहीं किया, उसके लिए वह 'सुख' कितनी बड़ी आवश्यकता है! क्या अपनी जिस छोटी बहन को सब सुख देने का वह दावा किया करते थे, आज वह उसे इतनी सरलता से भूल गए?

(ख) दूसरी ओर उस बाल-विधवा को महसूस होता है कि मनुज्य जीवन से बेहतर पशु जीवन है जहाँ सौभाग्य-दुर्भाग्य संबंधी मान्यताओं का कोई प्रश्न नहीं होता। कितना असहनीय हो उठता है जीवन जब मनुज्य के रूप में जन्म लेने की इच्छाएँ ही समाप्त हो जाएँ और समस्त, अंधविश्वासों से दूर हटकर पशु जीवन व्यतीत करने की इच्छा हो जाए।

(ग) यह रचना स्त्री के भीतर छिपे प्रश्नों को उठाती है। समाज के समक्ष उन प्रश्नों को रखती है तथा स्त्री

के भीतर की अदम्य आकांक्षाओं के दमन से उत्पन्न अनैतिक संबंधों को भी दर्शाती है। जिन इच्छाओं की पूर्ति सहज रूप से नहीं होती वे अनुचित तरीके से अपना स्वरूप ग्रहण करती हैं। स्त्री यहाँ भी अनुचित (समाज द्वारा अनुचित माने जाने वाले) ढंग से एक पुरुष के संबंध स्थापित करती है परन्तु इसके मूल में पुरुष से वासनात्मक संबंध जोड़ने की लालसा न होकर मातृत्व सुख की प्राप्ति करना है। मातृत्व का संबंध स्त्री से है। स्त्री स्वयं भी अपनी पूर्णता संतति के जन्म में ही मनाती है। यद्यपि सबसे विसंगत तथ्य यह है कि जन्मदात्री का स्थान आज भी नगण्य है। संतति का संबंध पुरुष से ही जोड़ा जाता है। पर 'माँ' होना स्त्री की अपनी सार्थकता का मानदण्ड भी है। इस रचना की युवा-विधवा स्त्री भी अपनी सार्थकता सिद्ध करना चाहती है।

(घ) यह रचना प्राकृतिक कामनाओं, जिन्हें समाज में 'वर्जित' और 'टैबू' के रूप में देखा जाता है, उनकी तृप्ति को संसार के संचालन का केन्द्र मानकर सभी के हक के रूप में प्रस्तावित करती है। यदि पुरुष को पुनर्विवाह करने की छूट श्वास की अंतिम सीमा तक उपलब्ध है तो बालपन में विधवा हो जाने वाली स्त्री के लिए पुनर्विवाह की सुविधा क्यों नहीं? चलम अपनी इस क्रान्तिधर्मी रचना में इस प्रश्न को बार-बार समाज के समक्ष रखते हैं।

(ङ) प्रायः स्त्री विमर्शा के अंतर्गत पुरुष द्वारा दी जाने वाली प्रताड़ना के कारण पुरुष से मुक्ति की चर्चा की जाती है। परन्तु यह रचना पुरुष की आवश्यकता को दर्शाती है और वह भी अपनी पूर्ण क्रान्तिधर्मिता के साथ। पुरुष से मुक्ति की बात का अर्थ होगा संसृष्टि के निर्माण का विरोध। इस रचना की स्त्री निर्माण करना चाहती है, चाहे कलंकित ही होना पड़े पर निर्माण की सुन्दरता को समझना एवं भोगना चाहती है। यह रचना देह और मन की महत्ता की बात करती है। रेडिकल नारीवाद से भिन्न यह संसृष्टि की सुन्दरता से जुड़ने के लिए प्रेरित करती हुई रचना है जहाँ स्त्री जीवन पर व्यर्थ के नियमों का बंधन न हो तथा संवेदना और शारीरिकता के संबंधों को स्वीकारा जाए और वह भी वर्जनारहित होकर।

(च) यह रचना देह और मन के भीतर छिपी अनेक संभावनाओं का संकेत देती है। विधवा पुनर्विवाह को लेकर अनेक आंदोलन चले व विभिन्न आंदोलनों से इसे स्वीकृति भी मिली परन्तु फिर भी सामाजिक स्तर पर विधवा को अपमानित जीवन जीने के लिए बाध्य करने वाले रीति-रिवाज 21वीं सदी में भी देखे जा सकते हैं। यह रचना विधवा स्त्री को सामाजिक स्वीकृति दिलाने के लिए संघर्ष करती है, मनुष्य को मनुष्य की भाँति मानने के लिए प्रेरित करती है। उम्र, देह और मन के बीच आपसी संबंध हैं। जिसकी जो आयु होगी उसी के अनुरूप देह और मन की माँग होगी। ऐसे में स्त्री की देह और मन को बंधनों में बांधने में समाज में असंतुलन आएगा। यह रचना प्रत्येक स्तर पर स्त्री के मन की माँग का समर्थन करती है। यदि समाज उसे प्रतिष्ठित करने में असमर्थ है तो उसे कलंकित मानने का भी इस समाज का कोई हक नहीं है।

रचना की प्रासंगिकता

यह रचना अपने युग की क्रान्तिधर्मी कृति है जो स्त्री अधिकारों की माँग करते हुए समाज के दोहरे चरित्र पर प्रश्नचिह्न लगाती है। पति की मष्ट्यु के लिए स्त्री को दोषी मानने और फलस्वरूप समाज से बहिष्कृत कर अकेले जीवनयापन कराने की समाज की मानसिकता का विरोध करती है। आज भी विधवा स्त्री को जीवन की समस्त रंगीनियों से दूर रखा जाता है। शिक्षा भी समाज की इस बुनियादी मानसिकता को पूरी तरह परिवर्तित नहीं कर सकी है। ऐसे में यह रचना स्त्री के मुख से अपनी इच्छापूर्ति की बात और सामाजिक अस्वीकार की स्थिति में भी जीवन जीने का समर्थन करती है जो निष्चित रूप से अत्यंत साहसिक कार्य है।

यह रचना छोटे-छोटे उदाहरणों के माध्यम से स्त्री-जीवन की त्रासदी का चित्र प्रस्तुत करती है। स्त्री चाहे सिंडरेला हो, चाहे मंगम्मा या अनाम स्त्री सभी अपने-अपने स्तर पर जीवन की विडंबनाओं का प्रतीक रही हैं। आर्थिक तंगी में पति के हाथों मार खाकर, शारीरिक समस्याओं से लगातार, जूझना, कभी भोग्या बन जाने की मजबूरी, कभी जबरन भोग से योग की ओर अकेले जाने की प्रताड़ना भोगकर स्त्री का जीवन नारकीय होता रहा है। एक ओर पति

की अनैतिक इच्छाओं की पूर्ति दूसरी ओर पति के अभाव में समाज की विसंगतियों को झेलना स्त्री की मजबूरी हो जाती है। इन समस्त मजबूरियों के विरुद्ध विद्रोह करती स्त्री की आवाज आज के समय में भी उतनी ही प्रासंगिक है जितनी उस सदी में थी।

मातृत्व स्त्री की उपलब्धि भी है और शक्ति भी। स्त्री अपने भीतर से संतति रचना करके युग और समाज को सार्थकता प्रदान करती है। यदि स्त्री अपनी इस इच्छा से इन्कार कर दे तो पुरुष समाज उसके विरुद्ध चक्रव्यूह खड़ा कर देता है वहीं वह अपनी इच्छा से संतान को जन्म देना चाहे तो भी उसे इसकी इजाजत नहीं। यहाँ एक विधवा स्त्री अपनी प्रजनन क्षमता को अनुभव करना चाहती है, प्रसव पीड़ा की प्राकृतिक प्रक्रिया के अनुभव के बीज अपने भीतर रोपना चाहती है। ऐसे में उसकी इच्छा, प्राकृतिक भावों को ग्रहण करने की अदम्य इच्छा को दर्शाती यह रचना प्रत्येक स्त्री के भीतर छिपे प्रश्नों को ज्वलंत तरीके से समाज के समक्ष रखती है।

यहाँ प्रश्न सिर्फ एक विधवा स्त्री द्वारा संतान उत्पन्न करने का ही नहीं है, यहाँ प्रश्न हर स्त्री की अस्मिता का है। प्रत्येक स्त्री अलग-अलग स्तर पर अनेक समझौते करती हुई अलग-अलग सवालियों से जूझती है और पुरुष समाज इन प्रश्नों को अनुपयोगी मानकर अस्वीकृत कर देता है। यह रचना हमें प्रश्न करना ही नहीं, सपने देखना भी सिखाती है और सपनों को पूर्णता देने के लिए भीतर साहस जुटाना भी सिखाती है। इस दृष्टि से इसका विष्टोज महत्त्व है।

समीक्षा : भाज्ञा शैली

यह रचना एकालाप शैली में लिखी गई है परन्तु यह एकालाप नीरस अथवा आत्मप्रशंसात्मक न होकर संवादात्मक अंदाज में प्रस्तुत होता है। एक स्त्री विष्टलेज्जात्मक ढंग से समाज के रवैये पर विचार करती है। उसे कभी आश्चर्य होता है तो कभी रूदन। परन्तु अपनी हर प्रतिक्रिया में वह समाज का विष्टलेज्जा करते हुए उसके विभिन्न रूप प्रस्तुत करती है।

यह रचना अपने अलग और तीखे तेवर के साथ-साथ मर्मस्पर्शी संवादों के लिए भी विष्टिज्ज मानी जा सकती है। प्रत्येक संवाद मानों प्रश्न बनकर एक साथ पूरे समाज के दोहरे और बनावटी चरित्र को उभारने का कार्य करता है। अनाम स्त्री का प्रत्येक वाक्य एक प्रश्न है जो अपनी तुलना दूसरी स्त्रियों और पुरुषों के साथ करने से उपजा है यथा—

“मनुज्य का जन्म तो श्रेष्ठ है लेकिन विधवा का जन्म नहीं। हृदय के साथ लगा लेने के लिए जब कोई न हो तब जीना किसलिए?”

प्रश्नवाचक शैली में वह बार-बार अंधेरे कोने में सिमटे बैठे अपने मन को टटोलती रहती है पर उसे कोई उत्तर प्राप्त नहीं होता। दिन के उजाले में जिन प्रश्नों को पीछे छिपाकर वह आदर्शों का लबादा ओढ़ने के लिए विवश है रात के अंधेरे में वही प्रश्न निर्वसन होकर उसके समक्ष आ जाते हैं पर स्वयं उसके पास भी कोई उत्तर नहीं।

रचना में वह अनेक प्रतीकों के सहारे उस स्त्री की व्यथा और मन की इच्छा को प्रकट करती है। रचना को संवादों के भीतर से पढ़े जाने की अत्यंत आवश्यकता है ताकि अर्थ की गहराई को ग्रहण किया जा सके। यथा—

‘ये चूहे मुझे भी काटेंगे तो नहीं न?ख्र’ यहाँ चूहे आसपास के अपने ही लोग हैं जिनसे उस स्त्री को डर लगता है।

‘खिड़की से चोर तो नहीं घुस आएगा नख्र’ वह चाहती है कि खिड़की से चोर आ जाए—चाहे चोर ही आए पर कोई तो आए जिसे देखकर जिसके समीप होकर वह पुरुष के सामीप्य का अनुभव कर सके।

‘बिल्लीखण्डोर कर रही हैख्रचलो चूहों को पकड़ो नख्र’ यहाँ वह स्वयं को प्रेरित कर रही है। शायद वह जो करना चाहती है उसे किसी सहारे की आवश्यकता है। अपने मन और शरीर दोनों को प्रेरित करते हुए वह अपनी कामनापूर्ति करना चाहती है।

वह कर्मफल को नहीं मानती, भाग्य को बदलने का साहस भी जुटा रही है, लोक मर्यादा कही जाने

वाली सीमा रेखा के विरुद्ध जाकर भी वह संतान प्राप्त करना चाहती है और अपनी संपूर्ण भाजिक क्षमता के साथ अपनी इच्छा को प्रकट करने का साहस करती है। यहाँ छिल्य अपनी पूर्ण आक्रामक क्षमता के साथ उसकी भावाभिव्यक्ति में सहायक हुआ है।

रचना व रचनाकार का महत्त्व

गुडिपाटी वेंकट चलम् एक ऐसे रचनाकार हैं जिन्होंने स्त्री-बोध और स्त्री-पीड़ा को अपनी पूर्ण तीव्रता के साथ अभिव्यक्त किया। स्त्री-पुरुज-विवाह संबंधों पर विचार करते हुए उन्होंने स्त्री-पुरुज में पारस्परिक प्रेम पर बल दिया। पुरातन शिक्षा-पद्धति की अवहेलना करके एक ऐसी शिक्षा को आवश्यक माना जिससे समाज के विचारों में क्रांतिकारी परिवर्तन हो सके।

चलम की यह रचना स्त्री की अदम्यता की घोषणा करती है। मनोवैज्ञानिक स्तर पर स्त्री के भीतर की आकांक्षा का मूल्यांकन करती हुई रचना पहली बार किसी स्त्री के मुख से अपनी भावनाओं को मुखर अभिव्यक्ति दिलाती है। युवा उम्र में विधवा हो जाने की पीड़ा से भी अधिक कष्टकारी है—उस अकेलेपन की, अवहेलना की अनुभूति जो निरपराध होते हुए भी स्त्री को झेलनी पड़ती है। स्त्री के भीतर का संसार अपनी भावनाओं की तष्टि का स्वप्न देखता है पर उस स्वप्न को पूरा करने की गुंजाइश कहीं दिखाई नहीं देती। यह रचना इस स्तर पर विष्टोक्त महत्त्वपूर्ण है कि बिना 'स्त्री विमर्षा' की बात किए हुए ही यह स्त्री जीवन के तमाम पहलुओं पर बात करती है जिससे गुजरना स्त्री की नियति या विवशता बन जाती है। यह रचना स्त्री की विवशता की बात करते हुए उसकी नियति पर रोदन नहीं करती सभी को प्रसन्न करके देवी बनने की नियति का विरोध कर दे तो उसकी प्रगति को कोई नहीं रोक सकता। स्त्री स्वयं भी देवत्व की परिधि में ही घिरी रहकर सुरक्षा अनुभव करती है और भीतर ही भीतर अन्तर्द्वन्द्वों से जूझती रहती है। इस रचना की स्त्री किसी भी देवत्व की आकांक्षी नहीं, अन्तर्द्वन्द्वों से वह भी जूझती है पर अन्ततः अपने मन की बात स्वीकार कर उसे महत्त्व देती है। इस दष्टि से यह रचना विष्टिजट मानी जा सकती है।

14. एक अविस्मरणीय यात्रा (इंदिरा गोस्वामी)

डॉ. रेणु अरोड़ा
हिंदी-विभाग, मिराण्डा हाउस
दिल्ली विश्वविद्यालय

भारतीय ज्ञानपीठ से पुरकृत असमिया की बहुचर्चित लेखिका इंदिरा गोस्वामी की गिनती भारत के प्रमुख लेखकों में की जाती है। कोई भी साहित्यकार जब अपने साहित्य में मानवीय संवदेनाओं को आम आदमी के दुख-दर्द, आशा-आकांक्षा, राग-विराग, संघात-संघर्ष को उभारता है, तब ही उसका साहित्य क्षेत्र और समय की सीमाओं का अतिक्रमण कर सार्वदेशिक और सार्वकालिक बन जाता है और उसे रचने वाला रचनाकार भी क्षेत्र विद्योत्त का न रहकर सार्वदेशिक हो जाता है। इंदिरा गोस्वामी का व्यक्तित्व व कृतित्व इस विद्योत्तता से युक्त है और इन्हीं अर्थों में वह भारतीय कथाकार भी हैं।

इंदिरा गोस्वामी की रचनाओं में असम क्षेत्र धड़कता हुआ सा महसूस होता है। उसमें असम का सांस्कृतिक और सामाजिक इतिहास झांकता हुआ नज़र आता है। अपने जीवन और लेखन दोनों में वे परिवेष्ट में व्याप्त रूढ़ीवादी संस्कारों का विरोध करती हैं और सामाजिक कुरीतियों के सामने कभी झुकती नहीं हैं। अपने समूचे रचनाकर्म में वे शोषितों की खासतौर से महिलाओं की मुखर समर्थक रही हैं।

इंदिरा गोस्वामी अब तक अठारह उपन्यास और सौ से अधिक कहानियाँ लिख चुकी हैं। उनका पहला उपन्यास 'चेनाबारश्रोत' 1972 में प्रकाशित हुआ। इसमें मजदूरों की पीड़ा का अंकन है। 1976 में प्रकाशित 'नीलकंठी ब्रज' में एक विधवा समाज द्वारा किए जा रहे अत्याचारों का मुकाबला करती नजर आती है। 'दोताल हातिर उवे खुआ हाउदा' (1986) उपन्यास में एक युवा ब्राह्मणी विधवा अपने आस-पास फैले भ्रष्टाचार का मुकाबला करती है। 'तेज अरु धूलिरे धूसरित पल्लठ' (1998) में 1984 के सिख विरोधी दंगों का चित्रण है। 'छिन्नमस्ता' (1998) में दो विरोधी विचारधाराओं—अहिंसा और हिंसा—के टकरावों के बीच गरीबी, निरक्षरता, अज्ञान और अंधविश्वासों से घिरे कामरूप के जनजीवन की सच्ची कहानी है। 'चिनाकी मरम', 'कइना', 'हृदय एक नदीर नाम', 'प्रिय गल्पों' उनके प्रमुख कहानी संग्रह हैं।

उनकी स्पष्टवादी आत्मकथा 'आधा लेखा दस्तावेज' (1988) को समीक्षकों ने खूब सराहा। उन्हें 'मामरे धारा तरवाल' (जंग लगी तलवार, 1980) के लिए 1982 में साहित्य अकादमी पुरस्कार मिला और जुलाई 2001 में उन्हें 'छिन्नमस्ता' के लिए सर्वोच्च साहित्यिक सम्मान ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित किया गया। डॉक्टर इंदिरा गोस्वामी की तमाम कृतियाँ हिन्दी और अंग्रेजी सहित प्रमुख भारतीय भाषाओं में अनूदित हुई हैं। आजकल वे दिल्ली विश्वविद्यालय के आधुनिक भारतीय भाषाएँ विभाग में प्रोफेसर पद पर कार्यरत हैं।

'एक अविस्मरणीय यात्रा'—सार :

'एक अविस्मरणीय यात्रा'—अपने शीर्षक से यात्रा-वृत्तान्त का आभास देती यह कहानी 'लाल नदी' नामक कहानी संग्रह से ली गई है। इंदिरा गोस्वामी की अन्य रचनाओं की तरह यह रचना भी असम के कामरूप क्षेत्र पर केंद्रित है। लेखिका और उसके सहयोगी प्रोफेसर मीराजकर असम के छात्रों के द्वारा आयोजित एक सम्मेलन में शामिल होने के लिए असम गए थे। काजीरंगा राष्ट्रीय उद्यान से घूमकर लौटते समय उन्हें गुवाहटी पहुँचने की जल्दी थी क्योंकि प्रोफेसर मीराजकर को 'जंगली जानवरों से ज्यादा आतंकवादियों का भय था', उनके प्रिय मित्र की

पंजाब में आतंकवादियों ने हत्या कर दी थी। आतंकियों की आशंका के कारण ही रास्ते में कई चेकपोस्टों पद उनके रोका गया और जाँच करने के लिए उन्हें चेहरों पर टॉर्च की रोशनी भी डाली गई। परिवेष्टा में व्याप्त हिंसा का भय और उसकी स्मृतियाँ प्रोफेसर मीराजकर को प्रकृति की सुजमा और सौंदर्य के प्रति उदासीन बना रही थीं लेकिन लेखिका का मन उस सौंदर्य से अभिभूत था। अचानक तकनीकी खराबी के कारण उनकी कार रास्ते में रुक गई। वहाँ झोपड़ी जैसी कई दुकानें थीं। एकाएक एक दुकान में से ढीला कुर्ता तथा धोती पहने एक दुबला-पतला बूढ़ा हाथ में लालटेन लिए उनके पास आता है और उनकी गाड़ी खराब हो गई है, यह जानने पर उनके लिए किसी दूसरी कार को रोकने का प्रयत्न करता है ताकि उनका ड्राइवर सात मील दूर जाकर मिस्त्री ला सके।

उसकी दुकान की दृष्टा उसकी गरीबी और बदहाली को बयां कर रही थी। उसकी पत्नी से बातचीत के दौरान पता चलता है कि उसके दो बेटे, एक बेटी है। एक वक्त था जब वे भी स्कूल में पढ़ने जाया करते थे। अब सब कुछ बदल गया है। पिछले साल बाढ़ में उसका बड़ा बेटा किसी बीमारी में चल बसा। वे डॉक्टर की मोटी फीस के कारण उसकी दवा-दारु भी नहीं करवा सके। उसकी पत्नी को दूसरा बेटा हुआ। उनकी बेटी एक फौजी के चक्कर में पड़ गई। और कुछ दिनों के बाद वह गर्भवती हो जाती है। इसलिए गुस्से में आकर यहाँ के लड़कों ने मिलकर उसकी पिटाई कर दी। अब वह धीरे-धीरे ठीक हो रही है।

पिछले सात सालों से जिंदगी नरक बन गई। नदी उनकी सारी ज़मीन चट कर गई। खाने के भी लाले हैं। राहत शिविरों से भी उन्हें राहत के नाम पर सौ रुपए मिले। उसका पति कर्मचारियों की चापलूसी नहीं करता है। इसलिए पिछले सात सालों से वे लोग यातना भुगत रहे हैं। प्रोफेसर मीराजकर बूढ़े को कुछ रुपए देते हैं। ताकि उनकी थोड़ी सहायता हो सके। इसके बाद एकाएक लेखिका की निगाह दीवार पर लटके 'दोतारे' नामक एक वाद्ययंत्र पर पड़ती है। वह पूछ बैठती है "इस 'दोतारे' को कौन बजाता है, दादा?" बूढ़े का चेहरा प्रसन्नता से खिल उठता है और वह उन्हें अपनी स्मृतियों से रू-ब-रू कराता है। इस सबके बीच बुढ़िया का विसंवादी स्वर-तुम रेल की पटरी पर जाओ और उसे देखो-सुनाई पड़ता रहता है।

अचानक जबर्दस्त धमाके की आवाज से वे सब काँप उठते हैं। पास ही के एक पेड़ की आड़ से कोई व्यक्ति प्रकट होकर दुकान के सामने आ खड़ा होता है। वह बुढ़िया का वही बेटा था जिसे वह रेल की पटरी के पास देखने जाने की रट लगाए हुए थी। 'उसके गाल पर गहरा घाव था-आँख से लेकर ओंठ तक...घाव से खून रिस रहा था। उसके ओंठों के नीचे का माँस अलग हुआ दिखता था।' एकाएक वह कोने में बैठी अपनी बहन के बाल पकड़कर जोर-जोर से उसके पेट पर मुक्कों और लातों से मारता है। परिणामस्वरूप उसका रक्तमिश्रित भ्रूण तक पेट से बाहर आ जाता है। माँ-बाप को देखे बिना वह प्रोफेसर मीराजकर द्वारा बूढ़े को दिए पैसों को लपककर उठाता है और एक पुरानी अमरीकी कारबाइन (बंदूक) खरीदने की बात कहता हुआ अंधड़ की तरह चला जाता है। बूढ़े के होंठों पर भी एक विचित्र-सी मुस्कराहट दौड़ जाती है।

इस घटना ने लेखिका और प्रोफेसर मीराजकर दोनों को ही किंकर्तव्यविमूढ़ कर दिया और वे गुवाहटी की ओर इस भावना से बढ़ चले जैसे एक अंतहीन अधियारी सुरंग में से गुजर रहे हों।

प्रतिपाद्य

'एक अविस्मरणीय यात्रा' कहानी असम में व्याप्त हिंसा व उग्रवाद की समस्या को समझने का प्रयास करते हुए समय और समाज की सच्चाइयों का सामना कराती है। हिंसा और आतंक का माहौल सारे वातावरण में कैसे फैल कर प्रकृति के सौंदर्य को गौण बना देता है इसका संकेत कहानी के आरंभिक अंश में प्रोफेसर मीराजकर की आशंकाओं से तथा ड्राइवर की बातचीत से मिलता है। ड्राइवर उन्हें बताता है-"पिछले साल यह सड़क खून से सनी रही। हमेष्ठा यहाँ दोनों तरफ मष्ठीनगनें चलती थीं और हथगोले फेंके जाते थे।" विदेष्टों से प्राप्त अवैध हथियार सिर्फ आम जनता को आतंकित करने के काम नहीं आते बल्कि उनके बल पर पशुओं की भी तस्करी

होती है। काजीरंगा में वन-विभाग के अधिकारी अहमद बताते हैं कि “पशु-चोरों के पास विदेशी हथियार हैं जिनमें 470 अमरीकी कारबाइन भी शामिल हैं।” हथियारों की मौजूदगी भविष्य में कभी भी मौत का तांडव रच सकती है इसलिए शांति का समय भी अशांति के भय की छाया से ग्रस्त ही रहता है।

इन स्थितियों से निपटने के लिए भारतीय सेना के जवान जब इन क्षेत्रों में जाते हैं तो **पारस्परिक संपर्क से नैतिक और जातीय समस्याएँ समाज में पैदा हो जाती हैं।** बुढ़िया की बेटा के साथ उसके परिवार और समाज द्वारा दुर्व्यवहार सिर्फ इसलिए किया जाता है क्योंकि वह भारतीय सेना के एक जवान से प्रेम करती है। उसके प्रति हिंसा और क्रूरता के चरम पर उसका अपना भाई लात-घुंसों के प्रहार से उसके गर्भस्थ शिशु की हत्या कर देता है। जातीय विद्वेज में जलते हुए वह कहता है “खूअरे गंदी कुतिया, एक भारतीय सिपाही से प्रेम रचाती हो। थूखथूख।” यहाँ तक कि प्रोफेसर मीराजकर के बूढ़े को दिए पैसों को उठाकर जब वह पुरानी कारबाइन खरीदने की बात कहता हुआ चला जाता है तो वैष्णव भक्ति के गीत गाने वाले उसके पिता के होंठों पर भी एक क्रूर, अर्थपूर्ण मुस्कराहट फैल जाती है। **लेखिका को ऐसा लगता है कि वैराग्य और संसार की क्षणभंगुरता के गीत गाने वाले का हृदय जातीय अपमान से भीतर-ही-भीतर जल रहा था और अपने बेटे के फैसले से उसे संतोड़ मिला हो। हिंसा के इन विभिन्न रूपों के बीच प्राकृतिक आपदा और प्रणामन की अव्यवस्था तथा भ्रष्टाचार से जूझते, संघर्ष करते, आशा-निराशा में तिरते हुए आम आदमी की जिजीविज्ञा शक्ति को भी यहाँ चित्रित किया गया है।**

बाढ़ जैसी प्राकृतिक आपदाएँ जन-जीवन को भारी क्षति पहुँचाती हैं और यह क्षति शासन-व्यवस्था में व्याप्त भ्रष्टाचार से अधिक गहरी हो जाती है। बूढ़ा व्यक्ति लेखिका को बताता है—“हमारी हालत सदा तो ऐसी ना थी। बाढ़ के कारण ही सब कुछ हुआ...हमारी मजबूरी थी कि हमें इस सड़क के किनारे शरण लेनी पड़ी और अब रात-दिन ग्राहकों का इंतज़ार करते हैं। हम भी कभी इज्जतदार लोग थे। हमारे दो खलिहान थे। जो धान से भरे रहते थे।” उसकी अतीत की स्मृतियाँ और समाज के बड़बुरा परिवार का वंशज होने का गर्व ही उसे किसी अधिकारी की चापलूसी नहीं करने देता। वर्तमान विडंबनापूर्ण स्थितियों को झेलती हुई उसकी पत्नी उन अतीत की स्मृतियों का तीखा विरोध करती है। उसकी बुदबुदाहट में स्पष्ट अनुभव होता है—“इस बुढ़ू को उनके पाँव छूते शर्म आती है...हाय पिछले सात सालों में क्या नहीं हुआ हमारे साथ और यह आदमी अपने दिमाग में पुराने फितूर पाले इधर-उधर फुदकता फिरता है।” सरकारी कर्मचारी राहत का पैसा खुद हड़प लेते हैं और बाढ़ में हुए लोग साल-दर-साल सहायता की उम्मीद में पशुओं की तरह जीवन जीने के लिए विवश हैं लेकिन उनकी स्थितियों में कोई सुधार नहीं आता। हालात बद से बदतर होते चले जाते हैं। स्थितियाँ जीवन को विकट बना देती हैं। जो स्थितियों के साथ समझौता कर लेते हैं वे फिर भी जी पाते हैं। शोच की स्थिति बूढ़े-बुढ़िया जैसी ही हो जाती है। बुढ़िया बताती है कि सड़क के दोनों तरफ बनी ढेर सारी दुकानों के दुकानदारों को ग्राहकों को अपनी ओर खींचना आता है। वहाँ गाना भी बजता है।...वे सब कुछ बेचते हैं। हम भगत लोग हैं।”

बाढ़ की विभीषिका के बाद महामारी की मार हालात को और गंभीर बना देती है। ऐसे में यदि डॉक्टर भी अपना सेवा धर्म छोड़कर डाकू बन जाए तो पीड़ितों के पास अपने और अपने परिजनों को मौत को सौंपने के अलावा कोई रास्ता नहीं रहता। संक्षेप में इंदिरा गोस्वामी ने अपनी इस कहानी में **उग्रवाद की हिंसक पछुठभूमि में आदर्शपूर्ण और परिपूर्ण अतीत के समक्ष विजय वर्तमान को उभारते हुए समाज का अंतरंग विषुलेक्षण प्रस्तुत किया है।**

प्रासंगिकता/भारतीय साहित्य में स्थान

इंदिरा गोस्वामी ने अपनी कहानी ‘एक अविस्मरणीय यात्रा’ में असम में व्याप्त जिन समस्याओं और वास्तविकताओं से हमारा परिचय कराया है आज वह केवल असम की ही न होकर पूरे भारतवर्ष बल्कि यह कहें कि पूरे विश्व की समस्याएँ और वास्तविकताएँ हैं। जो हिंसा और उग्रवाद असम की शांति और सुजमा को भंग किए हुए है उस आतंक की जड़ें समूचे विश्व में फैली हुई हैं। असम के आम जन की भांति हर

मनुज्य आश्रंका, तनाव, अनिश्चितता और भय के वातावरण में सांस ले रहा है।

प्राकृतिक आपदाओं की मार से जिस प्रकार असम का आम आदमी त्रस्त है, बाढ़, भूकंप, सुनामी जैसी विकरालताओं के सामने समूचे भारतवासी, चाहे वह किसी भी प्रांत के क्यों न हों, इसी प्रकार विवश हैं। सरकारी तंत्र की ढिलाई, अवसरवादिता और भ्रष्टाचार उनकी स्थितियों को और भी भयावह बना देता है। इन त्रासदियों से ग्रस्त लोग सरकार तक अपनी बात पहुँचाकर अपने भले की आशाएं संजोते रहते हैं लेकिन उनके हाथ निराशा के अलावा कुछ नहीं लगता। जिन लोगों के हाथ में शक्ति, सत्ता और अधिकार हैं उनमें पशुओं की तरह जीवनयापन करते हुए बाढ़ पीड़ितों के प्रति कोई संवेदना नहीं है। संवेदनशून्यता का जो संकेत इस कहानी में डॉक्टर के व्यवहार में मिलता है, संकट की घड़ी में इस तरह के घृणित स्वार्थी की सिद्धि करने वाले लोगों की कमी मानव समुदाय में नहीं है।

जातीय विद्वेज का जो दंष्टा इस कहानी में हमें सालता है वह भारत के विभिन्न क्षेत्रों में ही नहीं बल्कि विष्टव के प्रायः सभी देशों में जाति, नस्ल, रंग, भाजा आदि कई रूपों में फैला हुआ है। मनुज्य-मनुज्य में भेद करने वाले इन तत्त्वों में इंसान को हैवान बना देने की ताकत है। ये नकारात्मक शक्तियाँ मनुज्य के भीतर पैठी हिंसा को उद्दीप्त करती है। चंद स्वार्थी लोग इन्हीं शक्तियों का सहारा लेकर आम आदमी के जीवन से खेलते हैं।

इस प्रकार लेखिका ने अपनी कहानी को जिन संवेदना सूत्रों से बुना है, संवेदना के वे तंतु हमारे बहुत निकट के अनुभव हैं जिन्हें वे अभिव्यक्ति देती लगती हैं। कथ्य की तरह अपनी अभिव्यक्ति में भी वे उतनी ही सक्षम हैं। कहानी कहने का उनका अपना अनूठा ढंग है। उनकी कहानियों को पढ़ते हुए लगता है जैसे वे स्वयं कहानी में वर्णित घटनाओं के साक्षी रहे हों। स्वानुभूति की यही विष्टाजता उनकी कहानी को अनूठा बनाती है। विवेच्य कहानी में भी हमें यह विष्टोजता देखने को मिलती है। यह कहानी आत्मकथात्मक शैली में लिखी गई है। कहानी की पहली पंक्ति ही 'प्रोफेसर मीराजकर और मैं कांजीरंगा राष्ट्रीय उद्यान से लौट रहे थे' लेखिका की उपस्थिति का अहसास कराती है। इंदिरा गोस्वामी की कहानी में घटनाओं की अधिकता होने के बावजूद भी जटिलता या बिखराव नहीं है। वे घटनाओं को इस रोचकता से जोड़ती हुई चलती हैं कि वे अलग-अलग ना होकर एक दूसरे से परस्पर जुड़ी हुई लगती हैं और अपनी समग्रता में वे कहानी को परिपूर्ण करती हैं।

लेखिका की सूक्ष्म निरीक्षण दृष्टि भी उनकी कहानी में प्रकृति तथा पात्र के विवरण में देखने को मिलती है। चित्रात्मक भाजा के साथ मिलकर यह सूक्ष्म निरीक्षण दृष्टि प्रकृति के दृष्टय व पात्र को पाठक के सामने मूर्त कर देती है और हमें यह अहसास होता है जैसे हम भी इस अविस्मरणीय यात्रा में उनके साथ हैं। ऐसे अनेक उदाहरण इस कहानी में हमें मिलते हैं—“चारों तरफ हरियाली थी, कहीं खूब घनी, जिससे मुझे नन्हीं पृथी मछली की याद हो आती है। कहीं कहीं पत्ते गोल थे जैसे कभी महारानी विक्टोरिया की छाप वाले चांदी के सिक्के हुआ करते थे।”

“मुझे उसकी आँखों के नीचे आड़ी तिरछी रेखाएँ साफ दिख रही थीं। उसके कुछ दाँत गायब थे। गाल उसके धंसे हुए थे जिससे उसकी नाक और लंबी दिख रही थी।”

प्रकृति के सौंदर्य या पात्र के व्यक्तित्व को जीवंत करने के लिए वे जिन साम्यों का प्रयोग करती हैं वे रूढ़ न होकर ताजे और हमारे दैनिक जीवनानुभवों से जुड़े हुए होते हैं जैसे—“धान के खेत अपने पूरे यौवन में थे। उनका सुनहलापन सोने को मात दे रहा था। कहीं-कहीं वे बड़े विनम्र भी दिखते थे जैसे कि बौद्धों के गेरुवे चीवट से ढंके हों या अंधेरे की बांहों में सिमट कर छिप जाना चाहते हैं।... मैं बेलाई के शानदार पेड़ों को देख रही थी जो काई से इस तरह ढंके हुए थे जैसे लंबी पूँछ वाले बंदरों की टांगे बालों से ढंकी रहती हैं।”

अनुभूति की ये निकटता उनकी कहानियों को रोचक और पठनीय बनाती है। लेखिका घटनाओं के विस्तृत विवरणों में न फंसते हुए बड़े ही संकेतात्मक ढंग से घटनाओं का जिक्र करते हुए समय और समाज पर टिप्पणी कर जाती है। साथ ही पाठक को भी सोचने समझने और अनुभूत करने का मौका देती हैं।

संक्षेप में, इंदिरा गोस्वामी की भाजा व शिल्प कथ्य को पूरी रोचकता, मार्मिकता और आपेक्षित अर्थ के साथ

अभिव्यक्त करने में पूर्ण समर्थ है। कथ्य और अभिव्यक्ति की यही क्षमता और ताजगी उनकी कहानियों को भारतीय साहित्य में प्रासंगिक बनाती है।

15. जूठन (ओमप्रकाश वाल्मीकि)

डॉ. हर्षबाला शर्मा
प्रवक्ता, हिन्दी-विभाग
इन्द्रप्रस्थ महाविद्यालय
दिल्ली विष्टवविद्यालय

ओम प्रकाश वाल्मीकि एक महत्वपूर्ण दलित साहित्यकार हैं। दलित साहित्य की एक विष्टाज्ठ 'आत्मकथा' 'जूठन' दलित जीवन और पीड़ा का ऐतिहासिक दस्तावेज है। रचनाकार ने बेहद निजी और कड़वे अनुभवों के माध्यम से अपनी रचना में वर्णवादी समाज की कलई खोली है। वर्णवादी व्यवस्था के कारण सदियों से समाज के एक वर्ग को भीक्षण यातना और हीन भावना से भरी स्थिति में जीने के लिए विवष्टा होना पड़ा है। अपने ही जैसे मनुष्यों के साथ जाति और जन्म के आधार पर किए जाने वाले भेदभाव के कारण भारतीय वर्णव्यवस्था आज असहनीय हो उठी है। दलित वर्ग ने अब स्वयं पर होने वाले अत्याचारों के विरुद्ध मोर्चा तैयार किया है। ऐसे ही संघर्षों व यातनाओं का प्रस्तुतीकरण 'वाल्मीकि' ने अपनी रचनाओं में किया है।

युग परिवेष्ट

रचनाकार का अधिकांश लेखन 20वीं शताी के उत्तरार्द्ध की उपज है। यह युग नवनिर्माण से जुड़ी आकाक्षाओं के सत्य होने का युग रहा है। नयी चेतना का विकास हो रहा था तथा देष्टा-विदेष्टा में श्रोतित वर्ग श्रोक्षण के विरुद्ध आवाज उठा रहा था। सन् 1950 में डॉ. अम्बेडकर ने संविधान का निर्माण किया जिसमें सभी नागरिकों को समान मौलिक अधिकार दिए गए। परन्तु सवर्ण-अवर्ण समाज में किसी प्रकार की समानता का अनुभव नहीं किया गया। देष्टा-विदेष्टा की अनेक हलचलों का उल्लेख इनकी आत्मकथा में ही मिलता है यथा- डॉ. अम्बेडकर व गाँधी के मध्य विचारधाराओं का अन्तर, 1967 के आम चुनाव में प्रेमचन्द का कर्मचारी संगठन की ओर से रुड़की विधानसभा सीट से नामांकन भरना, रचनाकार का स्वयं इसमें भाग लेना, 1970-72 के दौरान पूना में सवर्णों द्वारा गंवई बंधुओं की आँखें फोड़ी जाना, रचनाकार द्वारा लेख की रचना, दलित पेंथर की सुगबुगाहट श्रुरू होना, 1978 में 'दलित पेंथर' द्वारा मराठवाड़ा विष्टवविद्यालय का नाम बदलकर 'डॉ. अम्बेडकर विष्टवविद्यालय' कर देने के लिए विष्टाल जुलूस का आयोजन, रिपब्लिकन पार्टी का कई गुटों में बँटना। 1984 में अमरावती के मल्कापुर में ब्राह्मण शिक्षक द्वारा पुस्तक में से डॉ. अम्बेडकर सम्बन्धी लेखों को फड़वाना आदि। पर रचनाकार दुख से कहते हैं कि अनेक आन्दोलनों के बाद भी भेद वैसे ही बना रहा।

विचारधारा चिन्तन

इनकी रचनाओं में दलित जीवन की पीड़ा का यथार्थ चित्र अंकित हुआ है। रचनाकार की विचारधारा पर

आरम्भिक प्रभाव किसी विद्योत्त साहित्यकार का न होकर अपने आस-पास के वातावरण और पीड़ा के अहसास का पड़ा। दलित जीवन के भुक्तभोगी रचनाकार को जब शिक्षा के मन्दिर कहे जाने वाले विद्यालयों से उपेक्षा मिली, तिरस्कार और अपमानजनक शब्दों को सहने के लिए विवश होना पड़ा तो इनके मानस में आरम्भ से ही उच्च कही जाने वाली जातियों के प्रति वितृष्णा का भाव भरता चला गया।

शिक्षा प्राप्त करने के स्वप्न देखना भी जिस जाति और आर्थिक स्थिति में संभव न था, वहीं अपमान सहकर भी शिक्षा प्राप्त करने वाले रचनाकार के साहित्य-संस्कार 'दिल्ली' की रोशनी में विभिन्न उपन्यास, कहानियों के माध्यम से आरम्भ हुए। अनपढ़, अछूत परिवार में जन्मे इस बालक ने अपनी माँ को भी अनेक रचनाओं का आस्वादन कराया।

यूँ तो रचनाकार ने गाँधी, नेहरू, पटेल, राजेन्द्र प्रसाद, विवेकानन्द, टैगोर, शरतचन्द्र, तिलक, भगतसिंह, सुभाष चन्द्र बोस, सावरकर के विजय में पढ़ा था परन्तु उनकी विचारधारा का निर्माण 'अम्बेडकर' की रचनाओं के अध्ययन से ही आरम्भ हुआ। संविधान निर्माता अम्बेडकर को पढ़कर उनके जीवन का मानों एक नया अध्याय निर्मित हुआ। यहीं इनके शब्दकोश में 'दलित' शब्द पहली बार जुड़ा। यहीं से 'दलित विचारधारा' और 'चिन्तन' का वास्तविक बीज उनके मन-मस्तिष्क में रोपित हुआ। यहीं पहली बार 'गाँधी' और अम्बेडकर की विचारधारा का अन्तर भी उन्हें ज्ञात हुआ। स्कूलों में दी जाने वाली शिक्षा-व्यवस्था के प्रति भी उनके मन में आक्रोश उत्पन्न हुआ।

रचनाकार ने आगे चलकर प्रेमचन्द की रचनाओं का अध्ययन भी किया और मार्क्सवादी साहित्य का अध्ययन करते हुए गोर्की और चेखव से भी प्रभाव ग्रहण किया। रवीन्द्रनाथ टैगोर, कालिदास से लेकर पास्तरनाक, हेमिंग्वे, विक्टरह्यूगो, पियरे लुई, टॉलस्टॉय, पर्ल एस बक, तुर्गनेव, दॉस्तोएवस्की, रोमरौला, एमिल जोला का भी उन्होंने अध्ययन किया। इन सभी के साहित्य ने रचनाकार के विचार की दिशाओं को और अधिक सशक्तता प्रदान की। मराठी दलित साहित्य से परिचय होने से उनकी अभिव्यक्ति और अधिक सशक्त होकर उभरी। दया पवार, नामदेव ढसाल, राजा ढाले, बाबूराव बागुल, यशवंत मनोहर जैसे विद्योत्त दलित साहित्यकारों द्वारा रचित साहित्य ने उनके लिए साहित्य के मायने बदले और दलित जीवन से जुड़े गंभीर मुद्दों पर उनकी लेखनी ने सशक्त रचनाओं का निर्माण आरम्भ किया।

उन्होंने महाराष्ट्र में विकसित हो रहे 'दलित पैथर' आन्दोलन का भी जिक्र अपनी आत्मकथा में किया है जिसमें मार्क्सवादी और अम्बेडकरवादी विचारधारा को जोड़कर एक नया प्रयोग किया गया था। यद्यपि स्वयं रचनाकार के शब्दों में 'यह प्रयोग बुरी तरह असफल रहा था' परन्तु उन्होंने इसे पारम्परिक साहित्य की तुलना में अधिक जीवन्त व प्रगतिशील माना है।

शैली चिन्तन

आज के समय में वही भाषा सार्थक और जीवन्त है जो अपने युग यथार्थ के साथ अपने समाज की सच्चाई को प्रतिबिम्बित करने में समर्थ हो। दलित साहित्य की भाषा और उसके शिल्प का निर्माण अपने समाज के जीवन संघर्षों से हुआ है इसलिए उनकी भाषा में पारम्परिक साहित्य की बनावट और उसका सौन्दर्यशास्त्र न होकर एक कड़वाहट, तिक्तता है जो अपने लगातार के संघर्षों से उपजी है। भाषा जीवन के अनुभवों की ही अभिव्यक्ति होती है। दलित रचनाकारों ने स्वयं वितृष्णा पूर्ण जिंदगी को भोगा है, चाहे-अनचाहे उस समस्त कर्म में उनकी भागीदारी रही है जो उनके पूर्वजों की जिन्दगी का अहम् हिस्सा था। सवर्ण समाज की उपेक्षा जो उन्होंने लगातार देखी, भोगी और सही है, इसके प्रति आक्रोश और तिलमिलाहट उनके रचना संसार का अंग बनकर आई है। ओम प्रकाश वाल्मीकि स्वयं भी 'चूहड़ा' कही जाने वाली जाति से सम्बद्ध थे और जाति का दंष्ट्र लगातार उन्होंने सहा भी। इसके प्रति आक्रोश उनके शिल्प का मूल स्वर बनकर उभरा है—

'ओ, मेरे अज्ञात अनाम पुरखों
तुम्हारे मूक शब्द जल रहे हैं'

दहकती राख की तरह।
 राख: जो लगातार कांप रही है
 रोज़ से भरी हुई
 मैं जानना चाहता हूँ
 तुम्हारे शब्दखरखरखर!

(बस्स, बहुत हो चुका)

रचनाकार की शैली और चिन्तन प्रक्रिया अपने वर्ग या समूह की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक व धार्मिक विचारधारा से प्रभावित होकर उपजती है। बालक ओम प्रकाशा ने अपने समाज के भीतर भी भूत-प्रेत पकड़ने के नाम पर चलाए जाने वाले जिस वितंडावाद का प्रचार देखा, उससे उनकी आस्था और भय दोनों समाप्त हो गए। हाशिये के समाज से जुड़ी विचारधारा ने उनके शिल्प को नए तेवर दिए, अम्बेडकर के विचार दर्शन का परिचय हुआ और सामाजिक बदलाव की प्रेरणा मिली। शिल्प के ये नये तेवर उन्हें पारम्परिक व्यवस्था को जीर्ण-शीर्ण कर देने के लिए प्रेरित करते हैं और अमानवीय व्यवहार की निंदा करते हुए उनके भीतर का विद्रोह रचना में स्पष्ट दिखाई देने लगता है -

मेरी पिंडलियों
 और भुजाओं के मांस से बनी
 हड्डियों को निचोड़कर
 निकाला गया है तेल
 किन्तु इतना याद रखो
 जिस रोज़ इन्कार कर दिया
 दिया बनने से मेरे जिस्म ने
 अंधेरे में खो जाओगे
 हमेष्ठा-हमेष्ठा के लिए

दलित साहित्य की भाँति ही इनके साहित्य में कहीं भी वह शिल्पगत चमत्कार नहीं मिलता जिसके सिद्धांत बहुत पहले से गढ़े जा चुके थे। बल्कि जीवन के विसंगति भरे सत्य की सीधी सपाट पर चीर देने वाली अभिव्यक्ति मिलती है। परिवेष्टागत संस्कार को मानने अथवा न मानने का अन्तर्द्वन्द्व, शिक्षामन्दिर में मिला तिरस्कार, जातिगत अवमानना के कारण उत्पन्न क्रोध और आवेष्टा ने मिलकर उनकी रचनाधर्मिता को एक शक्ति प्रदान की है जो उनके शैली पक्ष में भी सर्वत्र देखी जा सकती है : यथा-“दलितों-गैर दलितों की बीच यह घृणा की खाई लगातार बढ़ी है जिसे पाटने का इरादा कहीं दिखाई नहीं पड़ा। जब दलित अपनी अस्मिता के लिए उठकर खड़ा होता है तो उसपर जातिवादी होने का आरोप लगा दिया जाता है। यह एक चाल है परंपरावादियों और यथास्थिति बनाए रखने वालों की...।”

बेहद सपाट-सीधी पर समूह-समाज की सच्चाई से युक्त भाज़ा उनके समस्त साहित्य में देखी जा सकती है।

रचना का सार

ओम प्रकाशा वाल्मीकि द्वारा रचित ‘जूठन’ एक महत्वपूर्ण आत्मकथा है जो दलित जीवन की पीड़ा और पक्षपातपूर्ण सामाजिक व्यवस्था की कलाई खोलती है।

इस रचना का आरम्भ करते हुए ‘लेखक की ओर सेखर’ अपनी दुविधाओं की सूचना दी गई है। “इन अनुभवों को लिखने के कई प्रकार के खतरे थे। एक लम्बी जद्दोजहद के बाद मैंने सिलसिलेवार लिखना आरम्भ किया। तमाम कष्टों, यातनाओं, उपेक्षाओं, प्रताड़नाओं को एक बार फिर जीना पड़ा। कुछ लोगों को यह अविष्टवसनीय और अतिरंजनापूर्ण लगता है।”

इस जद्दोजहद के बाद लेखक ने अपने आरम्भिक जीवन का पहला चित्र एक ओर ‘तगाओं’ (त्यागियों) अर्थात् सवर्णों और दूसरी ओर चूहड़ों अर्थात् निम्नजाति के तुलनात्मक रूप का प्रस्तुत किया है। वर्ण व्यवस्था को

आदर्श मानने वालों के समक्ष वह स्पष्ट चुनौती देते हैं कि इस गंदगी के माहौल में चार दिन रहकर भी यदि उनकी सोच वर्णवाद के पक्ष में रह सके, तो वर्णवादी व्यवस्था स्वीकार्य है परन्तु वास्तव में बड़ी-बड़ी बातें करना और दूसरी ओर स्वयं उस माहौल में रहकर भोगना दोनों भिन्न हैं। रचनाकार ने स्वयं उस गंदगी भरे माहौल में रहकर भी शिक्षा प्राप्त करने का दुस्साहस किया जिसका भुगतान उसे विद्यालय के वर्णवादी माहौल में करना पड़ा।

अध्यापकों की विचारधारा ही वर्णवादी न थी बल्कि उसे पूरे साहस के साथ सभी के सामने व्यक्त करने में वे मर्दानगी का अनुभव भी करते थे। तिस पर फसलों की कटाई के समय मजदूरी न देना, छाादी-ब्याह के अवसर पर लोगों की जूठी पत्तलों की उतरन मिलना, घर के हालातों के बीच बार-बार पढ़ाई का छूटना, कक्षा में प्रथम आने के बाद भी 'जाति' के कारण सांस्कृतिक गतिविधियों से दूर रखा जाना, पीने के पानी को छूने की मनाही और इस बीच भी कहीं न कहीं साहित्य के संस्कारों की जागृति, भंगी मोहल्ले के लोगों की सूअर खाने के कारण होने वाली बेइज्जती और वहीं तगाओं (त्यागियों) का छुप-छुपकर सूअर खाने के लिए आना आदि अनेक घटनाएँ ऐसी हैं जो वर्णवादी शोचक समाज के मुख से नकाब खींचकर उसे नग्न कर देती हैं।

बरसात में होने वाले फाके, द्रोणाचार्य की गरीबी को सुनकर बालक ओम प्रकाश का अपनी गरीबी के सम्बन्ध में प्रश्न करना और बदले में अध्यापक द्वारा छड़ी से रचनाकार की पीठ पर महाकाव्य रचा जाना "वह महाकाव्य आज भी मेरी पीठ पर अंकित है", भूत प्रेतों की छायाओं की घटना, हिन्दू देवी-देवताओं से अलग देवों की परिकल्पना, निम्न जाति में 'सलाम' की परम्परा, जो वर्णवादी व्यवस्था को और अधिक पुष्ट करती है का उल्लेख, मरने वाले पशु को उठाना, काटना और बदले में मिलने वाली गालियाँ आदि ऐसे वर्णन हैं जिसे पढ़कर और सुनकर सिर धर्म से झुक जाता है और आश्चर्य होता है कि हम आज भी ऐसे समाज में साँस लेते हैं और सभ्य होने का दावा करते हैं।

यद्यपि रचना में अनेक स्थानों पर बार-बार एक आलोचक की अत्यधिक प्रशंसा खटकती भी है परन्तु मूलतः यह रचना निम्न वर्ग की पीड़ा और उसके उचित आक्रोश को मुखरित करने का कार्य करती है।

रचनाकार बार-बार लिखता है कि 'जाति के नाम पर मिलने वाली खरोंचों के चिह्न' दूर होना संभव नहीं है। धीरे-धीरे रचनाकारों से होने वाला परिचय, विभिन्न विद्वानों की रचनाओं का पाठ, अम्बेडकर की विचारधारा का प्रभाव और अम्बेडकर की रचनाओं से घनिष्ठता ने रचनाकार को 'दलित' शब्द से परिचित कराया। जिस वर्ग व जाति से लेखक स्वयं सम्बद्ध थे। उसकी पीड़ा और कड़ों के पीछे छिपी व्यवस्था के क्रूर रूप का परिचय भी अब उन्हें मिला। इस रचना की अधिकाधिक घटनाएँ वर्चस्ववादी सोच के विरोध के रूप में व्यक्त हुई हैं।

रचनाकार को निराशा है तो इस बात से कि सोच में बदलाव अभी तक नहीं आया। युग बीत गए, कहने भर को समय भी बदल गया परन्तु फिर भी 'जाति' को पार कर योग्यता को स्वीकारने की पद्धति का आज तक विकास न हो सका।

रचना का प्रतिपाद्य

यह रचना जातिगत मान-अपमान के प्रश्नों पर विचार करती हुई व्यक्ति की योग्यता के अवमूल्यन को अंकित करती है। भारतीय समाज जहाँ अनेकता में एकता का दावा करता है वहाँ एकता के भीतर ऐसी घुटन भरी अनेकता विद्यमान है जिसमें सदियों से एक वर्ग श्वास लेने में भी तकलीफ का अनुभव करता रहा है। **मानवता का दावा करने वाले देष्ट्र में मानव-मानव के मध्य का यह अन्तर अत्यन्त वीभत्स और घृणित रूप में विद्यमान है।** इस रचना में रचनाकार ने व्यक्तिगत अनुभवों के अनेक उदाहरणों के माध्यम से सामूहिक पीड़ा का अंकन किया है। यह रचना सभ्य कहे जाने वाले समाज पर प्रश्न चिह्न लगाती है और सभ्य होने के समस्त दावों को खोखला साबित करती है।

'जूठन' मात्र एक रचना या आत्मकथा नहीं है बल्कि लोगों की मानसिकता की कलई खोलती अनेक घटनाओं का संग्रह है। जिसमें आर्थिक, सामाजिक, वर्गीय स्तर पर होने वाले संघर्ष की झलक मिलती है। एक ओर निम्नवर्गीय समाज में शोचण को सहज मानकर स्वीकार करने की प्रवृत्ति मिलती है जहाँ शोचण को उचित मान लिया गया है वहीं दूसरी ओर इसी वर्ग के एक छोटे से हिस्से में चेतना की जो जागृति हो रही है, वह भी तथाकथित उच्च वर्ग को स्वीकार नहीं है।

सामन्तवादी चेतना का विरोध यह रचना समूह के स्तर पर करती है। दूसरों को दास समझने की प्रवृत्ति का यहाँ निजेध है। हाशिये के लोगों की स्थिति पर विचार करने वाले एक प्रमुख अलोचक विभूति नारायण राय वर्णव्यवस्था पर व्यंग्य करते हुए 'आलोचना' नामक पत्रिका में कहते हैं - "यह वर्ण व्यवस्था हमें किस तरह से एक सभ्य समाज बनने से रोकती है, उसे समझना जरूरी है। इस व्यवस्था के तहत जो संस्थाएँ बनी, उन्होंने कई तरह से हमें प्रभावित किया। इसने पहले तो हमें अपने बीच के अधिसंख्य लोगों को पशुओं से बदतर मानने के लिए प्रेरित किया। समाज का बहुलांश गृह्य है। जो गृह्य नहीं है उनकी भी आधी संख्या स्त्रियों की है। वर्णव्यवस्था इन सभी को मनुज्य के नीचे की योनि का बनाती है।"

मनुज्य को मनुज्य से नीचे समझा जाने की मानसिकता के प्रति विरोध यह रचना दर्ज कराती है। इस रचना में तीन घटनाओं के माध्यम से ब्राह्मणवादी मानसिकता के प्रति विरोध को समझा जा सकता है—

1. 'सलाम' के लिए विवाह के पष्ठचात् प्रत्येक घर के आगे जाने की प्रथा
2. 'जूठन' उठाने की घटना
3. एक ब्राह्मण युवा लड़की व दलित युवक के 'प्रेम' के मध्य पनपते जातिगत विद्वेज की घटना।

दलित समाज की निगाह में सम्पूर्ण भारतीय समाज दोजी है। कहीं-न-कहीं सम्पूर्ण व्यवस्था में फैले संस्कारों ने शिक्षित-अशिक्षित सभी को वर्गीय दृष्टि प्रदान की है। अर्थ जगत का अन्तर हमें इतना छिन्न-भिन्न नहीं करता जितना जातिगत अन्तर। 'सलाम' की प्रथा जातिगतहीनता बोध को भीतर तक रोप देने की ही प्रथा है। विवाह के पष्ठचात् दूल्हा-दूल्हन को सभी बड़े घरों में सामान माँगने के लिए जाना होता था। निम्न जातियों में यह प्रथा आज भी प्रचलित है। इस प्रथा के पाष्ठर्व में रचनाकार के ही शब्दों में 'जातिय अहम की पराकाष्ठ' दिखलाई देती है। शिक्षा प्राप्त करने के समय ही उन्होंने इस प्रथा का विरोध आरम्भ कर दिया था।

दूसरी घटना 'जूठन' एकत्र करने की है। रचनाकार की माँ तगाओं के घर से जूठन एकत्र करने जाती थी। एक बार जूठी पत्तलों को एकत्र करते हुए रचनाकार की माँ ने अपने बच्चों के लिए एक पत्तल साफ भोजन की माँग करली ऐसे में चौधरी के कहे शब्द "...अपनी औकात में रह चूहड़ी। उठा टोकरा दरवाजे से और चलती बन...!" रचनाकार की माँ की आँखों में बेबसी बनकर उतर गए पर उसके बाद कभी उसने 'जूठन' एकत्र नहीं की।

तीसरी घटना एक ब्राह्मण परिवार द्वारा 'वाल्मीकि' उपनाम से रचनाकार को ब्राह्मण समझकर अपनाने की है। यहाँ रचनाकार ने प्रेम जैसी आन्तरिक अनुभूति को भी बौद्धिकता, विचारात्मकता से परखा है। शायद इसकी पृष्ठभूमि में वे सारी कटु अनुभूतियाँ विद्यमान रही होंगी जहाँ ऊँची जातियों से सिर्फ और सिर्फ अपमान ही उन्हें मिलता रहा। इसीलिए रचनाकार सविता को न सिर्फ अपनी जाति के बारे में स्पष्ट सूचना दे देता है बल्कि उसी क्षण उसे छोड़कर भी चल देता है क्योंकि वह जानता है कि 'पढ़ लिख कर जाति नहीं सुधरती। जाति सुधरती है जन्म से'।

यह तीनों घटनाएँ रचना के प्रतिपाद्य को स्पष्ट कर देती है। रचना वर्णवादी मानसिकता का प्रतिरोध करती है, संघर्ष करती है और दलित जीवन की व्यथाकथा के भीतर छिपे आक्रोश को आकार देती है।

प्रासंगिकता

कोई भी रचना अपने युग व समाज से जुड़कर ही प्रासंगिकता बन पाती है। आज का समय हाशिये पर डाल दिए गए लोगों की आवाज का है। जिस वर्ग को दासत्व की परिधि में बाँधकर युगों-युगों से अनसुना किया गया है, उस वर्ग ने अब आक्रोश प्रकट करना आरम्भ कर दिया है।

भारतीय समाज मनुवादी व्यवस्था का समर्थक रहा है जहाँ विष्णु के शरीर के विविध अंगों से उत्पन्न समाज के चौथे अंग को 'अस्पृश्य' 'अछूत' या बहिष्कृत मान लिया गया है। शहरों में तो फिर भी यह स्थिति किसी हद तक ढकी-छिपी है परन्तु गाँवों में तो अत्यन्त नारकीय जीवन जीने के लिए यह वर्ग विष्टोन्न रूप से बाध्य है। डॉ. अम्बेडकर ने दलितों को जीवन जीने के लिए सही विचारधारा तो प्रदान की परन्तु अभी भी दलितों के जीवन में सकारात्मक-गुणात्मक परिवर्तन दिखाई नहीं देता। ऐसे में यह रचना दलित जीवन का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करती है और हमें सोचने के लिए बाध्य करती है।

दलित जीवन पर आज के युग में अनेक रचनाएँ लिखी जा रही हैं- विधेयकर आत्मकथाएँ। यह आत्मकथाएँ कहीं-न-कहीं एक दूसरे से सम्बद्ध भी हैं क्योंकि एक विधेय वर्ग से आने वाले प्रायः सभी रचनाकारों ने सामाजिक व्यवस्था के दंष्ट्र को अनुभव किया है। इस दृष्टि से भी यह रचना प्रासंगिक है कि यह मात्र पीड़ा के चित्र ही प्रस्तुत नहीं करती बल्कि अनेक प्रष्ठनों की बौछार करके अपने विद्रोह को भी लगातार बढ़ती हुई प्रतिरोध क्षमता के साथ ब्राह्मणवादी वर्चस्व को नकारने सम्बन्धी अनेक घटनाएँ भी इसमें समानान्तर रूप से विद्यमान हैं।

यह रचना भी दलित साहित्य की अन्य रचनाओं की भाँति समाज में आमूलचूल परिवर्तन की माँग करती है। वातावरण और परिवेष्टा की समानता की माँग करती है, अमानवीयता के प्रति विरोध दर्शाती है और सनातन माने जाने वाले हिन्दू धर्म पर पुनर्विचार के लिए बाध्य करती है। यद्यपि रचना में आक्रोष के स्वर हर जगह मिलते हैं पर यह भी सत्य है कि बार-बार किया गया अमानवीय व्यवहार आक्रोष जगाने में सहायक होता है। आक्रोष और व्यथा से भरी यह कथा पीड़ितों और दलितों की पक्षधर होने के नाते सदैव प्रासंगिक मानी जा सकती है।

समीक्षा, भाजा श्रैली-

दलित साहित्य की संवेदना को उद्घाटित करने वाली भाजा का निर्माण अनुभवों की आँच से हुआ है इसलिए इनकी भाजा में एक ऐसी आग दिखाई देती है जो सब कुछ जलाकर राख करने की शक्ति रखती है। इनका उद्देश्य भी है- ऐसी व्यवस्था को समाप्त कर देना जिसने एक वर्ग को सदैव शोषित बनाए रखा, वह भी बिना किसी संकोच या झिझक के।

सत्यशोधक समाज की नींव रखने वाले ज्योतिबाफुले ने कहा था- गुलामी की यातना को जो सहता है वही जानता है और जो जानता है वही पूरा सच कह सकता है। सचमुच राख ही जानती है जलने का अनुभव और कोई नहीं।”

ओम प्रकाश वाल्मीकि की आत्मकथा की भाजा अपने समाज के लोगों के बीच से उपजी है, सत्यानुभवों की जमीन पर टिकी है इसलिए अधिक व्यंग्यात्मक, कठोर और अश्लिष्टता की हद तक क्रूर होकर उभरी है यथा- “अबे चूहड़े केख आजाख दो अच्छर क्या पढ़ लिए, सोहरे का दिमाग चढ़ गया हैख अबे औकात मत भूल...”।

दलित साहित्यकार अपनी भाजा का चुनाव परम्परागत शब्दों या काव्य-शिल्प के द्वारा नहीं करता बल्कि नए प्रतीकों का चुनाव करता है। यही कारण है कि अनेक बार इनकी भाजा पर अश्लीलता का आरोप भी लगता है परन्तु सत्य यह है कि इस साहित्य की भाजा को श्लीलता-अश्लीलता के दायरे से बाहर रखकर देखना होगा। यहाँ उद्देश्य चीजों को पूजने या ढँकने-छिपाने का न होकर उसे राई-रेष्टो से उधेड़कर देखने का है। बहिष्कृतों, अछूतों की वेदना, उनके संत्रास, उनके अपमान को व्यक्त करती यह भाजा देखने में उबड़-खाबड़ लग सकती है पर इसमें अत्यन्त मारक क्षमता विद्यमान है।

“हेडमास्टर ने लपककर मेरी गर्दन दबोच ली। उनकी उंगलियों का दबाव मेरी गर्दन पर बढ़ रहा था। जैसे कोई भेड़िया बकरी के बच्चे को दबोचकर उठा लेता है। कक्षा से बाहर खींचकर उसने मुझे बरामदे में ला पटका। चीखकर बोले “जा लगा पूरे मैदान में झाड़ूख नहीं तोख”

भाजा जीवन की वास्तविकता का ही चित्र होती है। दलित साहित्य के महत्त्वपूर्ण आलोचक डॉ. विमल थोराट के अनुसारख “इन्कार की भाजा का तेवर और उसकी तस्वीर झकझोर देने वाली है। इसलिए संस्कृतनिष्ठ और शालीनता का दंभ भरने वाली भाजा, काव्यश्रैली और प्रस्तुति के नकलीपन को दूर फेंककर दलित साहित्य की भाजा यथार्थवादी अभिव्यक्ति के द्वारा दलितों की व्यथा, अपमान, युगों-युगों की यातनाओं को अभिव्यक्त करने के लिए विद्रोहात्मक और नकारात्मक श्रैली को अपनाते हैंख” (साखी-पत्रिका)

यथार्थवाद से उपजी और विद्रोह के तेवर से युक्त विचारप्रधान भाजा ‘जूठन’ की निजी विधेयता भी मानी जा सकती है।

रचना का भारतीय साहित्य में महत्त्व

‘जूठन’ प्रगतिशील कहे जाने वाले भारतीय समाज के भीतर पनप रही उपेक्षाओं, प्रताड़नाओं का प्रामाणिक दस्तावेज है। रचनाकार ने अपनी समस्त यंत्रणाओं को एक बार फिर मानसिक स्तर पर सहा और आत्मकथा के

रूप में सभी के समक्ष इन यातनाओं को साकार किया। व्यक्तिगत जीवन की पीड़ा को अत्यन्त विष्टलेज्जणात्मक ढंग से समूह की पीड़ा के रूप में व्यक्त करके रचनाकार ने अपनी रचना-परिधि का विस्तार किया है।

यह रचना पूरे समाज की पीड़ा का ऐतिहासिक दस्तावेज है। विचार प्रधान शैली में समाज के प्रत्येक अंग का महत्त्व दर्शाते हुए उन्होंने गैर दलित समाज के समक्ष अनेक प्रश्न रखे हैं। दलित जीवन की त्रासदी के मूल में छिपे जातिगत और आर्थिक कारणों को उन्होंने बेबाकी से प्रस्तुत किया है। पूरी रचना में उनकी छटपटाहट और बेचैनी अपने समाज को बेहतर बनाने को लेकर है। इस निर्माण की प्रक्रिया में बहुत कुछ छूटा और टूटा भी गया है पर रचनाकार का यह विष्टवास दृढ़ से दृढ़तर होता दिखाई देता है कि भले ही उसे नीच माना जाए परन्तु वह अभिव्यक्ति के समस्त खतरे उठाकर भी अनुचित का विरोध करने से पीछे नहीं हटेगा। ऐसे विष्टवास और श्रम तथा कर्म की शक्ति के महत्त्व की स्थापना की दृष्टि से इस रचना का विष्टेज्ज महत्त्व है।

16. लोकगीत (सीताकांत महापात्र)

डॉ. सरला चौधरी
रीडर, हिन्दी-विभाग,
मैत्रेयी कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय

श्री सीताकांत महापात्र आधुनिक उड़िया साहित्य के एक प्रमुख कवि हैं। वे उड़िया और अंग्रेजी दोनों में लिखते रहे हैं। सन् 1975-77 में उड़ीसा की आदिवासी जनजातियों के आधुनिकीकरण के अध्ययन के लिए उनको 'होमी भाभा फेलोशिप' प्राप्त हुई। वे उड़ीसा सरकार के अन्तर्गत गृह आयुक्त के पद पर कार्यरत रहे। वे भारत सरकार के कल्चरल सेक्रेटरी के पद पर भी नियुक्त किए गए थे। सन् 1994 से 1996 तक यूनेस्को (UNESCO) के सांस्कृतिक विकास कार्यक्रम के अध्यक्ष पर आसीन रहे। सीताकांत महापात्र नेष्टानल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली के अध्यक्ष भी रह चुके हैं। इंटरनेष्टानल हू इज हू इन पोट्री एंथालॉजी में उन्हें भी स्थान मिला है।

उड़िया कविता में श्री सीताकांत महापात्र की एक अलग ही पहचान है। इनकी प्रमुख कृष्टतियाँ हैं—विन्न आकास; विन्न दीप्ति (एक अलग आकाष्टा : एक अलग दीप्ति), द कर्व ऑफ मीनिंग, एसेज ऑन उड़िया लिट्रेचर तथा रिचर्स ऑफ इन्टिमेसी। इन रचनाओं में कवि और आलोचक के रूप में अपनी ज्ञान-विविधता और व्यापक संवेदन-क्षमता का परिचय देते हैं। यह आलोचना के क्षेत्र में बेजोड़ है।

उनकी महत्त्वपूर्ण विष्टेज्जता यह है कि उन्होंने उड़िया-साहित्य को पाष्टचात्य प्रभाव से मुक्त रखा और उसे सर्जनात्मक लेखन की मूल समस्याओं से जोड़ने का संतुलित तथा व्यवस्थित प्रयास किया। सर्जनात्मकता के अनेक पहलुओं के अध्ययन के लिए अपनाए गए दृष्टिकोणों में उनका निजी स्वर सबसे महत्त्वपूर्ण है।

स्वातंत्र्योत्तर काल में उड़िया कविता में नई कविता का उदय हुआ जिसने 'रमाकान्त रथ' तथा 'सीताकान्त महापात्र' जैसे कवियों को प्रेरित किया। सीताकान्त महापात्र के काव्य में मष्ट्यु, पीड़ा, निराष्टा के भाव प्रधान हैं परन्तु उनकी काव्यात्मक कल्पना और सूझबूझ नए पहलुओं की दिष्टा पकड़ती है और अन्त में मष्ट्यु पर विजय पा लेती है।

उनके प्रसिद्ध काव्य-संग्रह हैं—दीप्ति औ द्युति (1963), अज्ठपदी (आठ कदम 1967), सब्दार आकास (छाब्दों का आकाशा 1971), समुद्र (1977), और चित्रनदी (1979)। अपनी काव्य प्रतिभा के कारण सीताकान्त महापात्र 1974 में साहित्य-अकादमी पुरस्कार, 1971 और 1984 में उड़ीसा साहित्य पुरस्कार, 1985 में सरला पुरस्कार और 1993 में 'ज्ञानपीठ पुरस्कार' से सम्मानित किए गए। वे 'भुवनेश्वर रिव्यू' अंग्रेजी पत्रिकी के सम्पादक भी रहे। उनकी कविताओं का अनुवाद फ्रेंच, जर्मन तथा कई भारतीय भाषाओं में भी हुआ है।

आधुनिक जीवानानुभूति के बौद्धिक काव्य-चित्र प्रस्तुत करने में वे सिद्धहस्त हैं। आधुनिक जीवन की आघात, आकांक्षा, पीड़ा, संताप आदि का चित्रण इनकी रचनाओं में हुआ है। भाषा में प्रांजलता तथा शैली में सहज अबाध गति मिलती है। उनकी कवि-दृष्टि अंतर्मुखी है। सीताकान्त महापात्र का आधुनिक कवि के रूप में गौरवपूर्ण स्थान है।

पाठ्यक्रम में निर्धारित 'संथाली' और 'हो' लोकगीत को समझने के लिए हमें उड़िया के जनजाति और 'लोकगीत' की पृष्ठभूमि पर विहंगम दृष्टि डालनी होगी।

उड़ीसा में आज भी एक चौथाई जनसंख्या संथाल, भुयों, कोया, पराजा, गाधा, कोंध, जुआग, कोल, सारा, गोड, बोंडा आदि 62 जनजाति समूहों से हैं। इनमें से कुछ इतने पिछड़े हुए हैं कि वे अब भी अविकसित आदिम परिस्थितियों में रहते हैं। सांस्कृतिक विकास की दृष्टि से वे अलग-अलग अवस्थाओं में हैं। अधिकांश जनजातियों की अपनी लिपि भी नहीं है। इसलिए उनका साहित्य अधिकतर मौखिक है और गाने की परम्परा के माध्यम से उसे कायम रखा जाता है। आधुनिकीकरण के फलस्वरूप उत्पन्न सामाजिक-आर्थिक परिवर्तनों के कारण इस परम्परा के गीतों और कथाओं में परिवर्तन और विकार दोनों उत्पन्न हुए।

बालासोर जिले के कलेक्टर जॉन बीम्स ने 1868 में इस प्रकार की लोकगाथा के संग्रह की पहल की। ज्ञानपीठ विजेता गोपीनाथ मोहन्ती और सीताकान्त महापात्र ने जनजातियों की लोकगाथाओं के संग्रह का कार्य जारी रखा। सीताकान्त महापात्र ने मुण्डा, ओराओं, संथाल, कोंध और पराजा जनजातियों के मौखिक काव्य के अनुवाद के पाँच भागों (Volumes) का संपादन किया।

उड़िया लोकसाहित्य को चार वर्गों में बांटा जा सकता है—(1) लोकगीत जिसमें लोकगाथा, व्यवसाय सम्बन्धी गीत, बालगीत आदि शामिल हैं। (2) लोककथा-कहानी, (3) प्रवचन लोकोक्ति आदि (4) लोक नाटक। लोक कथाएँ और लोकगीत विभिन्न प्रसंगों और अवसरों पर अनेक तरीकों से गाई और सुनाई जाती हैं। यह विविधता सुनाने वाले, सुनने वाले, समय व स्थान के अनुसार तय होती है। सुनाने वालों में पेष्ठोवर और घरेलू दोनों तरह के लोग होते हैं जैसे गायक, सांस्कृतिक मडलियाँ, दादी, माँ, ताई आदि। ये लोकगीत किसी व्यक्ति-विशेष की धरोहर नहीं होते। लोकगीत का मुख्य भाव सामूहिक चेतना से प्रेरित होता है। ये गीत जीवन के सभी पहलुओं से जुड़े होते हैं जैसे किसान, मल्लाह, मजदूर, पालकी उठाने वाले, घास काटने वाले घसियारे, चरवाहे, लकड़हारे आदि। दैनिक अनुभव ही लोकगीत का मूल तत्त्व हैं। उनके सांस्कृतिक, सामाजिक व्यवहार और प्रथाओं से लोकगीत जुड़े होते हैं। ये गीत मौखिक परम्परा से जुड़े हैं। गायक को लोकगीत रचयिता के बारे में पता नहीं होता। वह वाद्य यंत्र के साथ या उसके बिना ही अकेला गाता रहता है। वह समूह में भी ऐसे लोकगीतों को गाता है। पिछले कई दशकों में विभिन्न विद्वानों ने इनकी मौखिक कविता और कहानियों/कथाओं के दस्तावेज बनाने का प्रयास किया है।

'संथाल' और 'हो' दोनों ही पूर्वी भारत की जनजातियाँ हैं जो मुख्यतः बिहार, उड़ीसा और पश्चिम बंगाल में पाई जाती हैं। वे मुंडा परिवार की भाषा बोलती है संथाल और मुण्डा जनजातियों का साहित्य अपने आप में अत्यन्त सम्पन्न है। सीताकान्त महापात्र का भी इस साहित्य को समृद्ध बनाने में महत्वपूर्ण योगदान रहा है। उड़िया परम्परा और उड़िया मानसिकता से वे भली-भाँति परिचित हैं। उनकी कविताओं में उड़िया समाज की सादगी, सरलता, निष्ठलता और भावुकता का सजीव वर्णन है। 'संथाली' लोकगीत इसका उत्कृष्ट उदाहरण है। इस लोकगीत में कवि ने आदिवासी जनजाति की परम्परा और विश्वास को अत्यन्त सरल भाषा में प्रस्तुत करते हुए संथाली परिवार की मानसिकता को स्पष्ट किया है।

संथाली परिवार में संतान का जन्म होने वाला है, घर में नया मेहमान आने वाला है। अगर घर में बेटी हुई तो वह घर में होने वाले काम के लिए कम-से-कम पानी तो भर ही लाएगी। उस छीतल पानी से पैर धोकर थकावट तो दूर कर ही लेंगे। यदि बेटा होगा तो वह पिता की अस्थियों को दामोदर नदी में प्रवाहित करके मानो हमारे जीवन को पार लगा देगा। इस लोकगीत में आदिवासी परिवार में पुत्र के महत्त्व को दर्शाया है। परिवार में पुत्र की क्या भूमिका है, कितना महत्त्व है इस तथ्य की ओर संकेत किया है **साथ ही यह गीत रोजमर्रा की जिंदगी में स्त्रियों के योगदान को रेखांकित करता है, समाज की मानसिकता को दर्शाता है। भारतीय-संस्कृति में भी पुत्र को पितृ-मोक्ष का दाता कहा गया है।**

‘हो’ लोकगीत भी आदिवासी जनजाति के लोक-विष्णवास, लोक-जीवन की आनन्द चेतना और उनकी संस्कृति में निहित पितृ-पूजा के उत्सव भाव का प्रतीक है। सरल आदिवासी अपने पितरों (मष्टत पूर्वज) को भी दिन-रात आंधी-तूफान में क्यों भटक रहे हो। चट्टानों पर इतनी तेज तपती धूप है तथा सघन-गहन वन में मूसलाधार वर्षा हो रही है। इन सबसे बचने के लिए तुम हमारे पास वापिस लौट आओ और हमारी छोटी-सी भेंट स्वीकार कर लो। भेंट रूप में होगा-एक मीट का टुकड़ा, एक कटोरी भात और मिट्टी के बर्तन में बनी हुई शराब (**ये वस्तुएँ उनके खान-पान की ओर संकेत करती हैं।**) तुम हमारी परम्परा और खुशियों में शामिल होकर धूमधाम से त्योहार मनाओ।

वस्तुतः **ये दोनों लोकगीत जीवन और मष्ट्यु दोनों के उत्सव और उनसे जुड़े सामुदायिक अनुष्ठानों को दर्शाते हैं।** आदिवासी परिवार में पुत्र के विषेज महत्त्व को बताना और पारिवारिक मंगल हेतु पूर्वजों को संतुष्ट करना इन गीतों का मूल अभीष्ट है।

प्रासंगिकता

प्रत्येक समाज का जीवन, उसका रहन-सहन, उसका चिंतन, उसके आदर्श एवं जीवन-मूल्य और उसका समस्त परिवेष्टा-सामाजिक, बौद्धिक तथा नैतिक-संस्कृति की सीमा के अंतर्गत आते हैं। आदिवासी जनजाति ने भी अपनी परम्परा, आदर्श एवं जीवन-मूल्यों को संभालकर रखा है और भारतीयता की पहचान को बनाए रखा है भले ही उनके पास आधुनिक संसाधनों की कमी है। संस्कृति परम्परा से प्राप्त होती है और नित नए-नए अनुभवों से युक्त होकर अपना संवर्द्धन करती चलती है। समय बदल रहा है, दृष्टिकोण बदल रहे हैं। सामाजिक परिवर्तनशीलता की आवश्यकता है।

सीताकांत महापात्र का लोकगीत ‘सथाली’ भी स्त्री-पुरुष विमर्ष के संदर्भ में प्रासंगिक है। मानवीय अधिकारों में स्त्री और पुरुष समान है। किन्तु फिर भी यथार्थ में एक असमानता और व्यवहार में विजमता विद्यमान है। इस स्त्री विमर्ष में न्याय, समानता और खुलापन लाना होगा। स्त्री स्वतंत्र होकर कहीं पुनः दूसरी प्रकार की परतंत्रता और प्रताड़ना की बेड़ियों में न जकड़ी जाएँ। स्त्री ही घर की चार-दीवारी में रहकर घर के काम में क्यों झुकी रहे। क्या यही उसकी अस्मिता है, पहचान है मानुजी को मानुजी रूप में समकक्ष सम्मान से देखने की आदत अब पुरुष को डालनी होगी। शिशु-बालिकाओं की भ्रूण हत्याएँ भी नारी-अस्तित्व के खतरे का सूचक है। यह सब भावी, खतरे की घंटी की ओर संकेत करता है, स्वार्थ-केन्द्रित अपसंस्कृति को रेखांकित करता है। प्राचीन समय में स्त्री-पुरुष का अनुपात आज के समय की तरह चिंताजनक नहीं था। इसलिए तरुण और किशोर पीढ़ी को शालीन संस्कार देने के लिए सरकार और शिक्षाविदों को सचेत करना होगा। संस्कृतियों के मूल में स्त्री-पुरुष विमर्ष अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

सीताकांत महापात्र का ‘हो’ लोकगीत भी **संयुक्त परिवार के विघटन के संदर्भ में कम अप्रासंगिक नहीं।** एकल परिवार संयुक्त परिवार पर हावी हो रहे हैं। संयुक्त परिवार की संस्कृति समाप्त हो चुकी है। मान-मर्यादाओं का क्षय हो रहा है, सोच का तरीका बदल गया है। पापुलर कल्चर को न अपनाने वाला व्यक्ति असंस्कृत या अनकल्चर्ड नहीं माना जाता, हाँ उसे ‘आउट ऑफ फैशन’ की कोटि में रखा जा सकता है। आज की भौतिकता की चकाचौंध में अपने से बड़ों के लिए श्रद्धा का श्राद्ध वर्ज में एक बार नहीं अपितु प्रतिदिन पग-पग पर होता है। श्राद्ध का अर्थ है पूर्वजों के प्रति श्रद्धा। हमें बड़ों के प्रति आदर का भाव रखना चाहिए। **श्राद्ध को दिखावे और आडम्बर**

से दूर रखकर माता-पिता के प्रति आदर और श्रद्धा का भाव रखना ही श्रद्धा की सार्थकता है। संस्कृति अपनी मौलिक विद्योन्नता खो रही है। जीवन शैली में सामाजिकता का लोप हो रहा है और स्वार्थ-केन्द्रित व्यक्तिवाद पनप रहा है। इस मानसिकता में परिवर्तन लाना होगा। उत्तरवर्ती पीढ़ी पूर्ववर्ती पीढ़ी की सोच को बेकार कह तिरस्कार न करे। आवश्यकता इस बात की है कि दोनों पीढ़ियों में एक तार्किक संगति और समझ बननी चाहिए। यह अवश्यभावी है कि जो व्यक्ति अपने माँ-बाप और आचार्य को आदर, सम्मान नहीं दे पाता, कल वह भी इस आदर से वंचित होगा।

शब्दार्थ-बोध-

अस्थियाँ—हड्डियाँ, **दामोदर**—पवित्र दामोदर नदी का नाम, **बोटी**—माँस का एक टुकड़ा, **हाँड़ी**—मिट्टी का बर्तन, **माह**—वर्जा, **सघन**—घना।